श्री गुरुजी समग्र
खंड
१
CC-0. Nanaji Deshmukh Library, BJP, Jammu. Digitized by eGangotri

खंड १ : आदरांजलि

श्री गुरुजी का जीवन पट और महापुरुषों को दी गई श्रद्धांजलि।

खंड २ : संघ मंथन

प्रतिबंध के बाद नागपुर व उत्तरप्रदेश में दिए भाषण। सिंदी, इंदौर व ठाणे की चिंतन बैठकों में दिये गए भाषण।

खंड ३ : प्रबोधन

कार्यकर्ताओं को दिशादर्शन, बैठकें, प्रेरक पाथेय और कार्यक्रमों में दिए उद्‌बोधन।

खंड ४ : प्रशिक्षण

संघ शिक्षा वर्गों में १९३८ से १९७२ तक के बौद्धिक।

खंड ५ : समाजोद्‌बोधन

विविध संस्थाओं में दिए भाषण, विजयादशमी के बौद्धिक, उत्सवों पर दिए बौद्धिक।

खंड ६ : लेखन-कार्य

लेख, संस्थाओं की अभ्यागत–पुस्तिकाओं में अंकित अभिप्राय, पुस्तकों के लिए लिखी प्रस्तावनाएँ, छात्रकालीन पत्र, अंतिम तीन पत्र, सारगाछी आश्रम की दैनंदिनी।
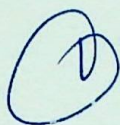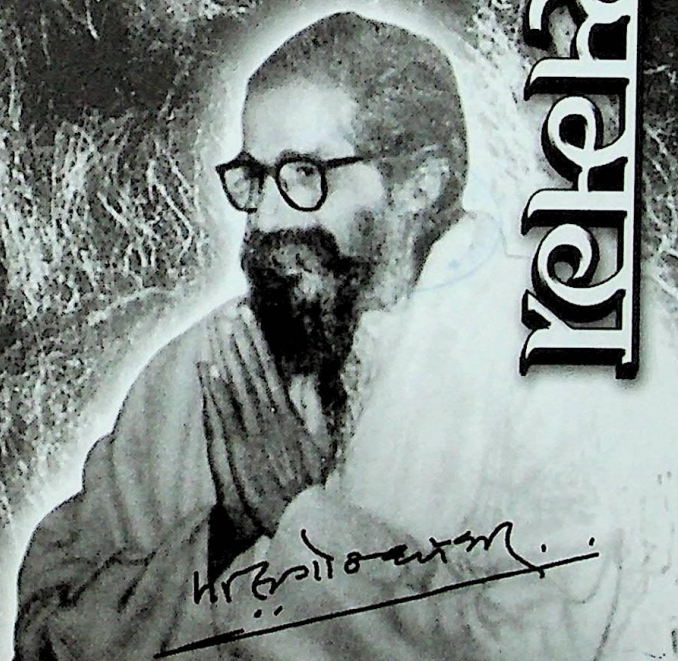
श्री गुरुजी समग्र
खंड
१
आदरांजलि
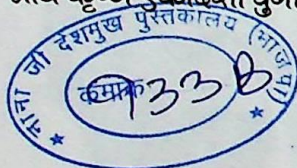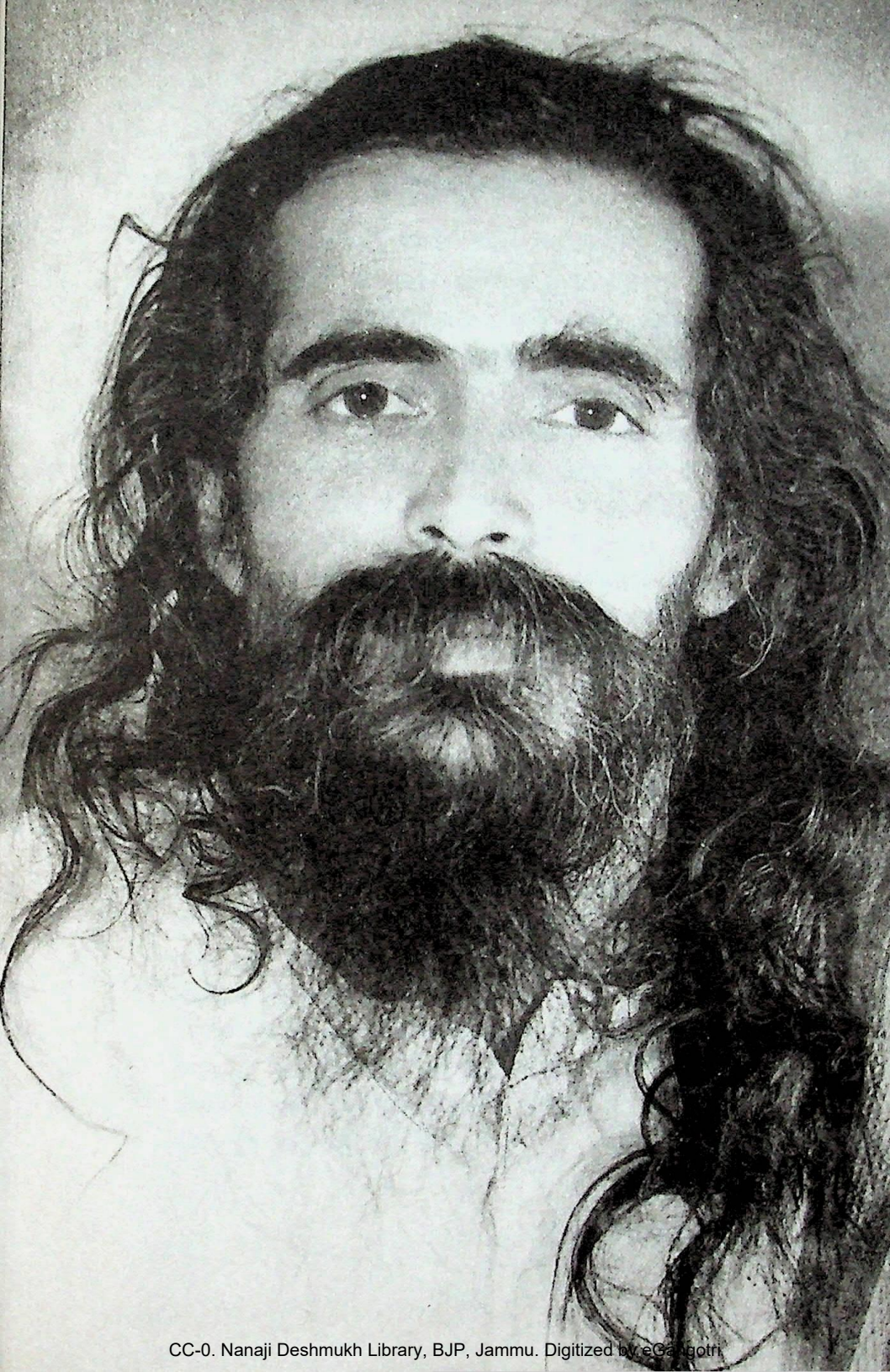
प्रकाशकीय

पूजनीय श्री गुरुजी केवल एक संगठन 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' का नेतृत्व करने वाले ही नहीं थे, वरन् संपूर्ण राष्ट्र को दिशानिर्देश करनेवाले एक युगपुरुष थे। उनके जीवन-कार्य को देखने समझने के लिए तो आज न केवल भारत, अपितु विश्वभर में फैले अनेक संगठनों और उनके कार्यकर्ताओं का अध्ययन करना पड़ेगा। पूजनीय गुरुजी की जन्म-शताब्दी के अवसर पर उनके विचार-दर्शन से लोगों को परिचित कराने का बीड़ा 'श्री गुरुजी समग्र संकलन समिति, नागपुर' ने उठाया। अपने आप में यह कार्य कितना दुरूह है। इसकी झलक समिति के इन शब्दों प्रतिवेदन से मिलती है। "उनका व्यक्तित्व व कार्य तो हिमखंड की तरह है जो दिखता तो विशाल है, पर उसका वास्तविक आकार उससे कहीं अधिक बड़ा होता है, जो पानी के भीतर अदृश्य अवस्था में छिपा रहता है। इसलिए केवल यही कहा जा सकता है कि दिखने में विशाल सामग्री समग्र तो नहीं ही है, पर्याप्त भी नहीं है।"

डा. हेडगेगवार स्मारक समिति, नागपुर ने अत्यंत कृपापूर्वक इस महत्त्वपूर्ण सामग्री के प्रकाशनार्थ हमें चुना, इसके लिए हम अंतःकरण की भावनाओं से आभार प्रकट करते हैं। समाज जीवन को अपने देश की सांस्कृतिक परंपरा के आधार पर विकसित करने के निमित्त चल रहे संघकार्य के वैचारिक अधिष्ठान को और अधिक जानने-समझने हेतु इस संकलित सामग्री को प्रकाशित करते हुए हम अभिभूत हैं।

सुरुचि प्रकाशन

कृतकृत्यता

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक पूजनीय श्री गुरुजी की जन्म शताब्दी के अवसर पर संघ कार्य के विस्तार व उसे व्यापकता देने की योजनाएँ बनी हैं। श्री गुरुजी की ही प्रेरणा से समाज के विभिन्न क्षेत्रों में हिंदुत्व के विचार व पद्धति को कार्यान्वित करने के लिए प्रारंभ हुए अनेक सामाजिक संगठन भी इस अवसर पर श्री गुरुजी के संदेश को जन-जन तक पहुँचाने की योजना कर रहे हैं।

इसी क्रम में डा. हेडगेवार स्मारक समिति ने श्री गुरुजी के द्वारा समय-समय पर दिए गए मार्गदर्शन, प्रेरणा और दैनंदिन जीवन के सामान्य से सामान्य विषय से लेकर गूढ़ और गंभीर विषयों के विवेचन को यथासंभव संग्रहीत कर उन्हें स्थायी रूप देने और सुधी पाठकों तक पहुँचाने के लिए ग्रंथ रूप में प्रस्तुत करने की योजना की थी। अपने मूलमंत्र– 'मैं नहीं, तू ही' को साकार करने के लिए जो प्रसिद्धिपराङ्मुख रहते हुए ३३वर्ष तक अखंड प्रवासी रहे हों, सतत कार्यकर्ताओं के बीच रहे हों, राष्ट्र और समाज के अलावा अन्य किसी बात को जिन्होंने अपने हृदय में स्थान न दिया हो,उनके जीवन कार्य को संकलित करना अति दुष्कर कार्य था। लेकिन अधिकारियों की प्रेरणा और उत्साही कार्यकर्ताओं के दृढ़ संकल्प के कारण ही हम अपने योजित विचार को आकार रूप दे सके हैं। सबकी सुविधा हेतु तेलगु, तमिल, मलयालम, कन्नड़, असमिया, मराठी, गुजराती ,बंगला व अंग्रेजी में इसके प्रकाशन का कार्य प्रगति पर है। इसमें हमारा कोई योगदान अथवा श्रेय नहीं है। इस ग्रंथावली को हिंदी में प्रकाशित कर आप तक पहुँचाने का बचा हुआ कार्य भी 'सुरुचि प्रकाशन, दिल्ली' ने अपने कंधों पर लेकर हम पर अपना स्नेहरूपी ऋण चढ़ा दिया है। अंत में यही कहना उचित होगा 'त्वदीय वस्तु गोविन्दं, तुभ्यमेव समर्पयेत्'।

डा. हेडगेवार स्मारक समिति, नागपुर

प्राक्कथन

सन् २००६ में श्री गुरुजी की जन्मशताब्दी है। इस निमित्त उनके द्वारा दिए गए बौद्धिक, भाषण, ली गई बैठकें और लेखन-कार्य का संकलन करने का निर्णय हुआ और उसका दायित्व हमें सौंपा गया। तब हमारे मन में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ था कि क्या यह संभव है? अन्य अनेक कठिनाइयों के साथ प्रश्न यह भी था कि जिस एक व्यक्ति के जीवन के इतने पहलू हों और जो जीवन के प्रत्येक विषय में आधिकारिक पैठ रखता हो, उसके द्वारा संपादित कार्य को क्या लेखबद्ध किया जा सकेगा? क्योंकि उनके जीवन का केवल एक पहलू ही सशक्त नहीं था। चाहे जिस पहलू को देखें, उसमें उनका पूर्ण अधिकार दिखाई देता है। कभी संस्कृत का एक सुभाषित पढ़ने में आया था :

मानुष्ये सति दुर्लभा पुरुषता पुंस्त्वे पुनर्विप्रता,
विप्रत्वे बहुविद्यतातिगुणता विद्यावतोऽर्थज्ञता।
अर्थज्ञस्य विचित्रवाक्यपटुता तत्रापि लोकज्ञता,
लोकज्ञस्य समस्तशास्त्रविदुषो धर्मे मतिर्दुर्लभा।।

सुभाषितरत्नभण्डागारं(३.१०५०)

अर्थात् ८४ लाख योनियों में मनुष्य जन्म ही दुर्लभ है, उसमें पुरुषत्व प्राप्त होना और वह भी ब्राह्मणत्व के साथ, कठिन है। वह हो भी जाए तो बहुआयामी विद्या प्राप्त होना क्वचित ही होता है। उसमें विद्या का अर्थ ज्ञात होना और फिर उस ज्ञान को दूसरों को बताने के लिए उच्च्-कोटि की वाग्मिता का होना और साथ ही लोक-व्यवहार की कुशलता उस व्यक्ति को प्राप्त हो तथा समस्त शास्त्रों में पारंगत ऐसा व्यक्ति धर्म के प्रति श्रद्धावान हो, यह तो और भी कठिन होता है।

ऐसा लगता है जैसे यह सुभाषित श्री गुरुजी के लिए ही रचा गया हो, अथवा इस सुभाषित में प्रकट होने वाली असंभाव्यता को सत्य सिद्ध करने के लिए ही ईश्वर ने श्री गुरुजी का गढ़न किया हो। ऐसी दुर्लभताओं

से सुसज्जित व्यक्ति के ३३ वर्ष के कार्यों का संकलन करना दुश्वार ही था। इसके लिए आवश्यक था कि उनके संपूर्ण विचारों को संग्रहीत किया जाए। लेकिन समस्या यह थी कि संघ के अपने-आप में अनूठा संगठन होने व उसकी रीति-नीति के कारण कभी अभिलेख-संग्रह की आवश्यकता अनुभव ही नहीं की गई इसीलिए उन कार्यों के भी संग्रह की कोई पद्धति विकसित नहीं हुई।

उसमें भी संघ की प्रसिद्धि पराङ्‍गमुखता की नीति और प्रसिद्धि तथा प्रचार के प्रति श्री गुरुजी की उदासीनता व उपेक्षा के कारण उनके बारे में सामग्री का मिलना अत्यंत कठिन था। 'बंच ऑफ थॉट्स' के रूप में उनके विचारों का जो ग्रंथरूप संग्रह प्रकाशित गया था, उसकी पांडुलिपि को पहले चार-पाँच वर्षों तक तो उन्होंने देखा ही नहीं। फिर काफी समय तक बिना पढ़े अपने पास रखे रहे। बाद में भी सहयोगी कार्यकर्ताओं के अत्यधिक आग्रह के कारण ही वह प्रकाशित हो सका था। वही उनके विचारों का पहला अधिकृत प्रकाशन था। लेकिन वे इस प्रकार के प्रयास को पूरी तरह से हतोत्साहित ही करते रहे। वे न तो अपने बौद्धिक वर्गों की ध्वनि-फीत तैयार करने देते थे, न उसका प्रकाशन। रही-सही कसर संघ पर लगे दोनों प्रतिबंधों ने पूरी कर दी। कार्यकर्ताओं ने अपनी रुचि और इच्छा के अनुसार जो कुछ संकलन किया भी था, वह अफरा-तफरी में इतस्ततः हो गया था।

संघ व्यक्तिवादी संगठन न होकर ध्येयवादी संगठन है। इस कारण कभी किसी व्यक्ति को अनावश्यक महत्त्व नहीं दिया जाता। इसीलिए संघ में संघ के किसी अधिकारी, यहाँ तक कि संघ-संस्थापक डा. हेडगेवार जी तक का जन्म दिवस या पुण्यतिथि नहीं मनाई जाती। श्री गुरुजी की जन्म-शताब्दी का जो संकल्प किया गया है, उसके पीछे का उद्देश्य यही है कि इस अवसर पर उनके द्वारा प्रस्तुत संघ के विचारों को समाज के प्रत्येक वर्ग तक पहुँचाया जाए। लेकिन उनके संबंध में सामग्री को एकत्र करना कितना कठिन कार्य था, इसकी कल्पना पाठकों को देने के लिए ही इसका उल्लेख किया है।

उनके देहावसान के पश्चात् 'श्री गुरुजी समग्र दर्शन' के रूप में सात खंडों में उनके साहित्य का जो संकलन किया गया था और उसमें से जो प्रकाशित भी हुआ, वह संकलन ही हमारे कार्य का मुख्य आधार बना।

विभिन्न समाचार-पत्रों, साप्ताहिकों तथा संघ-व्यवस्था के माध्यम से स्वयंसेवकों का आह्वान किया गया था कि श्री गुरुजी के विषय में जो कुछ सामग्री उनके पास हो, उसे संकलन-समिति के पास भेजें। उसका अच्छा प्रतिसाद मिला और काफी सामग्री प्राप्त हुई। वैसे ही स्थान-स्थान पर लोगों ने व्यक्तिगत रूप से अपने निजी संग्रह में जो कुछ संग्रहीत कर रखा था, अत्यंत प्रसन्नता के साथ हमारे पास भेजा। वह भी हमारे कार्य में सहायक सिद्ध हुआ। इस प्रकार स्वयंसेवकों व संघप्रेमी सज्जनों ने हमारे आह्वान को उत्स्फूर्त प्रतिसाद देकर हमारे कार्य को आसान बना दिया। दैव योग से कुछ साहित्य अपने आप मिलता गया। फिर भी यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि १२ खंडों और लगभग चार हजार पृष्ठों में संकलित यह सामग्री न तो परिपूर्ण है और न ही श्री गुरुजी के व्यक्तित्व को ठीक प्रकार से समाज के सामने प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त है। जितनी विविध प्रकार की सामग्री मिलती गई, उससे हमारा यह विचार पुष्ट ही हुआ कि अभी बहुत कुछ शेष है। उनका व्यक्तित्व व कार्य तो हिमखंड की तरह है वह दिखता तो विशाल है, पर उसका वास्तविक आकार उससे कहीं अधिक बड़ा होता है, जो पानी के भीतर अदृश्य अवस्था में छिपा रहता है। इसलिए केवल यही कहा जा सकता है कि दिखने में विशाल सामग्री समग्र तो नहीं ही है, पर्याप्त भी नहीं है।

सन् १९४० में सरसंघचालक बनने के बाद ३३ वर्षों में प्रतिवर्ष कम से कम दो बार के हिसाब से (अपवादस्वरूप संघ पर लगे प्रतिबंध का कालखंड छोड़कर) उन्होंने संपूर्ण देश का प्रवास किया, असंख्य कार्यक्रमों में शामिल हुए, बौद्धिक दिए, अगणित बैठकें ली, उत्सवों में सार्वजनिक भाषण दिए, अन्यान्य सामाजिक व धार्मिक संस्थाओं के कार्यक्रमों में सहभागिता की, असंख्य लोगों से मिले, कार्यकर्ताओं के घरों में निवास किया, व्यक्तिगत रूप से भेंट व वार्तालाप किया, लोगों के सुख-दुख में शामिल हुए। उन सब प्रसंगों की संपूर्ण जानकारी उपलब्ध होना लगभग असंभव था। इसीलिए वह पूरी तरह प्राप्त भी नहीं हो सकी। इसलिए यह संकलन उनके जीवन की एक धुँधली झाँकी ही दिखा पाएगा, पर यह प्रयास उन बंधुओं के लिए प्रेरक सिद्ध होगा, जिनके पास श्री गुरुजी के बारे में अनमोल रत्न व्यक्तिगत थाती के रूप में अभी पड़े हुए हैं और इस संकलन को देखने के बाद वे जिनका समावेश इस संकलन में करवाना चाहेंगे।

संघ का कार्य एक स्थान पर बैठकर न तो चलाया जा सकता है और न ही चलाया गया। कार्यक्षेत्र बड़ा विशाल और व्यापक था, अभी भी

है। उनके कार्यक्रम भी केवल संघ में ही नहीं हुए। संघ के अतिरिक्त अन्यान्य धार्मिक व सामाजिक संस्थाओं के आयोजनों में उन्होंने भाग लिया था। उनका इतिवृत्त प्राप्त करना भी कठिन था। उनका संपर्क सभी तरह के लोगों और सभी वर्गों में था, उनसे बातचीत का ब्यौरा भी अब प्राप्त होना संभव नहीं था। प्रवास के दौरान उनका निवास कार्यकर्ताओं के घरों में होने के कारण अनेक स्थानों पर विवरण बिखरा हुआ है। उसे प्राप्त करना भी टेढ़ी खीर था। इन सबके बावजूद जितना कुछ मिल पाया, उसे संपादित कर प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

इस संकलन में जो ग्रंथ आधारभूत रूप से सहायक हुए हैं, उनमें प्रमुख हैं : श्री गुरुजी समग्र दर्शन (७ खंड), स्मृति पारिजात, पत्ररूप श्री गुरुजी, अक्षर प्रतिमा (दो खंड), ध्येय-दर्शन, स्पॉट लाईट, विचार-नवनीत आदि। इसके अतिरिक्त पांचजन्य, ऑर्गनायजर, कल्याण आदि साप्ताहिक व मासिक पत्र तथा 'तरुण भारत', 'युगधर्म' आदि दैनिक समाचार-पत्र तथा समय-समय पर प्रकाशित पुस्तिकाएँ व पत्रक शामिल हैं।

उनके संबंध में कहने व बताने के लिए लोगों और संघ के कार्यकर्ताओं के पास निश्चित रूप से अभी भी बहुत कुछ होगा। हमारा निवेदन है कि वे उसे अपनी निजी थाती न रखते हुए राष्ट्रहित में सार्वजनिक करें।

विभिन्न स्थानों से और विभिन्न प्रकार से सामग्री संकलित होने के कारण व श्री गुरुजी द्वारा एक ही ध्येय और एक ही विषय को सतत ३३ वर्षों तक बारंबार उच्चारित किए जाने के कारण पुनरावृत्ति को टालने, ग्रंथ का आकार और ग्रंथ के मूल्य को सीमित रखने के निर्णय को ध्यान में रखते हुए उसका संपादन करना नितांत अनिवार्य था। इतना सब करने के बाद भी प्रस्तुत सामग्री लगभग ४००० पृष्ठों की बनी। तब कुल प्राप्त सामग्री कितनी अधिक होगी, इसकी कल्पना आप कर सकते हैं।

इस कार्य में लगभग दो वर्ष लगे। व्यक्ति कितना भी क्षमतावान क्यों न हो, यह कार्य उससे अकेले में अधिक होनेवाला नहीं था। जहाँ प्रचारक के रूप में पूर्ण समय देकर काम करनेवाले कार्यकर्ता बाकी काम एक ओर रखकर इस काम में लगे रहे, वहीं कुछ स्थानीय कार्यकर्ता और संघप्रेमी बहनें नियमित रूप से व कुछ अंशकालिक रूप से इस काम से जुड़ी रही। उन सबके सद्‌प्रयत्नों और श्री गुरुजी के प्रति उनकी आदर-भावना से ही यह कार्य पूर्ण हो सका है।

इस संकलित साहित्य के प्रस्तुतीकरण के संबंध में यहाँ कुछ चर्चा करना आवश्यक है। उपलब्ध सामग्री को बारह खंडों में प्रस्तुत किया गया है। ११ खंडों में श्री गुरुजी के बौद्धिकों, भाषणों, बैठकों, चर्चाओं, भेंटों, वार्तालापों और लेखन-कार्य को रखा गया है और उनके निकट संपर्क में रहे प्रमुख व्यक्तियों, सभाओं, समाचार-पत्रों या कार्यक्रमों में दी गई श्रद्धांजलियों को १२वें खंड में संकलित किया गया है।

पूरा संकलन पढ़ने के बाद पाठकों के मन में यह प्रश्न आ सकता है कि स्वामी विवेकानंदजी के शिकागो भाषण तथा शिवाजी महाराज के मिर्जा राजा जयसिंह को लिखे पत्र का श्री गुरुजी द्वारा किया गया अनुवाद और बहुचर्चित तथा विवादित पुस्तक 'वी' का समावेश इसमें क्यों नहीं है? उसका कारण यह है कि तीनों ही रचनाएँ मूलतः श्री गुरुजी की नहीं हैं, उनके द्वारा किए गए अनुवाद मात्र हैं। 'वी' पुस्तक का उल्लेख करते हुए उन्होंने स्वयं कहा है कि जहाँ तक 'वी ऑर अवर नेशनहुड डिफाइंड' का प्रश्न है, वह श्री गणेश दामोदर उपाख्य बाबाराव सावरकर की मराठी पुस्तक 'राष्ट्र-मीमांसा' का संक्षिप्त स्वैर अंग्रेजी रूपांतर है। इस संबंध में मुंबई में हिंदू महासभा द्वारा आयोजित 'सैनिकीकरण सप्ताह' के अंतर्गत १५ मई, १९६३ को दिए गए अपने भाषण में श्री गुरुजी ने स्वयं कहा है– ''जिस 'वी' को हमारे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में पढ़ा जाता है, वह वस्तुतः स्वातंत्र्यवीर सावरकर के बड़े भाई बाबाराव सावरकर की मराठी पुस्तक 'राष्ट्र मीमांसा' का मेरे द्वारा किया गया अंग्रेजी संक्षेप मात्र है। बाबाराव की पुस्तक का हिन्दी अनुवाद भी मैंने तैयार किया था और किन्हीं सज्जन को सौंप दिया था। बाबाराव के प्रति सार्वजनिक रूप से कृतज्ञता ज्ञापन करना मेरे लिए अत्यंत उचित होगा।''[१] इस कारण इन तीनों रचनाओं का समावेश इस संकलन में नहीं है। लेकिन बाबाराव सावरकरजी की मूल पुस्तक 'राष्ट्र-मीमांसा' के लिए उनके द्वारा लिखी गई प्रस्तावना उनकी मूल रचना होने के कारण इस संकलन में समाविष्ट की गई है।

एक बात यह भी है कि श्री गुरुजी के भाषण प्रदीर्घ होते थे, पर यहाँ वे काफी संक्षिप्त रूप में मिलेंगे, क्योंकि ऊपर बताई गई मर्यादाओं के कारण और पुनरावृत्ति को टालने तथा पठनीय बनाने के उद्देश्य से उन्हें संपादित तथा सारांशीकृत किया गया है।

---

१. 'Veer Savarkar' by Dhananjay keer; Popular Prakashan; 2nd Edition–Dec.1956; page 527 (chapter 27–Nation Pays Homage)

प्रस्तुत संकलन में खंडशः विवरण निम्नानुसार है–

'आदरांजलि' नाम के प्रथम खंड में सर्वप्रथम श्री गुरुजी के ३३ वर्षों के कार्यकाल के महत्त्वपूर्ण प्रसंगों व तिथियों को जीवन-पट के अंतर्गत उनके जीवनक्रम की जानकारी एक नजर में देने के उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया है।

श्री गुरुजी ने विभिन्न अवसरों पर विभिन्न महापुरुषों को श्रद्धांजलि देते हुए उनके कार्यों पर जो प्रकाश डाला तथा उनके विचारों की सामयिक व स्थायी प्रासंगिकता बताई, वह उन महापुरुषों के विषय में पाठकों को नवीन जानकारी व दृष्टिकोण दे सकती है। उन ४६ श्रद्धा-सुमनों को इस खंड में दिया गया है।

दूसरे खंड 'संघ-मंथन' में उन प्रदीर्घ बैठकों में दिए गए भाषणों और प्रश्नोत्तरों को रखा गया है, जो एक अंतराल के बाद संघ के कार्य के बारे में चिंतन करने के लिए होती रही हैं। ऐसी पहली बैठक सन् १९३९ में महाराष्ट्र के सिंदी नामक स्थान पर पूजनीय डाक्टरजी की उपस्थिति में हुई थी। उसमें श्री गुरुजी उपस्थित थे, परंतु उसका कोई अधिकृत वृत्त उपलब्ध नहीं है और न ही उस बैठक में उपस्थित कोई कार्यकर्ता आज हमारे बीच है, जो अधिकृत रूप से उस बैठक के बारे में बता सके। इस कारण उस बैठक के बारे में यहाँ नहीं दिया गया है। इसी प्रकार की बैठकें बाद में इंदौर, ठाणे और सिंदी में भी हुईं। उनमें हुए विचार-मंथन को ही इस संकलन में लिया गया है।

पहला प्रतिबंध उठने के बाद नागपुर और उत्तरप्रदेश के विभिन्न स्थानों पर कार्यकर्ताओं के बीच हुए श्री गुरुजी के बौद्धिक होने से ऐतिहासिक महत्त्व के हैं और सतत प्रेरणा के स्रोत हैं। उनका समावेश भी इसी खड में किया गया है।

तीसरे खंड 'प्रबोधन' के चार भाग हैं। पहले भाग 'दिशा-दर्शन' में स्वयंसेवकों और कार्यकर्ताओं के सम्मुख हुए बौद्धिक हैं। दूसरे भाग 'कार्यकर्ता-बैठकें' में उनके द्वारा बैठकों में सामान्यतः पूछे गए प्रश्न हैं, जिनके द्वारा वे कार्य की स्थिति, कार्यकर्ता का मानसिक स्तर आदि जान लेते थे और फिर तदनुसार उनका मार्गदर्शन करते थे। कुछ प्रश्नों के समाधान भी दिए गए हैं। तीसरे भाग में चर्चा के दौरान प्रस्तुत उन प्रसंगों को लेखबद्ध किया गया है, जिनके माध्यम से वे बैठक में बैठे कार्यकर्ताओं को विषय का सहज बोध करा देते थे। ऐसे प्रसंगों को 'पाथेय' नामक भाग में

रखा गया है। चौथे भाग 'उद्‌बोधन' में संघ कार्यक्रमों के अतिरिक्त प्रबुद्धजनों के सम्मुख संघ के बारे में रखे उनके विचारों का संकलन है।

संघ में कार्यकर्ता के प्रशिक्षण की व्यवस्था प्रारंभ से ही रही है। अन्य प्रशिक्षण-प्रयासों के साथ ही संघ शिक्षा वर्ग, जो पहले 'ऑफिसर ट्रेनिंग कैम्प' के नाम से जाने जाते थे, का आयोजन होता रहा है। इसके महत्त्व का अनुमान हम इसी बात से कर सकते हैं कि पूजनीय सरसंघचालक का एक बार का देशभर का प्रवास इसी निमित्त होता है। इन शिक्षा वर्गों में श्री गुरुजी के सामान्यतः तीन बौद्धिक हुआ करते थे और उनका विषय अधिकतर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ही रहता था। फिर भी समय व परिस्थिति के अनुसार उसके प्रस्तुतीकरण में विविधता है। इसलिए सन् १६३६ से १६७२ तक के उपलब्ध बौद्धिकों के सारांश इस खंड में दिए गए हैं। देशभर में आयोजित सभी वर्गों में उनके बौद्धिक होते थे, इसलिए प्रति वर्ष के बौद्धिक का सारांश तैयार करते समय हमारे सामने १५ से २० बौद्धिक रहते थे। इस कारण आवश्यकता होने पर एक ही वर्ष के कई सारांश दिए गए हैं। 'प्रशिक्षण' नामक इस चौथे खंड में संघ शिक्षा वर्ग में दिए गए ऐसे ही बौद्धिक हैं।

'समाजोद्‌बोधन' नामक पाँचवाँ खंड श्री गुरुजी के सार्वजनिक उद्‌बोधनों का है। इसमें संघ शिक्षा वर्ग के प्रकट समारोहों में दिए गए भाषणों को छोड़कर शेष सार्वजनिक कार्यक्रमों में दिए गए भाषण, अन्य संस्थाओं में दिए गए भाषण और उत्सवों के अवसर पर दिए गए भाषणों का संग्रह है। संघ में मनाए जानेवाले ६ उत्सवों में से एक उत्सव विजयादशमी का भी है। नागपुर में विजयादशमी के अवसर पर दिया गया बौद्धिक प्रारंभ से ही अपना विशेष महत्त्व रखता है, जिसमें पूजनीय सरसंघचालकजी अनिवार्य रूप से उपस्थित रहते ही हैं। उस अवसर पर दिया गया बौद्धिक संघकार्य के भावी संकल्प को प्रकट करने वाला माना जाता है।

नागपुर में विजयादशमी उत्सव दो चरणों में संपन्न होता है। नवमी को शस्त्रपूजन, शारीरिक कार्यक्रमों का प्रदर्शन आदि सार्वजनिक रूप से होता है तथा विजयादशमी के दिन स्वयंसेवकों का गणवेश में पथसंचलन होता है। दोनों ही अवसरों पर पूजनीय सरसंघचालक जी का बौद्धिक होता है। इन बौद्धिकों के अनन्यसाधारण महत्त्व को देखते हुए सन् १६३६ से

१९७२ तक के शस्त्रपूजन व विजयादशमी के उपलब्ध बौद्धिकों का सारांश इस खंड में दिया गया है।

'लेखन-कार्य' नामक खंड ६ की विषयवस्तु है– श्री गुरुजी के पत्र-लेखन के अतिरिक्त विभिन्न अवसरों पर लिखे गए लेख, अन्यान्य स्थानों की अभिप्राय-पुस्तिकाओं में लिखे गए अभिप्राय तथा अन्य लेखकों की पुस्तकों के लिए लिखी गई प्रस्तावनाओं के अलावा 'आत्मकथन' अध्याय के अंतर्गत छात्रजीवन में अपने मित्रों को लिखे गए पत्र, अपने बारे में लिखे गए कुछ पत्र, जीवन के अंतिम तीन पत्र और अपने गुरु श्री अखडानंदजी के सान्निध्य के समय के मनोभावों को प्रकट करने वाली श्री गुरुजी की दैनंदिनी के पृष्ठ।

श्री गुरुजी का पत्र-व्यवहार अपने-आप में एक कीर्तिमान है। शायद ही अन्य किसी व्यक्ति के द्वारा इतने पत्र लिखे गए हों। तब भी हमें केवल वे ही पत्र उपलब्ध हुए हैं, जो उन्होंने नागपुर संघ कार्यालय से भेजे थे। सतत प्रवास में रहने के कारण अन्य स्थानों से जो पत्र उन्होंने लिखे, उनमें से केवल वे ही पत्र संकलन के लिए मिल सके, जिनको कार्यकर्ताओं ने सहेजकर रखा था और हमारे पास भेजा, अन्यथा उनकी संख्या कितनी होती– इसका अनुमान करना भी कठिन है। दूसरी बात यह है कि सारे पत्र उनकी ही हस्तलिपि में हैं। किसी अन्य ने लिखे और उन्होंने केवल हस्ताक्षर किए हों, ऐसा नहीं है।

पत्रों को पढ़ते समय पाठकों के ध्यान में आएगा ही कि सामान्यतः व्यक्ति अपने जाने-पहचाने नाम से हस्ताक्षर करता है, पर सभी पत्रों में उन्होंने अपने हस्ताक्षर मा.स.गोलवलकर नाम से किए हैं, केवल छात्रकालीन पत्रों में ही 'मधु' के नाम से हस्ताक्षर हैं। एक भी पत्र में कहीं भी मुख्य रूप से बोले जाने वाले 'गुरुजी' नाम से हस्ताक्षर नहीं है। दूसरी बात यह कि उन्होंने एक भी पत्र में किसी को स्वयं आशीर्वादपरक शब्द नहीं लिखे, सबमें कल्याण के लिए भगवान से प्रार्थना की है। तीसरी बात यह कि इतना अधिक पत्र व्यवहार होने के बावजूद एक भी पत्र में कहीं काट-पीट नहीं है। चौथी बात यह कि उन्होंने प्राप्तकर्ता के पूरे नाम का उल्लेख पत्र में यथोचित सम्मान के साथ किया है। छोटे या पुकारने के नाम का उल्लेख नहीं किया है। लगभग बारह हजार पत्रों में भूल से भी इन बातों का उल्लंघन कभी नहीं हुआ है।

सातवें खंड 'पत्राचार' में संत-जन, विदेशस्थ बंधु, नेतागण, अन्य मतानुयायी, माता-भगिनी, प्रबुद्ध जन और सामाजिक संस्थाओं के कार्यकर्ताओं को लिखे गए पत्रों को संकलित किया गया है। प्रतिबंध के समय सरकार व अन्य लोगों से हुआ पत्र-व्यवहार 'संघर्ष के प्रवाह में' नामक दसवें खंड में दिया गया है।

आठवाँ खंड 'पत्र-संवाद' भी पत्रों का ही है। इसमें संघ के स्वयंसेवकों, कार्यकर्ताओं, संघचालकों आदि को संघकार्य की व उनकी व्यक्तिगत समस्याओं के बारे में उनके द्वारा पूछे गए प्रश्नों के निराकरण के लिए सुझाव के रूप में लिखे गए श्री गुरुजी के पत्रों या अन्य अवसरों पर लिखे गए पत्रों का संकलन है।

खंड नौ 'भेंट-वार्ता' के पाँच भाग हैं। 'समाधान' के अंतर्गत पत्रकारों व स्वयंसेवकों के प्रश्नों के उत्तर हैं, तो 'वार्तालाप' के अतंर्गत कुछ महत्त्वपूर्ण भेंट-वार्ताएँ हैं। पत्रकारों के सम्मुख व्यक्त विचार 'दृष्टिकोण' में हैं, तो कुछ प्रमुख लोगों से तथ्यपरक चर्चा 'सुसंवाद' में है और बाकी लोगों से हुआ वार्तालाप 'संवाद' नामक भाग में दिया गया है।

अपनी स्थापना के बाद से ही संघ चर्चा और आलोचना का विषय रहा है। इसके शक्तिशाली और व्यापक होने के पश्चात् तो यह राजनेताओं और राष्ट्रविघातक शक्तियों की आँखों की किरकिरी ही बना हुआ है। संघ से भय माननेवालों ने इसे कुचलने का कई प्रकार से और कई बार प्रयत्न किया। उसमें से सन् १९४८ में गाँधीजी की हत्या के झूठे आरोप में संघ पर लगाया गया प्रतिबंध और आपात्काल की आड़ में लगाया गया प्रतिबंध विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा है। सारी स्थिति साफ होने तथा उच्च न्यायालय और विभिन्न जाँच आयोगों द्वारा संघ को निर्दोष बताने के बाद भी आज तक वही आरोप राजनेताओं द्वारा समाज को गुमराह करने के लिए दुहराए जाते रहे हैं। इस दृष्टि से सारा घटनाक्रम और सरकार से हुआ पत्र-व्यवहार पाठकों के सम्मुख वास्तविक स्थिति स्पष्ट करेगा, इस उद्देश्य से इस खंड में दिया गया है।

किस अग्निदिव्य से संघ निकला और कैसे पुनः कार्य व्यवस्थित हो पाया, यह आज की पीढ़ी के सामने आना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है, ताकि सतत झूठे प्रचार के कारण भ्रम के जो बादल उनके मन को आवेष्टित किए हुए हैं, छँट सकें।

ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व का होने के कारण तथा अब तक

राजनीतिक कारणों से एकतरफा बात सामने आने के कारण सरकार की ओर से किया गया पत्राचार हेतुपुरस्सरता से दिया है।

संघ अपने सामाजिक दायित्वों को न केवल जानता और समझता है, अपितु समय-समय पर उन्हें निभाता भी रहा है। ऐसे प्रसंग तब भी उपस्थित हुए, जब पाकिस्तान, चीन जैसी बाहरी शक्तियों ने हमारे देश पर आक्रमण किए। उस समय स्वयंसेवकों, व समाज के लिए करणीय कार्य और सचेत रहने के लिए श्री गुरुजी ने जो मार्गदर्शन किया, वह न केवल युद्ध के प्रसंगों पर, बल्कि सदैव ध्यान में रखने का है। ऐसे अवसरों पर दिया गया दिशादर्शन दसवें खंड 'संघर्ष के प्रवाह में' की विषय-वस्तु है।

ग्यारहवाँ खंड 'विचार-संग्रह' सबका परिचित खंड है। हिंदी में 'विचार नवनीत' और अंग्रेजी में 'बंच ऑफ थॉट्स' नाम से प्रसिद्ध ग्रंथ में दी गई सामग्री ही इस खंड में यथावत् दी है। परिवर्तन केवल इतना ही किया है कि इन ग्रंथों में व्यक्त विचार, जो इस नए संकलन में अन्यत्र कहीं विस्तार से आ गए हैं, केवल उनको ही कम किया है। शेष पूर्ववत् ही रखा है।

जैसा पूर्व में उल्लेख किया गया है बारहवाँ और अंतिम खंड 'स्मरणांजलि' श्री गुरुजी के बारे में प्रकट अन्य लोगों के विचारों का है। इस खंड में प्रस्तुत सामग्री अभी तक इतस्ततः प्रकाशित हुई है, तब भी बहुत सारी सामग्री ऐसी है, जो अभी तक अप्रकाशित ही रही है। किसी सदन का सदस्य न होते हुए भी लोकसभा, राज्यसभा तथा बिहार, राजस्थान व महाराष्ट्र विधानसभा और महाराष्ट्र विधानपरिषद् में उनके लिए श्रद्धांजलि प्रस्ताव पारित हुए, जो अभी तक कहीं प्रकाशित नहीं हुए थे, पाठकों की जानकारी के लिए इस खंड में दिए गए हैं।

श्री गुरुजी के निकट संपर्क में रहे व्यक्तियों ने लेख या पत्र के रूप में जो श्रद्धासुमन अर्पित किए हैं, वे श्री गुरुजी के बहुआयामी व्यक्तित्व को प्रकट करनेवाले हैं। वे निस्संदेह ही पाठकों को श्री गुरुजी के बारे में नवीन जानकारी देंगे। ऐसे लेख तो काफी हैं, परंतु उनमें से कुछ को ही पाठकों के अवलोकनार्थ दिया गया है।

इसी प्रकार देश की लगभग सभी भाषाओं के राष्ट्रीय व स्थानीय समाचार-पत्रों ने श्री गुरुजी के देहावसान के पश्चात् संपादकीय लिखे। उनमें से नमूने के तौर पर कुछ को इस खंड में दिया है।

प्रस्तुत संकलित सामग्री पढ़ने के बाद पाठकों के ध्यान में आएगा कि श्री गुरुजी का व्यक्तित्व कितना विशाल और बहुआयामी था। वे केवल

संघ के लिए ही नहीं, समाज के बाकी सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं तथा व्यक्तियों के लिए भी कैसा अनन्यसाधारण महत्त्व रखते थे और समाज व ज्ञान-विज्ञान के सभी विषयों में उनकी गहरी पैठ थी। पाठकों को इस बात का अनुभव होगा कि प्रस्तुत सामग्री अधिक होने के बावजूद हुए भी अल्प ही है। उनके बारे में जितना अधिक जानने को मिले, वह कम ही है।

अंत में यही कहना है कि हमने तो अपनी ओर से पूरा प्रयत्न किया है कि इन ग्रंथों की सामग्री अधिकाधिक प्रामाणिक हो, पठनीय हो, संग्रहणीय हो। फिर भी हमारी क्षमताओं और सीमाओं की स्पष्ट समझ हमें है और इस कारण न्यूनता एवं त्रुटियाँ रह जाने की पूरी संभावना है। दूसरा यह कि चाह कर भी कुछ सामग्री हम प्राप्त नहीं कर सके। इसलिए इच्छा होने पर भी उसे आपके सामने रखने में हम असमर्थ रहे हैं।

जैसा पूर्व में निवेदन किया है, श्री गुरुजी के विचारों व कार्य-वृत्तांत के संकलन का न तो यह पहला प्रयास था और न ही अंतिम प्रयास है। इसलिए प्रस्तुत ग्रंथ की अपूर्णता व त्रुटियों के बारे में अथवा पाठकों के अपने भंडार में कुछ अलक्षित रत्न पड़े हों, तो कृपया उससे अवगत कराने का कष्ट करें, ताकि इस 'समग्र' के कभी नवीन संस्करण का प्रकाशन जब हो तो उन्हें भी जनहितार्थ सम्मिलित किया जा सके।

और अंत में, इन सारे कार्यों संकलन व संपादन में लगे कार्यकर्ताओं और सामग्री संकलन में सहयोग करने वाले देशभर के कार्यकर्ताओं के कारण ही संभव हो सका है। इसलिए प्रचलित पद्धति व परंपरा के अनुसार उनका आभार मानना हमारा कर्तव्य ही नहीं दायित्व भी है। परंतु स्वयंसेवक होने और श्री गुरुजी के प्रति अगाध श्रद्धा रखने के कारण जिस आत्मीयता के भाव से उन्होंने कार्य किया है, उनका नामोल्लेख उन्हें प्रसन्नता प्रदान करने की अपेक्षा कष्टकारक ही अधिक होगा। उन सहयोगी कार्यकर्ताओं ने अपना नाम न देने का बार-बार आग्रह भी किया है। उनके उन मनोभावों का आदर करते हुए इच्छा होने पर भी किसी का नामोल्लेख नहीं किया गया है। फिर भी सबके साथ कार्य करने और मिले सहयोग के आनंद के प्रति हम अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

श्री गुरुजी समग्र संकलन समिति
डा.हेडगेवार भवन,
महाल, नागपुर-४४००३२

उपोद्घात

स्वामी विवेकानंद के गुरुभाई स्वामी अखंडानंदजी हिमालय की ओर जाते समय जब मुर्शिदाबाद जिला स्थित सारगाछी पहुँचे, तब वहाँ के दीन दुःखी लोगों की आर्तवाणी सुनकर वहीं रुक गए और उन्हीं की सेवा में अपना जीवन समर्पित कर देने का संकल्प कर लिया। स्वामी विवेकानंदजी के सूत्र 'नर सेवा ही नारायण सेवा है' को साकार रूप देने की उनकी आकांक्षा ने ही सारगाछी में रामकृष्ण आश्रम की नींव डाली। स्वामी अखंडानंदजी, जो बाद में 'बाबा' के नाम से विख्यात हुए, भारत के पारतंत्र्य से भी व्यथित थे। इसलिए सारगाछी आश्रम केवल दीन-दुखियों की आश्रयस्थली ही नहीं, अंग्रेजी सत्ता को भारत से उखाड़ फेंकने के लिए प्रयासरत क्रांतिकारियों की शरणस्थली भी रही थी। ऐसे ही स्थान पर एक दिन काशी विश्वविद्यालय में प्राध्यापक के नाते कार्यरत श्री हरिदास मुखर्जी, जो क्रांतिकारियों के गुप्त संगठन अनुशीलन समिति के सदस्य थे, सारगाछी पहुँचे और बाबा के दर्शन किए। युवा मन में उठे सहज प्रश्न को उन्होंने बाबा के सामने प्रकट किया- "बाबा, आपने अपने आश्रम के लिए यह अमंगल स्थान क्यों चुना, जहाँ भारत का भाग्य-सूर्य अस्त हुआ था?"

सारगाछी उस प्लासी के मैदान के पास ही स्थित है, जहाँ मीर जाफर की गद्दारी के कारण नवाब सिराजुद्दौला को अंग्रेजों के हाथों पराजय झेलनी पड़ी थी और ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नींव रखी गई थी। बाबा ने उत्तर दिया, 'जहाँ भारत का भाग्य-सूर्य अस्त हुआ, वहीं उसका भाग्योदय करनेवाला भी कोई आएगा।' श्री हरिदास मुखर्जी ने पूछा, उसमें तो बड़ी देर लग सकती है। क्या आप तब तक प्रतीक्षा करेंगे? बाबा का उत्तर था, 'हाँ, शिष्यों में से ही कोई ना कोई इस कार्य को करने के लिए आगे आएगा।' यही हरिदास मुखर्जी आगे चलकर स्वामी अखंडानंदजी के पट्टशिष्य बनकर स्वामी अमूर्तानंद कहलाए, किंतु आश्रम में ब्रह्मचारी अवस्था के नाम 'अमिताभ महाराज' के अभिधान से ही अधिक जाने जाते थे।

अमिताभ महाराज को स्वास्थ्य-लाभ के लिए शुष्क जलवायु वाले

स्थान नागपुर भेजा गया, जहाँ वे रामकृष्ण आश्रम में स्वामी भास्करेश्वरानंद के साथ रहने लगे। अनुशीलन समिति के सदस्य के नाते डा. हेडगेवारजी से उनका पूर्वपरिचय था ही। यहाँ श्री माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर से भी उनका संबंध बना। श्री माधवरावजी तब तक काशी विश्वविद्यालय में तीन वर्ष तक का प्राध्यापक का कार्यकाल समाप्त कर अपनी छात्रवत्सलता के कारण 'गुरुजी' अभिधान धारणकर नागपुर आ चुके थे, किंतु उनके मन का पूर्व द्वंद्व पूरी तरह से समाप्त नहीं हुआ था। संघ के संपर्क में आने के पूर्व मत्स्य-विज्ञान के अध्ययन के लिए सन् १९२८-२९ में वे दो वर्ष तक चेन्नै में रहे थे। उस समय अपने नागपुर के मित्र श्री बाबूराव तेलंग को लिखे लंबे-लंबे पत्रों से उनके मन की दुविधा का पता चलता है। जनवरी, १९२९ में अपने पत्र में उन्होंने लिखा था- 'लाहौर का विस्फोट सुना। धन्य, त्रिवार धन्य। आंशिक ही क्यों न हो, परिमार्जन करना संभव हुआ, इसका संतोष है। ऐसी ही परिस्थिति में मैं रहता तो ऐसा ही गोपनीय कृत्य करता। विश्वबंधुत्व, समता, शांति इन विषयों पर मैं आपसे अनेक बार बोला हूँ। दंगे-फसाद, मारामारी, प्रतिशोध, विद्वेष आदि सब बातों के विरुद्ध मैंने आपसे झगड़ा किया है, आपको दोष भी दिया है। वहीं मैं आपको यह सब लिख रहा हूँ- इसका आपको आश्चर्य हो रहा होगा। एक ओर प्रतिशोध और यौवन की शक्तिशाली लहर तथा दूसरी ओर वेदांत की शांत और अडिग चट्टान। दोनों में उस समय ऐसा प्रबल संघर्ष हुआ कि मैं बहुत असमंजस में पड़ गया।' उसी पत्र में उन्होंने यह भी लिखा- 'लोगों में राष्ट्रीय चेतना जगानी होगी। हिंदू और मुसलमान के बीच वास्तविक संबंध का ज्ञान कराना होगा। ब्राह्मण-अब्राह्मण के बीच विवाद समाप्त करना होगा। मैं कोई बड़ा नेता और कार्यकर्ता नहीं हूँ, किंतु प्रत्येक को इस कार्य में सहयोग देना ही चाहिए।'

मन की यह द्विधा स्थिति सन् १९३४ में भी बनी हुई थी। एक ओर डा. हेडगेवार के संपर्क के कारण हिंदू-समाज को संगठित कर उसमें राष्ट्रीय चेतना जगानेवाले संघकार्य की ओर मन जाता था, जिसके साथ उनका परिचय काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हो गया था, तो दूसरी ओर आध्यात्मिक साधना की दिशा में मन की सहज प्रवृत्ति होने के कारण स्वामी भास्करेश्वरानंद एवं अमिताभ महाराज के सान्निध्य में मन उस दिशा की ओर खिंचता था। इसी मानसिकता में एक दिन उन्होंने अमिताभ महाराज

के सामने अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए पूछा– 'क्या आप मुझे किसी जीवन्मुक्त व्यक्ति के दर्शन करा सकते हैं?' अमिताभ महाराज ने कहा, 'हाँ, एक शर्त पर। तुम्हें अपना घर-द्वार, माता-पिता, कीर्ति-यश आदि सब कुछ छोड़ना होगा। तैयारी है?' श्री गुरुजी ने एक क्षण का भी विलंब न करते हुए कहा, 'हाँ।' और उनकी यही व्यग्रता उन्हें सारगाछी ले गई, जहाँ बाबा की सेवा में अनन्य भक्तिभाव से रत रहकर उन्होंने लगभग सवा वर्ष बिताए। एक दिन किसी पर्व पर सहभोज के पश्चात् रातभर उन्होंने बर्तनों को ऐसा माँजा कि आश्रमवासियों ने बाबा से कहा, 'आपके इस एम.एससी. शिष्य ने बर्तन ऐसे माँजे हैं कि वे सोने जैसे चमक रहे हैं।' तब बाबा ने कहा, 'वह जिस किसी काम को हाथ में लेगा, उसी को सोना बना देगा।'

बाबा ने अमिताभ महाराज को नागपुर से सारगाछी बुलवा लिया। एक दिन अमिताभ महाराज ने बाबा से कहा, 'बाबा, गोविलकर के माता-पिता वृद्ध हैं। उसे दीक्षा दे दी जाए जिससे वह अपने माता-पिता की देखभाल और वकालत कर सके।' बाबा ने कहा, 'दीक्षा तो मैं उसे दे दूँगा, पर यह कौन कह सकता है कि वह वकालत करके माता-पिता की ही सेवा करेगा?' और श्री गुरुजी के जीवन में शीघ्र ही वह स्वर्णिम दिन आया, जब उन्हें दीक्षा प्राप्त होकर नवजीवन प्राप्त हुआ। उन्हीं दिनों उन्हें अपने गुरु के जीवन्मुक्त अवस्था को देखने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। अमिताभ महाराज के माध्यम से अपने गुरु की इच्छा जानकर वे नागपुर में डा. हेडगेवार के पास आ गए और समाज को ही परमेश्वर मानकर संघकार्य हेतु अपने-आपको समर्पित कर दिया। इस प्रकार सारगाछी के उस अमंगल स्थान, जहाँ भारत का भाग्य-सूर्य अस्त हुआ था, से भारत के भाग्योदय का शंखनाद करनेवाला व्यक्ति नागपुर आया और डा. हेडगेवार के देहावसान के पश्चात् राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक के नाते सुप्रतिष्ठित हुआ। क्या यह सब किसी ईश्वरीय योजना के अंतर्गत हुआ?

प्रसंग सन् १९७३ के प्रारंभ का है, जब मा. भाऊराव देवरस और मा. रज्जूभैया पूजनीय गुरुजी के निरंतर गिरते स्वास्थ्य से चिंतित होकर प्रयाग में एक पंडितजी से मिलने गए जिनके पास भृगुसंहिता थी। द्वार खटखटाने पर पंडितजी ने जब द्वार खोला तो इन दोनों महानुभावों

को देखकर अपनी घड़ी की ओर देखा और कहा, 'मैं जानता हूँ कि आप एक बहुत बड़े महापुरुष के संबंध में जानने आए हैं, किंतु वे ७ जून के बाद नहीं रहेंगे।' दोनों यह सुनकर अवाक् रह गए। थोड़ा सँभलने के बाद पूछा, 'हम तो यह जानने के लिए आए थे कि किसी अनुष्ठान आदि से उनके स्वास्थ्य-लाभ के लिए कुछ किया जा सकता है क्या?' तो पंडितजी ने कहा, 'अनुष्ठान भले ही कीजिए, किंतु वे एक मुक्त आत्मा हैं। पिछले जन्म में अपने गुरु के प्रति कुछ अविनय हो जाने के कारण उन्हें यह जन्म लेना पड़ा। अब उन्हें पुनर्जन्म का योग नहीं है।' प्रश्न उठता है कि क्या पूर्वजन्म में अपने गुरु के प्रति अविनय के अपराध का परिमार्जन करने के लिए ही वे सारगाछी गए और क्या स्वामी अखंडानंद ही पूर्वजन्म में उनके गुरु थे? कैसे कहें? विधि का विधान हम जैसे साधारण मानवों के लिए अगम्य और अगोचर है।

जो हो, सन् १९४० से लेकर सन् १९७३ तक के तैंतीस वर्ष श्री गुरुजी के राष्ट्रनायकत्व के सबसे महत्त्वपूर्ण वर्ष थे, जब हिंदू राष्ट्र के सर्वांगीण विकास की रूपरेखा, जिसे बीज रूप में डा. साहब ने बोया था, पुष्पित और पल्लवित हुई। यही कालखंड अपने राष्ट्रजीवन में भी अत्यंत उथल-पुथल का था। द्वितीय महायुद्ध, कांग्रेस का सन् १९४२ में प्रारंभ हुआ जनांदोलन, देश का विभाजन, सहस्रावधि लोगों का बलिदान, लक्षावधि लोगों का देशांतरण, महात्मा गाँधी की हत्या, संघ पर प्रतिबंध और सत्याग्रह, तिब्बत पर चीनी कब्जा, भारत पर सन् १९६२ का चीनी आक्रमण, सन् १९६५ और १९७१ के पाकिस्तानी आक्रमण, पाकिस्तान का विभाजन आदि सारी ही क्षोभकारक घटनाएँ इसी कालखंड में घटित हुईं और एक कुशल खेवनकार के रूप में पूजनीय गुरुजी ने इन संकटों में से संघ को बाहर निकालने व देश को सुयोग्य मार्गदर्शन देने का कार्य किया।

प्रतिबंधकाल के डेढ़ वर्ष छोड़कर शेष समय में पूजनीय गुरुजी ने प्रति वर्ष दो बार देश का भ्रमण किया तथा स्वयंसेवकों व देश को सुयोग्य मार्गदर्शन व दिशा दी। स्वाभाविक था कि सन् २००६ से २००७ तक मनाए जानेवाले उनके जन्मशताब्दी वर्ष के लिए इस सुदीर्घ कालखंड में भाषणों, बैठकों, चर्चाओं व लेखों में प्रगट किए गए समस्त विचारों का संकलन किया जाए और उसी इच्छा का सुपरिणाम है 'श्री गुरुजी समग्र' के ये बारह खंड। इन खंडों के संपादन का यह गुरुतर कार्य कैसे संपन्न

किया गया उसका पूरा वर्णन प्राक्कथन में आया हुआ है, जिसे पढ़ने के बाद इसका सहज आभास हो सकेगा कि इस कार्य को करने में कितना परिश्रम किया गया।

पूजनीय गुरुजी जब सरसंघचालक बने थे, तब देश की दो प्रमुख धाराओं का संगम उनके व्यक्तित्व में हुआ था। भारतीय नवोत्थान की यह विशेषता रही है कि प्रत्येक राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक नवरचना के पूर्व आध्यात्मिक जागरण होता रहा है। आधुनिक काल में आध्यात्मिक पुनर्जागरण की धारा १९वीं शताब्दी में ऋषि दयानंद से प्रारंभ हुई व बाद में रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, भगिनी निवेदिता, स्वामी रामतीर्थ, रवींद्रनाथ ठाकुर, ऋषि अरविंद व श्री माँ के माध्यम से आगे बढ़ते हुए उसने देश की सुप्त आध्यात्मिक चेतना को झकझोरा और जगाया। दूसरी धारा राजनैतिक थी, जिसकी दो शाखाएँ थीं। एक शाखा सशस्त्र क्रांति के माध्यम से विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने की थी, जिसका आरंभ सन् १८५७ से हुआ था व बाद में रामसिंह कूका, वासुदेव बलवंत फड़के, पझसी राजा, बिरसा मुंडा, तिलका माँझी, ताँतियाभील, तीरथ सिंह, अल्लूरि सीताराम राजू आदि में से होती हुई खुदीराम बोस, भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरु, सावरकर, सुभाष तक पहुँची। दूसरी शाखा जनांदोलनों के माध्यम से जनजागरण कर विदेशी सत्ता को देश की स्वतंत्रता देने हेतु बाध्य कर देने की थी। यह शाखा सर सुरेंद्रनाथ बनर्जी, दादाभाई नौरोजी, लाला लाजपतराय, बाल गंगाधर तिलक, विपिनचंद्र पाल, महात्मा गाँधी, डा.अंबेडकर आदि के माध्यम से आगे बढ़ी।

डा. हेडगेवार बंगाल के क्रांतिकारियों की संस्था 'अनुशीलन समिति' के अंतरंग सदस्य थे और उनके बंगाल, महाराष्ट्र, पंजाब, राजस्थान, उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश के क्रांतिकारियों से गहरे संबंध थे। सन् १९१६ से १९१८ के बीच प्रथम महायुद्ध में अंग्रेजों की व्यस्तता का लाभ उठाकर उन्होंने सशस्त्र क्रांति भी करनी चाही थी, किंतु लोकमान्य तिलक आदि श्रेष्ठ नेताओं की सहमति न मिलने तथा महायुद्ध की स्थिति में आए स्थित्यंतर के कारण उस प्रयास को उन्होंने समेट लिया और जनांदोलनों के माध्यम से लोकजागरण हेतु प्रवृत्त हुए। डा. साहब ने इन सबमें भाग लिया, किंतु जागृत समाज की संगठित शक्ति खड़ी किए बिना उपर्युक्त प्रयास दीर्घसुपरिणामी नहीं हो पाएगे यह अनुभव कर सन् १९२५ में केवल समाज

संगठन हेतु समर्पित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की व समस्त राजनैतिक उथल-पुथल में सहभाग करते हुए भी संगठन के स्थायी कार्य को उनसे अलग रखा और सन् १९४० में हिंदू राष्ट्र के एक छोटे अंकुर का दर्शन करने में समर्थ हो सके। इसी अंकुर को अपने स्वेद-रक्त से पल्लवित व पुष्पित करने का कार्य श्री गुरुजी के कंधों पर आया।

अध्यात्मप्रवण श्री गुरुजी ने संघकार्य हेतु अपने आपको समर्पित तब किया जब डाक्टर साहब की बीमारी की अवस्था में सेवा करते हुए मातृभूमि के साथ तद्रूप हुए उनके व्यक्तित्व के दर्शन हुए। इस प्रकार राष्ट्र के सर्वांगीण विकास हेतु कार्यरत दोनों धाराओं का उनमें संगम हुआ। रामकृष्ण-विवेकानंद की आध्यात्मिक कर्मचेतना डा. हेडगेवार की राष्ट्रीय कर्मधारा के साथ जुड़ गई। पूजनीय गुरुजी के सारे विचारों के मूल में राष्ट्र की आध्यात्मिक चेतना के हमें दर्शन होते हैं और यही उनके जीवन का स्थायीभाव रहा है। एक बार इंदौर में लायन्स क्लब में उन्हें निमंत्रित किया गया और उनसे प्रार्थना की गई वे धर्म और राजनीति छोड़कर किसी अन्य विषय पर बोलें। श्री गुरुजी ने कहा कि राजनीति में तो मेरी कोई रुचि नहीं है, किंतु धर्म के बारे में भी न बोलूँ, यह बात समझ के परे है। हमारे यहाँ तो कहा गया है-

आहार निद्रा भय मैथुनं च, सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिकोऽविशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

अर्थात्- आहार, निद्रा, भय व मैथुन तो पशुओं व मनुष्यों में समान हैं, किंतु मनुष्य में जो अधिक है, वह धर्म है, धर्म से विहीन मनुष्य पशु के समान है। शायद यही कारण है कि इस क्लब के लोग अपने आप को 'लायन' कहते हैं।

सन् १९४० से १९४७ तक के कालखंड में जब देश आंदोलनरत था तब भी उन्होंने पूजनीय डाक्टर जी द्वारा अपनाई गई नीति का ही अवलंबन किया कि संघ तो केवल संगठन का कार्य करेगा, किंतु स्वयंसेवक व्यक्तिगत रीति से राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए किए जानेवाले आंदोलनों में भाग ले सकते हैं और तदनुसार अनेक स्वयंसेवकों ने वैसा किया भी। इस संबंध में सन् १९४२ के पुणे संघ शिक्षा वर्ग की एक घटना का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। पुणे संघ शिक्षा वर्ग में पूजनीय गुरुजी की व्यवस्था में श्री माधवराव गोडबोले नियुक्त थे। आगे चलकर यही माधवराव

बैंकिंग व सहकारिता के क्षेत्र में सहकार महर्षि के रूप में विख्यात हुए। अपने संस्मरणों में वे लिखते हैं–

'पुणे वर्ग में मैं श्री गुरुजी की सेवा में था। एक दिन पूजनीय गुरुजी ने मुझे लगभग २० जिलों के संघचालकों को पुणे के वर्ग में एकत्र आने हेतु पत्र लिखने को कहा। तदनुसार मैंने सबको पत्र लिखकर एक विशिष्ट दिन सबको पुणे आने के लिए कहा। संघ शिक्षा वर्ग का स्थान नूतन मराठी हाईस्कूल था। उसके निकट ही श्री अभ्यंकर वकील के निवास में समस्त निमंत्रित संघचालकों की एक निजी बैठक हुई। इस बैठक में प्रमुखतः नासिक जिला संघचालक मा. राजाभाऊ साठे का संक्षिप्त भाषण हुआ। उस भाषण को सुनकर समस्त संघचालक क्षणभर के लिए स्तब्ध रह गए। श्री राजाभाऊ साठे ने पूजनीय गुरुजी से पहले विचार किया हुआ होगा। उनके भाषण का मुख्य आशय यह था कि ब्रिटिश सरकार जर्मनी से युद्ध में उलझी हुई है। इस युद्ध के लिए भारत से काफी सेना युद्धभूमि में भेजी गई है। जो थोड़ी-बहुत सेना बची है, उसे रेलगाड़ी से मुंबई, दिल्ली, कोलकाता, चेन्नै घुमाया जा रहा है। यह एक तरह से सैन्य शक्ति का खोखला प्रदर्शन है। सैन्यबल काफी कम है। नेताजी सुभाषचंद्र बोस पूर्व की ओर से भारत पर आक्रमण की तैयारी कर रहे हैं। हम संघचालकों को भी अपने-अपने जिलों में ऐसी तैयारी करनी है जिससे ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध योग्य समय पर स्वातंत्र्य युद्ध शुरु किया जा सके। एतदर्थ अपने जिले की परिस्थिति, शस्त्रबल कितना उपलब्ध है, कितना किया जा सकता है, जिले में राष्ट्रद्रोह करनेवाले केंद्र कितने हैं, इन सबका पूरा अध्ययन कर उन सबके विरुद्ध संघर्ष की तैयारी करनी चाहिए। हमको योग्य संधि प्राप्त होते ही व नेताजी सुभाषचंद्र बोस का आक्रमण होते ही दोनों को मिलकर भारत को स्वतंत्र करने के लिए संघर्ष करना होगा। उसके लिए केंद्र से सूचना की राह देखने की आवश्यकता नहीं, अपेक्षा रखने की भी आवश्यकता नहीं।'

उस बैठक के समारोप की दृष्टि से पूजनीय गुरुजी का दस-पंद्रह मिनट का भाषण हुआ जिसका सार यह था– 'मैं तो ठहरा संन्यासी। आप सब लोगों के संघर्ष को सुभाष बाबू के संघर्ष का साथ मिल गया तो अपना भारत स्वतंत्र किया जा सकेगा। क्षण भर के लिए मान लें कि यश नहीं मिला तो भी कदाचित स्वतंत्रता के लिए होनेवाले प्रयत्नों में यह भी

एक प्रयत्न जुड़ जाएगा, स्वातंत्र्य मिला तो उत्तम ही है।' इस बैठक की भनक भी बाहर किसी को नहीं हुई और संघ शिक्षा वर्ग में युवकों को आह्वान किया जा रहा था कि वे पढ़ाई से छुट्टी ले संघ कार्य विस्तार के लिए निकलें। उस वर्ष ८० नए प्रचारक कार्य हेतु निकले थे।[१]

श्री गुरुजी के समग्र विचारों के इस विशाल संकलन का अनुशीलन करते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि सभी महापुरुषों के विचारों के समान इन विचारों के भी दो भाग हैं। एक, जो शाश्वत व कालजयी है और दूसरा जो देश-काल-परिस्थिति से मर्यादित है। दूसरे प्रकार के विचार उस देश-काल-परिस्थिति में सार्थक होते हुए भी संदर्भ बदलने पर ज्यों के त्यों सार्थक होंगे ही ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनसे दिशा-संकेत भले मिले, किंतु ज्यों का त्यों उन्हें लागू करने का आग्रह मात्र 'वाद' या 'इज्म' को जन्म देगा। 'इज्म' या 'वाद' की परिभाषा ही यह है कि वह विचारों का एक बंद दायरा है। हर जगह उसका आग्रह करने पर व्याख्या को लेकर मतभेद व मनभेद और फलस्वरूप आंदोलनों के बँटने के उदाहरण कम नहीं हैं। कम्युनिज्म, सोशलिज्म, कॅपिटेलिज्म, गाँधी इज्म आदि सब इसी लकीर का फकीर बनने की प्रवृत्ति के कारण बँटे हैं। डाक्टर हेडगेवार जी ने इसीलिए केवल मोटे-मोटे सिद्धांत बताए और कहा जब जैसी परिस्थिति निर्माण हो तो पाँच-सात लोग बैठो, साधक-बाधक विचार करो और सामान्य सहमति के रूप में जो निष्कर्ष निकले, उसके आधार पर कार्य करो। यही कारण है कि संघ आज पाँचवीं पीढ़ी में प्रवेश कर रहा है किंतु संघ का आंदोलन टुकड़ों में नहीं बँटा।

पूजनीय गुरुजी के विचारों का अध्ययन करते समय इस पहलू को ध्यान में रखना आवश्यक है। अध्यात्म के स्थायी अधिष्ठान पर ही उन्होंने विभिन्न सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक विषयों पर अपने विचार प्रकट किए, किंतु यह सब करते हुए भी समाज संगठन के स्थायी कार्य पर से उन्होंने दृष्टि नहीं हटने दी। वे स्वयं कहते हैं– 'सब में एक ही तत्त्व विद्यमान है इसलिए सबके संतोष में स्वयं संतोष अनुभव करना भारतीय परंपरा में समाज जीवन का आधार है'।[२] 'हम चाहते हैं कि इस सत्य

---

१. 'त्रिदल'– ले. श्री म.ह.गोडबोले, साधना मुद्रणालय, सांगली, पृष्ठ ६०-६१

२. समग्र दर्शन खंड ७, पृष्ठ ६०-६१

सिद्धांत से जीवन के सभी क्षेत्र अनुप्रेरित हों। परंतु क्या इसका अर्थ है कि संघ के नाते हम हर बात में हस्तक्षेप करते रहें? याने क्या जीवन के सब कार्यों को करनेवाला संघ ही हो?..... यदि प्रत्येक कार्य में हस्तक्षेप करने का विचार किया तो जीवन के प्रत्येक पहलू पर बड़े-बड़े 'थीसिस' तैयार करने होंगे। इस स्थिति में समाज संगठन का जो मूलगामी कार्य चल रहा है, वह बंद हो जाएगा, 'थीसिस' मात्र अपने हाथ लगेंगे। .....राष्ट्रजीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने के लिए जुटे हुए लोगों को पका-पकाया अथवा सधा-सधाया मसाला देते रहने का काम अपना नहीं है। सिद्धांत पर अटल रहते हुए उसे व्यवहार में उतारने का मार्ग विभिन्न क्षेत्रों में लगे हुए लोगों को ही सोचना होगा। यही ठीक भी है।'[१]

युगानुरूप समाजरचना का विचार करते समय पुराने और नए के बारे में क्या धारणा रखनी चाहिए इस संबंध में पूजनीय गुरुजी कहते हैं– 'हमारे समाज-पुरुष की सभी धमनियों में एक बार यह एकता का जीवन-स्रोत प्रवाहित होना आरंभ हो जाए तो हमारे राष्ट्रजीवन के सभी अंग स्वतः क्रियाशील हो जाएँगे तथा संपूर्ण राष्ट्र के कल्याण हेतु मिलकर कार्य करने लगेंगे। इस प्रकार का जीवित व वर्धमान समाज अपनी प्राचीन पद्धतियों एवं प्रतिमानों में से जो कुछ आवश्यक है और हमें प्रगति-पथ पर अग्रसर करने वाला है उसे सुरक्षित रखेगा तथा शेष को, जिनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है, फेंक देगा एवं उनके स्थान पर नवीन पद्धतियों का विकास करेगा। किसी प्राचीन व्यवस्था के समाप्त होने पर आँसू बहाने की आवश्यकता नहीं है और न नवीन वस्तुओं की व्यवस्था के स्वागत में पीछे हटने की आवश्यकता है। यही सब सजीव एवं वर्धमान शरीरधारियों की प्रकृति है। ज्यों-ज्यों वृक्ष बढ़ता है, पकी पत्तियाँ और सूखी टहनियाँ झड़ जाती हैं और उस वृक्ष की नूतन वृद्धि के लिए मार्ग प्रशस्त करती हैं। ध्यान में रखने की मुख्य बात यही है कि एकता का जीवन-रस हमारे ढाँचे के प्रत्येक भाग में परिव्याप्त रहे।'[२] .....'संघ का कार्य सर्वव्यापी कार्य है। परंतु सर्ववयापी किस प्रकार से है? प्रकाश सर्वव्यापी है परंतु वही सब कार्य नहीं करता। अंधकार को दूर हटाकर सबको मार्ग

---

१. समग्र दर्शन खंड ६, पृष्ठ ११०-१११

२. विचार नवनीत, पृष्ठ ११८

दिखाता है। इस तथ्य को भली-भाँति समझना होगा। फिर कोई गड़बड़ी नहीं होगी।'[1]

पूजनीय गुरुजी के इन विचारों के आलोक में हम उनके विशाल विचार-सागर में अवगाहन करें और उन विचारों के प्रकाश में राष्ट्रजीवन के सामने आज खड़ी चुनौतियों से निपटने के लिए युगानुरूप उपाय-योजना करें, यही समस्त सुबुद्ध अध्येताओं से अनुरोध है।

विजया एकादशी, युगाब्द ५१०६
(६ मार्च, २००५)

कुप्.सी.सुदर्शन
सरसंघचालक
राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

डा.हेडगेवार भवन
महाल, नागपुर

---

१. समग्र दर्शन खंड ६ , पृष्ठ ११०-१११

अनुक्रमणिका

आदरांजलि

पारिभाषिक शब्द

सरसंघचालक	–	संघ के मार्गदर्शक।
सरकार्यवाह	–	संघ के निर्वाचित सर्वोच्च पदाधिकारी।
संघचालक	–	स्थानीय कार्य व कार्यकर्ताओं के पालक।
मुख्यशिक्षक	–	नित्य चलनेवाली शाखा के कार्यक्रमों को संचालित करनेवाला।
कार्यवाह	–	शाखा क्षेत्र का प्रमुख।
गटनायक	–	शाखा क्षेत्र के एक छोटे भौगोलिक भाग का प्रमुख।
प्रचारक	–	संघकार्य हेतु पूर्णतः समर्पित अवैतनिक कार्यकर्ता।
शाखा	–	संस्कार निर्माण हेतु नित्यप्रति का एकत्रीकरण।
उपशाखा	–	एक स्थान पर चलने वाली विभिन्न शाखाएँ।
बैठक	–	विचार-मंथन व सामूहिक निर्णय-प्रक्रिया हेतु एकत्र बैठने की प्रक्रिया।
बौद्धिक	–	वैचारिक प्रबोधन का कार्यक्रम, भाषण।
समता	–	अनुशासन के प्रशिक्षण हेतु शारीरिक कार्यक्रम।
संपत्	–	कार्यक्रम प्रारंभ करने हेतु स्वयंसेवकों को निश्चित रचना में खड़ा करने की आज्ञा।
विकिर	–	शाखा-कार्यक्रम की समाप्ति की अंतिम आज्ञा।
दंड	–	लाठी।
चंदन	–	एक साथ मिल-बैठकर जलपान करना।
सहभोज	–	अपने-अपने घर से लाए भोजन को एक साथ मिल-बैठकर करना।
शिविर	–	कैंप।
संघ शिक्षा वर्ग	–	संघ की कार्यपद्धति सिखाने हेतु क्रमबद्ध त्रिवर्षीय प्रशिक्षण योजना।
सार्वजनिक समारोप	–	शिविर तथा वर्ग का अंतिम सार्वजनिक कार्यक्रम।
खासगी समारोप	–	वर्ग का केवल शिक्षार्थियों के लिए दीक्षांत कार्यक्रम।

खंड - १

आदरांजलि

श्री गुरुजी ने विशिष्ट अवसरों पर महापुरुषों को आदरांजलि देते हुए उनके बारे में अपने विचार प्रकट किए थे। उनका संकलन इस अध्याय के अंतर्गत प्रस्तुत है।

१. मेरे इष्टदेव : डाक्टर जी

आद्य सरसंघचालक डाक्टर हेडगेवार जी के महाप्रयाण के तेरहवें दिन अर्थात् ३ जुलाई १९४० को, नागपुर के रेशमबाग संघस्थान पर, नागपुर के समस्त स्वयंसेवक उपस्थित थे। उस समय नूतन सरसंघचालक के रूप में श्री गुरुजी का प्रथम भाषण।

आज आपके सामने खड़ा होकर बोलने के लिए मेरे पास कोई शब्द नहीं हैं। यह कल्पना ही बहुत भयंकर है कि आज हम लोग परमपूजनीय आद्य सरसंघचालक को श्रद्धांजलि समर्पित करने के लिए एकत्र हुए हैं। हम अपनी श्रद्धांजलि उन्हें किस प्रकार अर्पण करना चाहते हैं? हमारी माँ हम पर जिस प्रकार प्रेम करती है, वैसे ही प्रेम का अनुभव उनके सहवास में रहने पर हमें मिला है। उन्होंने हम पर मातृवत् प्रेम किया है। वह प्रेम शब्दों से प्रकट नहीं किया जा सकता।

आदर्श महापुरुष

'वस्तुतः निरपेक्ष मनुष्य ही प्रेम करना जानता है। बाकी के लोग केवल शब्दों का जाल फैलाते हैं।' कुछ समय पहले किसी ने मुझे पूछा था कि 'डाक्टर जी के विषय में आपका क्या ख्याल है?' मैं समझता हूँ कि इस प्रश्न का उत्तर देने की कोई आवश्यकता नहीं है।

डाक्टर जी स्वयं एक अत्युच्च आदर्श बन चुके थे। ऐसे महापुरुष के चरणों में जो नतमस्तक नहीं हो सकता, वह संसार में कुछ नहीं कर सकता। उनमें माँ का वात्सल्य, पिता का उत्तरदायित्व तथा गुरु की शिक्षा का समन्वय था। ऐसे महान व्यक्ति की पूजा करने में मुझे अतिशय गर्व मालूम होता है। यदि मैं ऐसा कहूँ कि वे ही 'मेरे इष्ट देव' थे, तो इसमें

किंचित् भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। डाक्टर जी की पूजा व्यक्तिपूजा नहीं हो सकती और यदि उसे कोई व्यक्तिपूजा समझे, तो भी मुझे उसमें अभिमान ही होगा।

उनके प्रति यह सद्भाव तथा यह आदरवृत्ति मुझमें एक दिन में उत्पन्न नहीं हुई। आदमियों को परखने की मेरी वृत्ति अत्यंत छानबीन की है। आरंभ में मैं उन्हें केवल एक निराली पद्धति से काम करनेवाला एक नेता मात्र समझता था। उसके अतिरिक्त डाक्टर जी के प्रति मेरे मन में किसी भी प्रकार की भावनाएँ नहीं थीं। किंतु केवल पंद्रह-सोलह दिन के निरंतर सहवास से मुझे अनुभव हुआ कि इस सर्व साधारण मनुष्य की तरह रहनेवाले व्यक्ति में सचमुच ही कुछ असाधारणता है। किसी प्रकार का सहारा न होते हुए भी इतना प्रचंड कार्य करनेवाला व्यक्ति सचमुच में एक महान् विभूति ही हो सकता है।

अतः व्यक्ति, इस नाते से भी उनकी पूजा करने से मैं न हिचकिचाऊँगा। चंदन, पुष्प आदि से पूजा करना तो हेय मार्ग है। जिसकी पूजा करना उसके समान बनने का प्रयत्न करना, यही सच्ची पूजा है। 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्' यही तो हमारे धर्म की विशेषता है। हमें इसी प्रकार की पूजा करनी चाहिए।

डाक्टर जी की दी हुई इस पूँजी के भरोसे हमें आगे बढ़ना है। राष्ट्र के लिए हृदय के तार-तार में कसक होती रहे, राष्ट्रविषयक इतनी आत्मीयता हममें होनी चाहिए। भावावेश में आकर एक सामान्य मनुष्य भी हुतात्मा बन सकता है। किंतु दिनोंदिन शरीर को घुलाना तथा वर्षानुवर्ष अपने आपको कण-कण जलाते रहना केवल अवतारी पुरुष का ही काम है। यदि हम परमपूज्य डाक्टर जी के दिव्य आदर्श का पालन प्रामाणिकता के साथ करें और जहाँ पर उन्होंने इस महान संगठन के सूत्र को छोड़ा है, वहाँ से उसे उठाकर आगे ही बढ़ाते ले जाएँ, तभी यह कहा जा सकेगा कि हमने अपने कर्त्तव्य का पालन ठीक रीति से किया है। उनकी कृपा तथा बलिदान से हमारा कार्य पूर्ण होगा ही।

असंभव को संभव किया

डाक्टर साहब के कार्य की परिणति पंद्रह साल में एक लाख स्वयंसेवक संगठित होने में हुई, इससे अधिक संगठन न हो सका। इस संबंध में बहुधा लोग कई प्रकार से तर्क-वितर्क करते हैं और कभी-कभी

यह भी कहने का साहस करते है कि डाक्टर जी की विभूति ही अपर्याप्त थी। परंतु वास्तव में उनकी महत्ता में रंचमात्र भी न्यूनता नहीं थी। हम लोग ही उनके सच्चे अनुयायी होने के अपात्र सिद्ध हुए। हिंदू-समाज के पत्थरों में से एक लाख चैतन्ययुक्त मूर्तियों का निर्माण होना ही उनकी महानता का प्रमाण है। आज तक 'संगठन चाहिए' का शोर मचानेवाले कई लोग हुए, किंतु सच्चे हृदयों का अभेद्य संगठन किसने निर्माण किया? एक-एक स्वयंसेवक के विषय में चिंता करनेवाले हजारों हृदय किसने निर्माण किए? डाक्टर जी ने असंभव को संभव कर दिखाया।

मूकं करोति वाचालं

डाक्टर जी की पूजा करने के लिए हम लोग श्रद्धापूर्वक एकत्र हुए हैं। इस संगठन के द्रष्टा की पूजा करने का एकमेव मार्ग है, अपने संकीर्ण व्यक्तित्व को भुलाकर इस संगठन रूपी विराट देह का संवर्धन करना। हम 'डाक्टर साहब के पुजारी' कहलाने के अधिकारी तभी बनेंगे, जब जिस ध्येय की प्राप्ति के लिए यह संगठन निर्माण किया गया है, उस ध्येय को शीघ्र प्राप्त करने के निश्चय से हम अपने-अपने स्थान पर संघकार्य में जुट जाएँगे।

डाक्टर जी ने मुझ सरीखे बिल्कुल साधारण मनुष्य पर इस प्रचण्ड कार्य का भार सौंपा है। उनका यह निर्वाचन देखकर मुझे श्रीरामकृष्ण परमहंस की एक बात याद आती है– उनके एक धनवान शिष्य के घर में एक अति मूर्ख तथा निरुपयोगी लड़का था। पर वह श्री रामकृष्ण जी के लिए नित्य, नियमितता से पूजा के लिए फूल ला दिया करता था। श्री रामकृष्ण जी ने उस लड़के को अपने पास रख कर 'अ' सिखाने का प्रयास किया। छः मास तक माथा-पच्ची करने पर भी वह 'अ' तक न लिख सका। पर श्री रामकृष्ण जी के स्वर्गवास के पश्चात् वह लड़का उनके आशीर्वाद से उपनिषद् जैसे ग्रंथों पर प्रवचन करने लगा और बड़े-बड़े विद्वानों को भी ज्ञानामृत देने लगा।

महापुरुष केवल अपने स्पर्श से किसी भी मनुष्य में महान योग्यता उत्पन्न करते हैं तथा उसे उच्चपद पर पहुँचा सकते हैं। डाक्टर जी के पुण्य प्रसाद और आशीर्वाद से मेरे विषय में भी वैसी ही परिस्थिति होगी, ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास है।

विक्रमादित्य का सिंहासन

परमपूजनीय डाक्टर जी ने मुझ पर सरसंघचालकत्व की कल्पनातीत

महत्त्व की जिम्मेदारी का कार्य सौंपा है। किंतु यह तो है विक्रमादित्य का सिंहासन। इस पर बैठनेवाला गड़रिये का लड़का भी योग्य न्याय ही करेगा। आज इस सिंहासन पर बैठने का प्रसंग मुझ जैसे साधारण मनुष्य को प्राप्त हुआ है। किंतु डाक्टर जी मेरे मुँह से योग्य बातें ही कहलाएँगे। इसमें कोई शंका नहीं कि हमारे महान नेता के पुण्य-प्रताप से, मेरे हाथ से योग्य बात ही होगी। यदि कुछ त्रुटियाँ हुईं तो मैं दोषी होऊँगा।

अब हम पूर्ण श्रद्धा के साथ अपने कार्य में अग्रसर हो जाएँ। यह संघकार्य पहले जैसी निष्ठा से, किंतु दूने उत्साह और अधिक वेग से आगे बढाएँ। यह जबरदस्त संगठन हमें सौंप कर डाक्टर जी चल बसे हैं। अब अनेक उपदेशक हमें उपदेश देने के लिए आगे आएँगे, किंतु मैं इन सभी उपदेशकों को नम्रतापूर्वक, पर स्पष्ट रूप में यही कहना चाहता हूँ कि 'हमारे डाक्टर जी ने मत-मतांतरों के कोलाहल में विलीन होने लायक पिलपिला संगठन हमारे स्वाधीन नहीं किया है। हमारा संगठन एक अभेद्य किला है। इसकी दुर्गाबंदी पर चंचु-प्रहार करने वालों की चोंचें टूट जाएँगी। इतनी दृढ़ तथा मजबूत मोर्चेबंदी हमारे डाक्टर जी ने कर रखी है। हमारा मार्ग उन्होंने निश्चित रूप से निर्धारित कर दिया है और हम लोग उसी मार्ग से जाएँगे ऐसा हमने दृढ़ निश्चय किया है। इसी में राष्ट्र का अंतिम कल्याण है और केवल इसी मार्ग से हिंदू जाति को पूर्व वैभव के मंगल दिवस प्राप्त होनेवाले हैं। किसी भी प्रकार के विरोध की परवाह न करते हुए तथा सब प्रकार के मतभेदों के बवंडर में न फँसते हुए हम अपने मार्ग पर अटल रहें। सब मित्र बंधुओं के सहकार्य से डाक्टर जी के इस कार्य की इष्ट सिद्धि हम प्राप्त कर ही लेंगे, ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास है।

२. मेरा उत्तरदायित्व

परम पूजनीय डाक्टर जी के प्रथम मासिक श्राद्धदिन के लिए सारे भारतवर्ष से, जगह-जगह के संघचालक, प्रचारक तथा कार्यकर्ता नागपुर के रेशमबाग संघस्थान पर एकत्र हुए थे। संघ के अतिरिक्त नागपुर के निवासी तथा नेतागण प्रचंड

समुदाय में उपस्थित थे। उस समय २१ जुलाई १९४० को सरसंघचालक के नाते श्रद्धांजलि का दूसरा भाषण।

इस अवसर पर मेरी मनःस्थिति बड़ी ही विचित्र है। अभी तक जो भाषण हो चुके हैं, उनके उपरांत मैं कुछ बोल सकूँगा, ऐसा मुझे प्रतीत नहीं होता। हम लोग अपना एकमेव नेता खो बैठे हैं। इससे अधिक भयंकर दुःखद घटना और कोई हो सकेगी, ऐसा मैं तो नहीं मानता।

परम पूजनीय डाक्टर जी की इच्छा तथा आज्ञा के कारण मैं इस स्थान पर आरूढ़ हुआ हूँ। मेरे संबंध में अभी तक जो कुछ कहा गया है, वह केवल डाक्टर जी के पुण्यप्रताप का फल है, मैं ऐसा समझता हूँ। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का संगठन अमर है। यद्यपि साक्षात् उसके संस्थापक, आद्य सरसंघचालक इस लोक से प्रस्थान कर गए हैं, तो भी यह संगठन सदैव बढ़ता ही जाएगा। 'आज तक के सारे आंदोलन व्यक्तिनिष्ठ थे, पर हमारा संगठन तत्त्वनिष्ठ है, यह हम संसार को दिखा देंगे।' कुछ लोगों का ऐसा आक्षेप था कि हम स्वयंसेवक व्यक्तिपूजक हैं। इसका हमें दुःख नहीं। परंतु डाक्टरजी के बाद भी संघ के सब स्वंसेवक पूर्ववत् कार्य कर रहे हैं, इससे क्या यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि डाक्टर जी ने हमें अंधश्रद्धा नहीं सिखाई है।

अतींद्रिय दृष्टि

मैं यह नहीं जानता कि डाक्टर जी ने मुझे इस महान पद पर क्यों नियुक्त किया, परंतु मैं इतना अवश्य जानता हूँ कि मुझ पर उनका असीम प्रेम था। वह प्रेम, जिसकी तुलना में पिता-पुत्र का अथवा गुरु-शिष्य का प्रेम भी फीका मालूम पड़ता है। मैं यह बात भली-भाँति जानता हूँ कि डाक्टर जी को अतींद्रिय दृष्टि थी, इसका मुझे दृढ़ विश्वास होने के कारण, उनकी आत्मा मुझे प्रेरित कर मुझसे उपयुक्त सेवा करा लेगी, इसमें मुझे संदेह नहीं है। मैंने अपना तन, मन और आत्मा परम पूजनीय डाक्टर जी के अधीन कर दिए हैं। वे उनका योग्य उपयोग कर लेंगे, यही मेरी दृढ़ श्रद्धा है।

एक ही ध्येय – एक ही मार्ग

हमारे इस संगठन के संबंध में लोग तरह-तरह के प्रश्न पूछते रहते हैं। भविष्य में संघ किस मार्ग का अनुसरण करेगा, इसके संबंध में भी प्रश्न

पूछे जाते हैं। वास्तव में संघ का ध्येय और कार्य निश्चित ही है। संघ की ध्येय-दृष्टि अचल है, इसमें भविष्य में कभी भी अंतर होने का कोई कारण नहीं। संघ को किसी प्रचलित राजनीत्ति या आंदोलन में भाग नहीं लेना है। डाक्टर जी के द्वारा प्रदत्त दृष्टि और निर्धारित मार्ग के अनुसार ही हम लोगों ने अपना कार्य करते रहने का निश्चय किया है।

डाक्टर जी के पश्चात् संघ का क्या होगा? इस प्रकार की शंका कई लोगों के मन में उठती है। सच पूछो तो इस प्रश्न के उपस्थित होने का कोई कारण नहीं है। यह सुनिश्चित है कि किसी भी प्रकार की प्रतिकूल परिस्थिति में साहस के साथ अपना मार्ग निकालते हुए, सब प्रकार के संकटों को कुचलते हुए तथा उनकी परवाह न करते हुए संघ अपने विशिष्ट मार्ग से निरंतर प्रगतिपथ पर अग्रसर रहेगा। हम पर जितने आघात होंगे, उतनी ही अधिक शक्ति से रबर की गेंद के समान उछलकर हम ऊपर ही उठेंगे। हमारी शक्ति अबाधित रूप से बढ़ती ही जाएगी और एक दिन वह सारे राष्ट्र में व्याप्त हो जाएगी। हमको किसी का भी भय नहीं हैं। हम ऐसी प्रचंड और संगठित शक्ति का निर्माण करेंगे, जिसके वर्धमान तेज से अत्याचारी दुर्जन भयभीत हो जाएँ। एक ध्येय और एक ही मार्ग निश्चित कर, उसी से हम लोग बढ़नेवाले हैं, इसके संबंध में आपको पूरा विश्वास रहे।

सच्चा स्वयंसेवक

नेता होने की आकांक्षा मुझे कभी नहीं थी। किसी एक महान तत्त्व का सेवक बनकर रहने की मेरी एकमात्र इच्छा थी। उस तत्त्व का दर्शन करानेवाला आदर्श पुरुष मुझे मिला, इसका मुझे पूरा संतोष है। 'जिसके हृदय में सेवा करने की लगन विद्यमान हो, वही संघ का सच्चा स्वयंसेवक अथवा अधिकारी हो सकता है।' डाक्टर जी ने मुझे सेवा करने का आदेश दिया है।

यों तो प्रत्येक स्वयंसेवक राष्ट्रकार्य हेतु सर्वस्व अर्पण करने की प्रतिज्ञा करके ही संघ में आता है। यह नैतिक जिम्मेदारी स्थान-महात्म्य के कारण मुझ पर और भी अधिक आ पड़ी है, मुझे इसका पूरा स्मरण है। इसके लिए मैं पूर्णरूपेण उद्यत भी हूँ। मुझमें मेरा स्वयं का कुछ नहीं है, जो कुछ है वह केवल डाक्टर जी की देन है। इसमें कोई संशय नहीं कि उनकी तपस्या के बल पर सभी कार्य यथोचित ही होंगे। प्रत्येक स्वयंसेवक के हृदय में जलनेवाली ज्योति हम सबको अपना-अपना कर्त्तव्य पूरा करने के लिए

आवश्यक प्रकाश प्रदान करेगी, इसका मुझे पूरा भरोसा है। डाक्टर जी की मूल कल्पनाओं के अनुसार ही संघ आज भी प्राणपण से कार्य कर रहा है। और आगे भी करता रहेगा।

हमें आशा है कि अपने महान उद्देश्य की पूर्ति होते हम शीघ्र अपने सामने ही देखेंगे।

३. अजातशत्रु व्यक्तित्व

(पुणे नगरपालिका के सभागृह में स्वर्गीय डा. हेडगेवार जी के तैलचित्र का अनावरण समारोह, ६ सितंबर १९४०)

स्व. डा. हेडगेवार जी और उनके सहयोगी स्वयंसेवकों के एक परिवार के सदस्य जैसे पारस्परिक संबंध थे। कहा जाता है कि दुःख के प्रसंग का कालांतर से विस्मरण होता है, परंतु डा. हेडगेवार जी की मृत्यु इसका अपवाद है। जैसे-जैसे अधिकाधिक समय बीतता जा रहा है, वैसे-वैसे उनके तिरोधान से उत्पन्न हुई न्यूनता मेरे मन को अधिकाधिक कोंच रही है।

डाक्टर हेडगेवार जी का हृदय जितना उदार था, उतना ही स्नेहमय भी था। हिमालय की उत्तुंगता, परम पवित्रता और उदारता का त्रिवेणी-संगम उनमें हुआ था। उनके विषय में जितना कहा जाए, उतना थोड़ा ही है। मैं केवल यही कहूँगा कि वे एक विभूति थे। सूर्य की प्रखरता और चंद्रमा की शीतलता दोनों से ईश्वर ने उनका अंतःकरण बनाया था। वे बीसवीं शताब्दी के अजातशत्रु युधिष्ठिर थे। मुझे यह देखकर परम संतोष हुआ कि पुणे नगर श्रेष्ठ पुरुषों का स्मरण रखता है।

४. संघ-प्रासाद के निर्माता

(प्रांत के ग्रामीण क्षेत्र के कार्यकर्ताओं की बैठक, पुणे, ५ दिसंबर १९४२)

'संघ के लिए हम हैं, अपने लिए संघ नहीं है' यह धारणा प्रत्येक स्वयंसेवक की होनी चाहिए। 'सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः'

अर्थात् तरंग समुद्र का अंग हैं, समुद्र से तरंग का पृथक् अस्तित्व नहीं है। यह अभेदता आवश्यक है। यह धारणा हो तो कौशल्य, कला, समयज्ञता, दृढ़ता आदि गुण स्वयंसेवकों में प्रकट होंगे। ये गुण पूर्ण तन्मय वृत्ति अपनाने से निर्मित होते हैं। तन्मयता निर्माण करने का यह मार्ग संघ ने बतलाया है। इसके लिए प्रखर बुद्धिमत्ता आवश्यक नहीं है। अपने डा. हेडगेवार कहाँ बड़े पंडित थे?

एक बार एक सज्जन उनके पास आए और बोले– 'आपने हिंदू शब्द कहाँ से खोज निकाला?' डाक्टर हेडगेवार जी ने कहा– 'आपने मुझे क्या पंडित समझा है? मैं विद्वान् नहीं हूँ। कृपया, मुझसे पांडित्य के प्रश्न न पूछें। मैं एक समाजसेवक हूँ। कार्य के बारे में पूछेंगे, तो कुछ बतलाऊँगा।'

जिसे वर्तमान युग में विद्वान कहा जाता है, उस अर्थ में वे विद्वान नहीं थे।

निरक्षर शिष्य की निष्ठा

श्री रामकृष्ण परमहंस के एक शिष्य अक्षर-शत्रु थे। वे अत्यंत पवित्र, श्रद्धायुक्त तथा अपने आराध्य से तन्मय होने के कारण ज्ञानी थे, परंतु थे बिल्कुल निरक्षर। अपना नाम, ग्राम, आयु तक नहीं बता पाते थे। वाटिका में से फूल लाकर रामकृष्ण को दिया करते थे। श्री रामकृष्ण ने ढाई साल तक उन्हें पढ़ाने की कोशिश की। परिश्रम व्यर्थ रहा। परंतु श्री रामकृष्ण की मृत्यु के बाद वे धड़ाधड़ वेदांत बोलने लगे। अंतःकरण की तन्मयता के कारण उनके हृदय में ज्ञानोदय हुआ। बड़े-बड़े विद्वान पंडित उनके प्रवचन सुनकर दाँतों तले अँगुली दबाते थे।

डा. हेडगेवार ज्ञानी नहीं थे। वे अंतःकरण गढ़ते थे। उनकी मृत्यु हुए कुछ साल बीत चुके हैं, मगर आज भी कार्य केवल चल ही नहीं रहा, बढ़ रहा है। उन्होंने जो प्रेरणा दी उसका तेज वैसा ही चिरंतन है। मैं नहीं बता पाऊँगा कि वे स्वयंसेवक के अंतःकरण कैसे गढ़ते थे। यादवराव जोशी डा. हेडगेवार के यहाँ दस-बारह वर्षों तक पुत्र के समान रहे थे। डाक्टर जी की उन्होंने निष्ठापूर्वक सेवा की, परंतु डाक्टर जी ने उनको कभी बौद्धिक उपदेश नहीं किया। बोल-चाल में संघ-नाम का उल्लेख भी नहीं किया।

मैं और डाक्टर जी

मेरा भी ऐसा ही अनुभव है। मुझ पर संघ-संस्कार कब हुए, पता भी नहीं चला। मैं बहुत घुमक्कड़ था। पाठशाला में ठीक व्यवहार नहीं करता था, परंतु पढ़ाई अच्छी थी। परीक्षा के कुछ समय पूर्व थोड़ा अभ्यास कर अच्छी तरह पास हो जाता था। कॉलेज की पढ़ाई भी इसी प्रकार हुई। तब संघ संस्कार कैसे हुआ, यह एक तो भगवान जानते हैं या डा. हेडगेवार।

एक बार भूल से हेडगेवारजी का भाषण सुना। मुझे अपनी बुद्धिमत्ता पर बड़ा घमंड था। परंतु डाक्टर जी के भाषण में ऐतिहासिक संदर्भ, तत्त्वज्ञान की चर्चा, सिद्धांतों का खंडन-मंडन नहीं था।

डाक्टर जी बोले– 'स्वयंसेवक बन्धुओ निष्ठा और प्रेमपूर्वक संघकार्य करो।'

बिल्कुल सीधा-साधा भाषण था। उस भाषण में मुझे विद्वत्ता नहीं दिखाई दी, उसमें जो स्नेहार्द्रता थी, कोई शुष्क-हृदय कैसे समझेगा? विद्वत्ता का कठिन आवरण मेरे चारों ओर पड़ा हुआ था। उसे भेदकर वह स्नेहार्द्रता रिसती गई। मैं विद्वान था, तो डाक्टर जी के भाषण में लगन थी। वह पग-पग पर अनुभव हो रही थी। इसलिए सिद्धांतों के संबंध में कुछ भी चर्चा न करते हुए वह व्याकुलता मेरे हृदय में रिसती गई। मेरी उनसे भेंट कभी-कभार होती रहती थी। मुझे उनका कुछ सहवास मिला और विलक्षण परिवर्तन हो गया। मेरे जीवन को निश्चित् दिशा मिली। डाक्टर जी के सहवास में मैं रहा तो बहुत, परंतु सिद्धांत-चर्चा कभी नहीं हुई, फिर भी मेरा घमंड पिघल गया, मन में परिवर्तन हुआ, मुझ पर संस्कार हुआ।

डाक्टरजी ने मेरे अभिमान को झकझोर डाला। मेरी विद्वत्ता उनके सामने नहीं टिकी। मेरी प्रारंभिक धारणा कैसे और क्यों मिटी, यह बतलाना मेरे लिए कठिन है, परंतु मन में संघ का प्रवेश हुआ। संत ज्ञानेश्वर कहते हैं–

अनुभवाचि जोगे। नोहे बोला ऐसे।। (ज्ञानेश्वरी)।।

'यह अनुभव से होता है, बोलने से नहीं।' मुझे आज भी इस बात का आश्चर्य होता है। सबसे अद्‌भुत बात तो यह है कि इस तरह के

समर्पण में दुःख और क्षोभ नहीं है। अहंकारी को नम्र होना पड़े तो वह बहुत क्रोधित होता है। परंतु इन संस्कारों से मुझे शान्ति मिली। इसका एक कारण है कि जिनसे संपर्क हुआ, उनका मन बहुत ही विशाल था। उसके कारण ही यह सहजता से हुआ। गिलास में मकान डूबता नहीं है, परंतु महासागर में सब कुछ डूब जाता है। उनके अंतःकरण की विशालता में शत्रु-मित्र दोनों को स्थान था। निरपेक्ष देश-सेवा के अलावा अन्य विचारों के लिए कोई स्थान नहीं था। इस गुण के कारण हर कोई उसमें डूब जाता था।

प्रत्येक कथन का समापन संघकार्य में

उनकी प्रत्येक कृति में संघ भरा रहता था। प्रत्येक बोलने का तात्पर्य संघ रहता था। लकड़ी काटने की कला, भूख क्यों नहीं लगती, खाना, घूमना, भूनी हुई ज्वार या चना फाँकना आदि मामूली विषयों पर बोलते समय अंत में स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता था संगठन, अन्य विचार नहीं। बोल-चाल की यह कला थी उनमें। उनका अंतःकरण संपूर्णतया संघ के साथ समरस हो गया था। इसीलिए उनके हास्य-विनोद में से संघ का जन्म हुआ। सहवास में आने वाले मनुष्य में परिवर्तन होने लगा। संघमय जीवन के कारण 'संघ' नाम के उच्चारण की आवश्यकता नहीं हुई, उद्दिष्ट बताने का कारण नहीं रहा।

बौद्धिक संतोष और सहवास

उनकी बैठक में एक बार जाने से लगता था कि, संपूर्ण वातावरण में संघ है। डाक्टरजी के समान जिसके मन की अत्युत्कट अवस्था होती है, उसका मौन भी व्याख्यान होता है। लगता था कि हवा में से अंतःकरण पर आघात हो रहा है।

सत्य यह है कि मनुष्य को बुद्धिवाद से जीतना संभव नहीं है। इस तरह संघ में आनेवालों की संख्या बहुत कम दिखाई देगी। इसका अर्थ यह नहीं कि लोगों को 'बौद्धिक' समझता नहीं है। सबको समझता है। ऐसे असंख्य लोग हैं जिनका बौद्धिक-संतोष हुआ है, तब उनमें से स्वयंसेवक क्यों नहीं बनते? बुद्धिवाद से बौद्धिक संतोष होता है, परंतु बुद्धि का कवच तोड़कर बुद्धिवाद अंतःकरण में प्रवेश नहीं कर पाता। उसमें हृदय की ऋजुता नहीं है। संघ तो सहवास से समझ में आता है।

संघ-वृत्ति से व्यक्तियों को भरना हो, तो उसका उपाय बौद्धिक वर्ग या भाषण नहीं है। इस वृत्ति का निर्माण कैसे किया जाए, यह संघ-निर्माता का जीवन बतलाता है। अत्यंत विशाल अंतःकरण, स्वयंसेवकों पर माता-पिता से भी अधिक उत्कट और अलौकिक प्रेम, उज्ज्वल चारित्र्य, अत्यंत प्रखर कार्य-निष्ठा के कारण वह संभव हुआ। उनके अद्भुत स्नेह से अंतःकरण पूर्णतः विगलित होकर संस्कारित होता था। जिस प्रकार मूर्तिकार पाषाण में से मूर्ति का निर्माण करता है, उसी प्रकार अत्यंत कुशलता से बुद्धि का कवच तोड़कर स्वयंसेवकों के मन पर संस्कार कर डाक्टर जी ने उन्हें आकार दिया।

स्वयं में झाँके

उस वृत्ति का निर्माण कौन कर सकता है? 'परमपिता के समान पूर्णता प्राप्त करने के लिए, पहले स्वयं पूर्ण बनो।' (To be perfect as the Father in the heaven, be yourself perfect first)– इस वचन के अनुसार लोगों पर संस्कार करने के पूर्व स्वयं को संस्कारित करना पड़ेगा।

हम विचार करें कि हमारा हृदय विशाल हुआ है क्या? जिस प्रकार पक्षी घोंसले में रहता है, क्या उसी प्रकार स्वयंसेवक अपने अंतःकरण में बैठा है? क्या अपने विचारों में दृढ़ता आई है? इस प्रकार हम अपने हृदय की परीक्षा करें। ऐसा हुआ हो, तो उत्तम है, न हुआ हो तो प्रारंभ करो। डाक्टर जी के समान ज्वलंत, प्रखर निष्ठावान बनो।

डाक्टर जी का अंतरंग सहज प्रकट नहीं होता था। जिन्होंने डाक्टर जी का प्रत्यक्ष जीवन देखा था, उनमें से बहुतों को वह समझा नहीं। उन्हें लगता था कि नेता वह है, जो कम बोलता है और गंभीर रहता है। डाक्टर जी पालथी मारकर युवकों के बीच हास्य-विनोद करते हुए बैठे दिखाई देते थे। यह हास्य-विनोद ही संघ-प्रासाद की नींव थी। वह अनेकों को दिखाई नहीं पड़ी और न ही समझ में आई। इस हास्य-विनोद के पीछे न उलझने वाला कठोर बल था।

इतनी प्रखर निष्ठा अपने पास है क्या? जिसमें निष्ठा नहीं, वह क्या काम करेगा? संघ के समान असाधारण कार्य पूर्ण निष्ठा के बिना असंभव है। मन की दृढ़ वृत्ति से यह काम होगा, क्योंकि प्रत्येक देहात में संघकार्य पहुँचाना है।

अखंड तैलधारा

हमें प्रमुख, उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार करनेवाले, ध्येयवादी कठोर निश्चयी, अपना सब कुछ संघ को समर्पित करनेवाले युवकों को एकसूत्र में पिरोना है। अपने स्वयं से प्रारंभ कर यह उत्तरदायित्व ग्रहण किया जाए। संघ के इसी मार्ग से हृदय-द्वार खुले रखकर हम आगे बढ़ें। अपने अंतःकरण में अन्य वृत्तियों के लिए कोई स्थान न रहे। सुवर्ण के कण-कण को तोड़ा गया तो भी शुद्ध सुवर्ण ही मिलता है, उसी प्रकार अपने मन का कण-कण संघमय रहना चाहिए। अखंड तैल-धारा के समान अपनी वृत्ति एकाग्र रहनी चाहिए। इतनी तन्मयता हो कि अपने सारे व्यवहार– भोजन, शयन आदि संघ के लिए ही हों।

दूसरे के शरीर से एक बूँद भी रक्त बहते देखकर व्याकुलता अनुभव करनेवाली स्नेहमयता और कार्य के प्रति प्रखर निष्ठा डाक्टर जी के पास थी। इसीलिए चट्टान पर वाटिका खिली। अत्यंत परिश्रम सहकर और अपना रक्त सींचकर डाक्टर जी ने यह जमीन जोती। इस प्रकार मशक्कत की गई जमीन हमें उपलब्ध हुई है। इसलिए सब स्वयंसेवक एकाग्र मन से कार्य करेंगे, तो वह अवश्य होगा। अपना हृदय विशाल बने। हृदय स्नेह से लबालब भरा हो।

आपत्तिकाल में परिस्थिति से संघर्ष करते समय हँसनेवाले डाक्टर जी स्वयंसेवकों को होनेवाले कष्टों से रो पड़ते थे। हम उन्हीं के कदमों पर चलनेवाले हैं। उनके समान हमारी भी अवस्था होती है क्या? होती हो, तो फिर अपने राष्ट्र का भाग्योदय बिल्कुल समीप है। उतनी मर्यादा, प्रखरता और स्नेहमयता तक हमें पहुँचना है।

आपमें से अनेक लोग डाक्टर जी के समकालीन हैं। आपने उनका उज्ज्वल चरित्र देखा है। डाक्टर जी संघ के जन्मदाता हैं, हम उनके अनुयायी हैं और जिम्मेदार अधिकारी हैं। हमने यदि इस अवसर से लाभ नहीं उठाया तो यह अवस्था होगी कि गंगा आई और लुप्त हो गई। डाक्टर जी के बारे में लोगों की इस धारणा कि 'हास्य-विनोद करने वाला एक व्यक्ति' को अवकाश न दिया जाए।

गंगा में हम लोग पूरी डुबकी लगाते हैं, अंतर्बाह्य शुद्ध होते हैं। इस तरह प्रखर ध्येय-निष्ठा से यदि हम काम में जुट जाएँ और अपने आचरण में वह ध्येय-निष्ठा प्रकट करें, तो कार्य-वृद्धि में विलंब नहीं होगा।

सत्त्वसंपन्न शब्दों का प्रचंड सामर्थ्य

कर्तृत्व के साथ एक और बात पैदा होती है, वह याने मनुष्य का स्वभाव उग्र होना। कभी-कभी मनुष्य उद्धत बन जाता है। हमें इस अवगुण से बचना चाहिए। 'कर्तृत्व हो और वह प्रकट भी हो, परंतु उसका बोध हुआ कि 'मैं करता हूँ,' तो अभिमान पैदा होता है।' वह नहीं चाहिए। अभिमान के साथ उग्रता बढ़ती है। उग्रता से मन पर काबू पाने की क्षमता घटती है। मनुष्य को जो नहीं बोलना चाहिए, वह बोलने लगता है। जो नहीं करना चाहिए वह करने लगता हैं। तेज जबान चलाए बिना उसे संतोष नहीं होता। इस अवगुण से हमें सावधान रहना चाहिए। अनर्गल बोलने से यदि काम हुआ होता, तो संघकार्य चलाने की आवश्यकता नहीं होती। भारत जैसा बकबक करनेवाला अन्य देश नहीं है। परंतु बकबक से काम नहीं होता। बहुत उग्र और भीषण बोलने से क्या श्रद्धा पैदा होगी?

अपने डाक्टर जी का बोलना, भाषण, कितने सरल, कितने शुद्ध और कितने सात्विक होते थे, परंतु उन शब्दों में पत्थर तोड़ने की प्रचंड शक्ति होती थी। सन् १९४० के संघ शिक्षा वर्ग में जिन्होंने डाक्टर जी का भाषण सुना होगा, उनके मन पर डाक्टरजी के शब्द पत्थर की लकीर के समान अंकित हुए होंगे। पूरे वर्ग में वे बोल नहीं सके थे, अस्वस्थता के कारण उनका सारा समय निद्रा-शून्य अवस्था में बीतता था। अंत में समारोप के समय मैं उपस्थित रहूँगा इस निश्चय से वे आए और केवल दस मिनट बोले। उनका वह भाषण प्रकाशित हुआ है। उसमें युद्ध, तलवार, भाला, बंदूक, बमविस्फोट, रक्त आदि शब्दों का उल्लेख नहीं है। परंतु वैसा प्रभावी भाषण किसी का भी नहीं होगा। उस समय कुछ स्वयंसेवक भावनावश मूर्च्छित हो गए थे। बोलने की ऐसी कुशलता डाक्टर जी में थी। श्रेष्ठ कर्तृत्व रहते हुए भी अभिमान यत्किंचित् भी नहीं था।

तेज बुखार में भी मन पर नियंत्रण

अंतिम बीमारी में उनकी मृत्यु हुई। उसके कुछ पूर्व वायुपरिवर्तन के लिए दो मास तक उनका निवास देवलाली में था। उस समय वे निमोनिया से पीड़ित थे। नासिक जिला संघचालक डा. दामले की औषधि से वे उस बीमारी से अच्छे हुए। निमोनिया के तेज बुखार में डाक्टर जी बड़बड़ाते थे, परंतु मिलने के लिए आए व्यक्ति से बिल्कुल सुसूत्र बोलते थे।

एक बार बहुत रात बीते तीन सज्जन उनसे मिलने के लिए आए

डाक्टर जी को १०३ डिग्री बुखार था। हमने उन सज्जनों को रोका। परंतु उन तीन सज्जनों ने यह कहते हुए कि हम केवल उनके दर्शन ही करेंगे, भीतर प्रवेश किया। लेकिन उन सज्जनों ने भीतर जाकर एकदम बातचीत प्रारंभ कर दी। जन्मजात शालीनता के कारण डाक्टर जी तुरंत उठ बैठे। परस्पर कुशल समाचार पूछा। वे क्या सुन रहे हैं, इसका डाक्टर जी को भान नहीं था। उन्होंने कहा– 'पहले आप गुरुजी से वार्तालाप कर लो। वे मुझे सब बता देंगे। इस समय मैं कुछ विचार नहीं कर सकता।'

रात के दो बजे तक उन सज्जनों का समय भोजनादि और गपशप में बीता। परंतु मुझे सबसे अधिक आश्चर्य इस बात से हुआ कि जिस बुखार में डाक्टर जी बड़बड़ाते थे, उसमें भी वे ठगे नहीं गए। मन पर काबू रखने की यह शक्ति उनके अनुपम कर्तृत्व में समाई थी। संपूर्ण कर्तृत्व हजम करने पर ही, यह संभव होता है।

भाषण कैसा हो?

उग्र बोलने से वृत्ति नहीं बनती है। 'अधजल गगरी छलकत जाए', परंतु अत्यंत गहरा गंगा का प्रवाह शांति से बहता है। उग्र भाषण से भावनाएँ क्षण भर में भड़क सकती हैं। बहुत कर्तृत्व हो, तो बहुत मौन चाहिए। लोग भले ही टीका-टिप्पणी करें।

जिस अपने हिंदू समाज में निरंतरता का गुण अपवादात्मक है, उसमें भी इतनी संख्या में लोग निरंतर कार्य कर रहे हैं, यह किस बात का द्योतक है? यह प्रत्यक्ष कृति से संभव हुआ है, दृढ़ संस्कारों की परिणति है, केवल बोलने से नहीं हुआ है।

भाषणों में व्यर्थ रक्त-मांस का उल्लेख करना हास्यास्पद होता है। भाषण या बोलना सरल और शुद्ध, परंतु मन को आकर्षित करनेवाला संयमपूर्ण हो। संगठन अपना कार्य है। इसके लिए आवश्यक अभ्यास हमें प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए।

अपने मन पर संघ का पागलपन सवार हो। अपना मन तेजस्वी हो, परंतु वह अपने काबू में हो। घोड़ा उम्दा हो, परंतु काबू में हो। मन संस्कारित हो, तो इंद्रियाँ अधीन रहती हैं। संयमपूर्ण आचरण दूसरे के मन में आदर पैदा करता है, परंतु मन पर संयम रहते समय अन्य बातों के प्रति अनादर न दिखाएँ। संघकार्य के लिए डाक्टर जी ने मुझे कुछ दिनों के लिए

बंगाल भेजा था। जाने के पूर्व उन्होंने मुझसे कहा– 'उस ओर क्रांतिकारक बहुत हैं। काकोरी-षड्यंत्र के बारे में तुम्हारा मत क्या है? कुछ लोग प्रशंसा करते हैं कुछ लोग उन्हें डरपोक कहते है।'

मैंने कहा– 'उन लोगों के देश-प्रेम के बारे में मुझे अत्यंत आदर है, परंतु मुझे लगता है कि हमें उस मार्ग से पूर्णतया अलिप्त रहना चाहिए।' मुझे लगता है कि मेरे इस स्वभाव के कारण उन्होंने मुझे कोलकाता भेजा था।

यद्यपि अत्यंत प्रक्षोभजनक, उद्वेग पैदा करनेवाली घटनाएँ होती हों, तब भी अपना धीरज और गंभीर वृत्ति नहीं छोड़नी चाहिए। लोग भले ही अपनी उस वृत्ति का उपहास करते हों, फिर भी हमें उसके बारे में मौन रहना चाहिए। हमें संगठन करना है, इसलिए अहंकार का त्याग करना होगा। अहंकार-त्याग ही सर्वस्व-त्याग है। अहंकार का त्याग करने के पश्चात् त्याग करने को कुछ भी शेष नहीं बचता।

अच्छी बातों की प्रशंसा करने में क्या आपत्ति है? इसलिए क्रांतिकारियों के देश-प्रेम के प्रति आदरभाव है, परंतु इसके आगे उनसे हमारा कोई संबंध नहीं। उनका त्याग बड़ा है, उनकी वृत्ति प्रखर है, परंतु हमें वह मार्ग पसंद नहीं है। उनका व्यर्थ उपहास या अनादर करना उचित होगा क्या?

एक और तीन प्रतिशत की सीमा

हम लोग काम में शीघ्रता से जुटें, इसलिए अपने डाक्टर जी हमें कार्यवृद्धि की मर्यादा बतला गए हैं कि 'नगरों में तीन प्रतिशत और ग्रामों में एक प्रतिशत ऐसे स्वयंसेवक तैयार किए जाएँ, जिनका जीवन संघमय हो।' सभी की इच्छा है कि एक वर्ष के भीतर यह कार्य पूर्ण हो। इसका अर्थ यह नहीं है कि तीन और एक प्रतिशत की सीमा पूर्ण करने मात्र से संघकार्य पूरा हो जाएगा। हम लोग पूरी शक्ति के साथ काम में जुटें, इसके लिए डाक्टर जी ने सामान्य स्वयंसेवक की दृष्टि जिस सीमा तक पहुँच सकती हैं, उसका उल्लेख किया था।

परमेश्वर का निर्गुण रूप मनुष्य की दृष्टि की परिधि में नहीं आता, इसलिए अपने यहाँ सगुणोपासना बतलाई गई है। वास्तव में निर्गुण-भक्ति सगुण-भक्ति से श्रेष्ठ है, परंतु हम इसलिए साकार मूर्ति की पूजा करते हैं, ताकि सामान्य मनुष्य भी उसे समझ सके। उसी प्रकार डाक्टर जी द्वारा

बतलाई गई सीमा है। समाज के विश्वास और आदर के पात्र तीन और एक प्रतिशत स्वयंसेवक हों, तब हम तीस करोड़ हिंदू समाज को अपनी इच्छानुसार चला सकेंगे।

स्वयंसेवक कैसा हो?

'अपने काम में केवल श्रद्धा का गुण होना ही पर्याप्त नहीं है, उसके साथ बुद्धिमत्ता और नेतृत्व-कुशलता का योग भी होना चाहिए।' कुछ स्वयंसेवक केवल श्रद्धा से आते हैं, वे उत्तम अनुयायी होते हैं। श्रद्धालुता में कभी-कभी स्वभाव का भोलापन होता है, क्वचित् पागलपन भी रहता है। वह नहीं चाहिए। अंधी-लूली श्रद्धा किस काम की?

स्वयंसेवक ऐसे चाहिएँ, जो किसी भी स्थिति में प्रेम के अनुशासन से लोगों का नेतृत्व ग्रहण कर, उनका योग्य मार्गदर्शन कर सकें। इस वर्ष हमें ऐसे स्वयंसेवक तैयार करने का कार्य करना है। बाल स्वयंसेवक दूसरों को संघ में लाते हैं। इसमें उनका नेतृत्व-गुण प्रकट होता है। स्वयंसेवकों का यह गुण बड़े पैमाने पर बढ़ाना है। ऐसे नेता निर्माण करना याने वज्रभेदी शक्ति का निर्माण करना है। अपने संघकार्य से ऐसी शक्ति पैदा होती है और समाज बलवान बनता है।

हम ध्यान में रखें कि अपने स्वयंसेवकों का नेतृत्व अनुयायित्व की नींव पर खड़ा है। 'जो श्रेष्ठ आज्ञापालक होता है, वही समझता है कि आज्ञा कैसे दी जाए तथा किस प्रकार उसका पालन करवाया जाए।' इसीलिए उत्कृष्ट स्वयंसेवक ही उत्कृष्ट अधिकारी बन सकता है। ऐसे अनेक स्वयंसेवक संघ में आए, जिन्हें सार्वजनिक कार्य का अनुभव नहीं था। अपने कार्य से संस्कार ग्रहण करने के बाद ये ही स्वयंसवेक समाज के नेता बन सकेंगे।

डाक्टर जी एक स्वयंसेवक से कहा करते— 'तेरे शरीर में संघ-भूत का संचार हुआ है क्या?' संघ-भूत के संचार का अर्थ है, जो संघ कहेगा, उसके अनुसार व्यवहार करना, संघ के विचार और व्यवहार के अनुसार प्रत्यक्ष आचरण करना। वह स्वयंसेवक प्रेम के अनुशासन के बल पर आज एक प्रांत का नेतृत्व कर रहा है, क्योंकि वह उत्कृष्ट अनुयायी बना था।

इसी जीवन में कार्यपूर्ति हो

संपूर्ण समाज का मार्गदर्शन करनेवाले, एक सूत्र में पिरोए हुए और उत्तम अनुयायी होने से उत्तम नेता बन सकनेवाले स्वयंसेवक गढ़ना अपना

कार्य है। आज हम जो परिश्रम कर रहे हैं, उससे सौ-गुना अधिक परिश्रम कर और अपने काम की गति बढ़ाकर, इस वर्ष हमें यह काम करना है। अपनी आँखों के सामने इसकी पूर्ति (याचि देही याचि डोळा) देखने की डाक्टर जी की इच्छा थी। यह उनके जीवन में संभव नहीं हो पाया।

द्रष्टा होने के कारण डाक्टर जी ने १२-१५ वर्षों में संगठन का कार्य पूरा करने को कहा। उन्होंने अपने अंतिम दिनों में कहा था – 'तीन प्रतिशत और एक प्रतिशत उत्तम स्वयंसेवक निर्माण करो।' वैसा हो नहीं सका, इसलिए रोते बैठने में कोई अर्थ नहीं। वर्तमान काल और भविष्य में कार्य-पूर्ति के लिए हमें मेहनत करनी चाहिए। यह कठिन है, परंतु असंभव नहीं है। हममें से प्रत्येक समाज और राष्ट्र की चिन्ता करने लगे, तो कार्य तुरंत होगा।

हम लोग एक संघ-गीत गाते हैं– 'एकनिष्ठ सेवक हूँ मैं, यही मोक्ष मेरा।' ऐसे निष्ठाव्रत का पालन करना, मनुष्य को सहज है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम घर-गृहस्थी का परित्याग कर दें, परंतु संघकार्य ईश्वरीय है और वह हमें करना ही चाहिए। संत तुकाराम कहते थे– 'नारायण की उपासना में बाधा पड़ती हो, तो माता-पिता का भी परित्याग करना चाहिए।' उन्होंने ऐसा कहा, फिर भी जीवनभर घर-गृहस्थी सँभाली।

संघकार्य में बाधा पड़ती हो, तो कठिन से कठिन काम भी करना चाहिए। सभी युग-प्रवर्तकों ने यही बात कही है– 'युग-प्रवर्तकों को छोटे बालक माताओं की गोद से छीन लेने पड़ते हैं।' उन्मार्गगामी समाज सन्मार्गगामी हो सके, इसके लिए यह सब करना पड़ता है। हम निष्ठावान हैं, ऐसा कहनेवालों को अपने जन्मदाता का यह कथन पूर्ण करना चाहिए। उनके लिए संत तुकाराम की वह उक्ति है। इसे हम अपने जीवन में चरितार्थ करें। अपने घर में सबको प्रसन्न रखें। इससे पुरानी और नई पीढ़ी के बीच का संघर्ष मिट जाएगा।

कठोर अंतःकरण से हमें यह एक ही कार्य स्वीकार करना चाहिए। देश-सेवा के अनेक मार्ग हैं। यह भी सही है–'सर्वदेव नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति', परंतु प्रत्यक्ष 'केशव' सामने हो, तब अन्यत्र दौड़-धूप क्यों करनी चाहिए? वह अपनी श्रद्धामूर्ति हैं।

एकविध निष्ठा

गोस्वामी तुलसीदास की प्रभु रामचंद्र के कोदंडधारी रूप पर भक्ति

थी, अविचल श्रद्धा थी। वे सदा उनकी लीलाओं के पठन मनन में ही लीन रहते थे। वे परमेश्वर की अन्य मूर्तियों को प्रणाम तक नहीं करते थे। उनकी श्रद्धा थी कि रामचंद्र के रूप में ही परमेश्वर को देखूँगा। उनकी इस श्रद्धा की परीक्षा लेने के लिए उन्हें एक बार अकस्मात् श्रीकृष्ण के मंदिर में ले जाया गया। गोस्वामीजी को इस बात की कल्पना नहीं थी। वे तो इसी विचार में डूबे थे कि उन्हें अपने आराध्य प्रभु रामचंद्र जी का दर्शन होगा। परंतु नैवेद्य-समर्पण के समय उन्होंने आँखें खोलीं। तब उन्हें अपने सामने श्रीकृष्ण की मूर्ति दिखाई दी। उन्होंने कहा– 'इस रूप में मैं भगवान को प्रणाम नहीं करूँगा।' इस अवसर पर कहा हुआ उनका दोहा प्रसिद्ध है–

का बरनौ छबि आपकी भले बिराजहु नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बाण लो हाथ।।

कहते हैं कि उनकी ऐसी निष्ठा देखकर भगवान ने कोदंडधारी प्रभु रामचंद्र जी के रूप में उन्हें दर्शन दिए।

हमारी ऐसी ही अविचल श्रद्धा हो। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा प्रदर्शित मार्ग से मैं समाज-सेवा निष्ठापूर्वक करूँगा, इस निश्चय से हमें काम में जुट जाना चाहिए। यदि हममें यह निष्ठा होगी तो लोगों में भी वह निर्माण हो सकेगी। धनहीन मनुष्य दूसरे को क्या धन देगा? उसी प्रकार जो वृत्तिशून्य होगा, वह कैसे कार्य खड़ाकर सकेगा? अपना शरीर, मन, बुद्धि, संपत्ति सब कुछ संघ हेतु समर्पित करनेवाला अविचल बुद्धि का व्यक्ति ही नेता बन सकेगा। हमें समाज का वैभवशाली रूप देखना हो तो एकाग्र होकर परिश्रमपूर्वक संघकार्य करना पड़ेगा। दृष्टि अन्यत्र भटकने से कैसे चलेगा?

माँ से दूर रहनेवाला मातृनिष्ठ पुत्र माँ से मिलने की उत्कट इच्छा रखता है और उससे मिलता है। उसके हृदय में माँ से मिलने के अलावा अन्य विचार नहीं रहता। अपनी इसी तरह की उत्कटता संघकार्य के प्रति रहनी चाहिए, तब दूसरा कोई विचार हृदय को स्पर्श नहीं करेगा। इस अनुशासन से चलनेवाले नेता हमें निर्माण करने हैं। समाज के वैभवपूर्ण जीवन में मेरे संपूर्ण जीवन-समर्पण को स्थान रहना चाहिए और 'मैं अपनी आँखों से उस वैभव को प्राप्त होते देखूँगा,' इस कठोर व्रत और संघमय वृत्ति से हम काम खड़ा करें।

५. युग प्रवर्तक

(उत्तरप्रदेश संघ शिक्षा वर्ग, मेरठ, सन् १९४६)

जिस महापुरुष की प्रेरणा और ज्ञान से हम कार्य करते हैं, उन्होंने स्वयं के हृदय पर सत्संस्कार कर अपने अंदर के सारे अवगुणों का उन्मूलन कर, सद्‍गुणों को प्रकट किया था। संघ के जन्मदाता का यदि हम स्मरण करें, तो हम भी अपने स्वभाव पर नियंत्रण कर उसमें परिवर्तन कर सकते हैं।

बाल्यावस्था में उनका स्वभाव बड़ा उग्र था। अपनी टेक पर अड़े रहना उनकी कुल-परंपरा थी। सारा कुल ही बड़ा क्रोधी था, उसमें भी वे स्वयं महाक्रोधी थे। एक प्रकार से वह उग्र-स्वभाव और प्रचंड क्रोध उनको पैतृक-संपत्ति के रूप में ही मिला था। यह तो प्रसिद्ध ही है कि परंपरागत स्वभाव को बदलना असंभव नहीं, तो अत्यंत दुस्साध्य अवश्य है। अंग्रेजी में भी इस आशय की एक अद्‍भुत लोकोक्ति है– Man should be very careful in the choice of his parents. किंतु उनके तेजस्वी अंतःकरण ने जिस दिन से इस विशाल संगठन का निर्माण करने का निश्चय किया, उस दिन से उन्हें क्रुद्ध होते शायद ही किसी ने देखा हो।

सज्जनों का क्रोध वस्त्र पर पड़ी एक बूँद पानी के समान होता है, स्याही के धब्बे की तरह नहीं। इस क्षण नाराज हुए तो दूसरे क्षण उसका कोई आभास नहीं मिलता। उपरोक्त लोकोक्ति डाक्टर जी के जीवन में सर्वथा सत्य प्रमाणित होती है। उन्होंने अपने स्वभाव को संगठन के अनुकूल अमृतमय बनाकर दिखाया। वही हमारे लिए सर्वथा योग्य है।

फिर भी हमारी यही धारणा हो कि स्वभाव तो बदला ही नहीं करता, अहंकार उत्पन्न हो ही जाता है, इंद्रियसुख की लालसा को नष्ट करना कठिन है; कारण ये सब नैसर्गिक बातें हैं और निसर्ग में परिवर्तन असंभव है। तब केवल कुछ वर्ष पूर्व हुए इस महापुरुष के उदाहरण को देखें, जिन्होंने निसर्ग पर विजय प्राप्त कर अपने चरित्र से यह प्रकट किया था कि मनुष्य प्रयत्न से नैसर्गिक वृत्तियों को दबाकर अपने में यथेष्ट परिवर्तन कर सकता है। उनका उदाहरण हमारे लिए मार्गदर्शक है। उनके उस दृढ़ निश्चय के आलोक को कई लोगों ने अनुभव भी किया है।

अहंतारहित आत्मविश्वास और कर्तृत्व

उनके जीवन के दैनिक क्रम में मैंने केवल अपने स्वभाव को

बदलने की चेष्टा ही नहीं पाई, अपितु परम श्रेष्ठ गुणों को धारण करने का आत्मविश्वास का पूर्ण प्रयास भी पाया। किंतु उस प्रयत्न में इस प्रकार के अहंकार का लेशमात्र भी उदय नहीं हुआ था, कि मैं कोई बड़ा आदमी बन रहा हूँ। आत्मविश्वास और अहंभाव– दोनों भिन्न बातें हैं। मनुष्य के अंदर अहंभाव अनेक रूप में प्रकट होता है। मैं बड़ा अहंकारशून्य और बड़ा नम्र हूँ, यह भी अहंकार का एक बड़ा भयानक प्रकार है।

अहंकार से मनुष्य को आनंद प्राप्त होता है, परंतु इसको छोड़ने से हृदय को जो प्रसन्नता होती है उसका वर्णन करना भी शब्दातीत है। अभिमानरहित कर्तृत्व से मन को स्थायी आनंद प्राप्त होता है। अतः इस अंहकार को दूर करना ही श्रेयस्कर है, इसके लिए एकमात्र उपाय है निरंतर चिंतन। स्वभाव-परिवर्तन की कठिनता से घबराने की आवश्यकता नहीं। परम पूजनीय डाक्टर जी ने इसे सुसाध्य कर परम श्रेष्ठता को प्रकट किया है। हम उस महापुरुष के उदाहरण को सामने रखकर अपने हृदय की रचना करें कि अंतःकरण आत्मविश्वासपूर्ण हो, परंतु अहंकार का लेशमात्र भी न हो।

डाक्टर साहब ने छोटी अवस्था से लेकर अंत तक कोई भी कार्य अपने लिए नहीं किया। उन्होंने अपना पेट भरने तक की चिंता नहीं की। समाज के लिए जीने की भावना और निरंतर कार्य करने की लगन, बस यही था उनका संपूर्ण जीवन। जो कुछ पढ़ा-लिखा वह भी इसी दृष्टि से, कि लोगों के दिलों में सद्भाव ही उत्पन्न हो। उन्होंने इसी कारण डाक्टरी की उपाधि प्राप्त की थी, किंतु डाक्टरी एक दिन भी नहीं की। इसी प्रकार जब चाचाजी ने उनको विवाह करने के लिए उद्यत करने की चेष्टा की, तब उन्होंने एक पत्र में स्पष्ट लिखा– 'मेरे जीवन का एक ही ध्येय है और मैंने अपने जीवन को उस ध्येय के साथ एकरूप कर दिया है। अतएव वैयक्तिक सुखोपभोग और पारिवारिक जीवन के लिए अवकाश कहाँ है?' हृदय के सारे गुण कार्य को दे दिए थे। फिर स्वयं के पास बचा ही क्या था, जिससे पारिवारिक जीवन चला सकें। यद्यपि उन्होंने अति दरिद्र कुटुंब, जिसमें प्रातःकाल का भोजन होने के पश्चात् सायं के भोजन की चिंता सताया करती है, में जन्म लिया था। फिर भी व्यक्तिगत कार्य के लिए एक पैसा कमाने तक की चेष्टा उन्होंने नहीं की और न ही पारिवारिक जीवन का सुख भोगने की लालसा को हृदय में प्रविष्ट होने दिया।

जिसको भरपेट रोटी मिलती हो, वह यदि ऐसा निश्चय करे, यद्यपि

ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं, तब कोई बड़ी बात नहीं। परंतु जहाँ सदा महाशिवरात्रि का उपवास विराजता हो, वहाँ जीवन-सर्वस्व संघ को दे देना महान त्याग ही है। हमारे तत्त्व के साक्षात् प्रतीक हमारे नेता का सारा जीवन आर्थिक कठिनाइयों में बीता।

संस्कार देने का अवसर न छोड़ें

डाक्टर साहब को चाय पीने की आदत नहीं थी। आदत थी तो केवल अंतःकरण की पूरी लगन के साथ अहोरात्र कार्य करने की। चाय इसलिए पीते थे, ताकि चाय पीने के बहाने संघ के लिए बातचीत करने का अधिक अवसर मिल जाता था। डाक्टर जी एक बार अपने एक मित्र को साथ में ले, एक सज्जन को उत्सव के अध्यक्ष पद के लिए निमंत्रित करने गए। उस सज्जन ने निमंत्रण को सहर्ष स्वीकार किया। अब उन्हें संघ की विचारधारा से परिचित कराना आवश्यक था। परंतु साथ गए मित्र महोदय जल्दी मचाने लगे। उस सज्जन के अत्यंत अनुरोधपूर्ण किए गए चाय-पान के निमंत्रण के प्रत्युत्तर में 'कोई आवश्यकता नहीं' कहकर उठ खड़े हुए। विवश हो डाक्टर जी को भी उसका अनुसरण करना पड़ा। मित्र महोदय चले गए, तब डाक्टर जी ने कहा— 'यह व्यक्ति इतने समय से मेरे संपर्क में है, परंतु अभी तक उसने यह नहीं समझा कि ऐसे समय कभी उठकर नहीं आना चाहिए। यदि समय जाता तो हमारा जाता, खर्च होता तो उस सज्जन का होता। इसका क्या जाता था कि इसने इतनी जल्दी की। चाय के निमित्त संघ की बातचीत करने का सुअवसर तो मिलता। उसमें आत्मीयता से संघकार्य करने की लगन पैदा हो सकती थी, परंतु अब वह अवसर चला गया। पहले संपर्क में मनुष्य का हृदय बातों को समझने की उत्सुकता रखता है। तभी संस्कार की स्थायी छाप लगाई जा सकती है। पहली ही भेंट में उसे बिना संस्कार दिए छोड़ देने पर वह भाव बाद में जागृत होता ही नहीं।'

उस सज्जन के बारे में भी ऐसा ही हुआ। अब भी जब कभी मैं उनसे मिलता हूँ, उन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। वे केवल रोने-पिटने की बात करनेवाले अध्यक्ष बनने के उपयोग के ही रह गए हैं। किसी प्रकार से भी कार्य के लिए उपयोगी नहीं। उस समय लोहा गरम था, दिल उत्सुक था, हृदय पर दृढ़ छाप लगाई जा सकती थी, परंतु एक छोटी सी बात से वह अवसर निकल गया।

घोर दारिद्र्य

इसी प्रकार वार्तालाप के निमित्त घर आए एक सज्जन जब उठकर जाने लगे, तब डाक्टर साहब ने चाय के लिए अनुरोध करके उन्हें बिठा लिया और चाय बनाने के लिए अंदर संदेशा भेजा। जब पंद्रह मिनट तक भी चाय के दर्शन न हुए, तो वे सज्जन चलने के लिए उद्यत हुए। एक बार चाय का वचन दे, बिना चायपान करवाए आगत सज्जन को वे कैसे जाने दे सकते थे। स्वयं अंदर गए तो पता लगा कि वहाँ ठंडे पानी के सिवाय कुछ भी नहीं है। घर में केवल भाई की स्त्री थी। बाजार से चीज लानेवाला कोई छोटा बच्चा भी नहीं था। स्वयं तुरंत बाजार गए और चाय चीनी लाए, तब जाकर चाय बनी।

परंतु वह व्यक्ति भी बड़ा चतुर था। तुरंत वास्तविकता को ताड़ गया। उसको पता नहीं था कि डाक्टर जी के घर में इतना दारिद्र्य हैं। पता लगता भी कैसे, डाक्टर जी हमेशा बालक के समान प्रसन्नचित्त ही मिलते थे। उस नग्न दारिद्र्य को देख उस सज्जन ने सोचा कि इसका कुछ प्रबंध सोचना चाहिए। उन्होने तुरंत मुझे बुला भेजा।

मेरे पहुँचते ही उन्होंने मुझसे पूछा– 'डाक्टर जी की आर्थिक स्थिति कैसी है?'

मैंने बताया– 'बहुत दारिद्र्य हैं, कभी भूखे भी रह जाते हैं।'

उन्होंने कहा– 'क्या आपने उनके भोजन का कुछ प्रबंध नहीं किया?'

मैंने सरलता से उत्तर दिया– 'एकादशी का पेट शिवरात्रि कैसे भरे?'

उन्होंने बड़ी क्षुब्धता से कहा– 'मुझसे उनके लिए कुछ ले जाया करो। कम से कम अतिथि सत्कार के लिए २५ रुपए प्रतिमास ले जाया करो, परंतु डाक्टर जी को बताना नहीं।'

मैंने उनसे कहा– 'आप स्वयं डाक्टर जी को जाकर दे आइए।'

ऐसा करने का उनका साहस नहीं हुआ, मैंने लिए नहीं और डाक्टर जी का भूखा पेट, भूखा ही रह गया।

सदैव संघ चिंतन

एक ओर निरंतर कष्टों के घेरे में पड़े हुए डाक्टर जी और उस पर संघकार्य की चिंता। एक-एक व्यक्ति को संगठन में बनाए रखने के लिए कितना कष्ट उठाना पड़ता है, इसकी कल्पना हमें कहाँ? कारण, कार्य का

सम्यक् दर्शन हमें नहीं हुआ है। संघकार्य रचनात्मक कार्य है, उसमें एक-एक व्यक्ति के स्वभाव-गुण का विचार कर, उसे प्रेम की छाया में दिन-रात आगे बढ़ाना होता है। इसी एकमात्र चिंता से उनका जीवन व्याप्त था। फिर भी ऐसा मालूम पड़ता था, मानो आनंद उनके हृदय से फूट-फूट कर निकलता हो। उनके पास जो भी रोता हुआ गया, हँसता हुआ ही लौटा। वे उसे कोई उपदेश नहीं देते थे, अपने अंतःकरण के द्वारा ही उसे मार्गदर्शन करवा देते थे। उनमें वह अपूर्व कौशल्य था।

स्वभाव दर्शन

इस गुण का कारण था उनका पूर्ण निरहंकारी स्वभाव। यदि अहंकार था तो केवल कार्य का कि यही मेरा कार्य है। वे तो वास्तव में सर्वगुण-समुच्चय थे। उसके साथ ही थी वाणी की मधुरता और स्वभाव की नम्रता। न उनमें किसी पद या अधिकार प्राप्ति की इच्छा थी और न मान-सम्मान की लालसा।

वे हमेशा कहा करते थे – 'संघ का भार उठाने के लिए मुझे कोई योग्य व्यक्ति मिल जाए तो उसके हाथों यह कार्य सौंपकर, मैं एक सामान्य स्वयंसेवक बनकर उनकी सेवा करूँ।' यही थी उनकी एकमात्र इच्छा और इसी इच्छा से वे एक-एक स्वयंसेवक को देखते थे। पर वर्षों के प्रयत्न के बाद भी किसी को संघ की सम्यक् कल्पना न हो सकी, इसका उन्हें कितना दुःख हुआ था। फिर भी वे अपने प्रयत्न में जुटे रहे।

एकमात्र इच्छा

नैसर्गिक रूप से वे इस महान कार्य के सर्वोच्च स्थान पर आरूढ़ हो ही चुके थे। स्वयमेव मृगेंद्रता के सिद्धांत के अनुसार अनिच्छा रहते हुए भी हमारे सरसंघचालक पद पर वे आसीन हुए। इसकी प्राप्ति के लिए न उनमें तिलमात्र लालसा थी और न ही इसकी स्थिरता के लिए कोई विधान बना डालने का रंचमात्र विचार। वे तो इसी भावना व संकल्प से कार्य करते थे कि, जब तक इस महान उत्तरदायित्व को सँभालने वाला और कोई तैयार नहीं होता, तब तक ही कार्य को स्वयं उठाना है। अपने इन महान गुणों के कारण ही वे आज के युग-प्रवर्तक बन गए। मैं नेता हूँ और बाकी मेरे अनुयायी हैं, ऐसा कोई भाव उन्हें छू भी नहीं पाया था।

उनके जीवन की अंतिम बीमारी के पहले उनके शरीर में तीव्र पीड़ा रहती थी। बहुत से उपचार किए गए, किंतु कोई लाभ नहीं हुआ।

उन्हें बताया गया कि उपचार और आराम के लिए वे राजगीर जाएँ। सभी के आग्रह के कारण वे राजगीर चले तो गए, परंतु वहाँ पहुँचकर आराम तो दूर रहा, अपनी बीमारी और आराम के समय वहाँ शाखाओं के विस्तार-कार्य में ही लगे रहे और आते समय पुणे वर्ग में एक प्रतिष्ठित व्यक्ति को साथ लेते आए।

लोकेषणा की कामना नहीं

पुणे से जब नागपुर लौटकर आए, तब मैं सब स्वयंसेवकों की ओर से उनका स्वागत करने के लिए स्टेशन पर गया। थोड़ी देर में गाड़ी आई डाक्टर जी डिब्बे के दरवाजे पर ही खड़े थे। गाड़ी रुकते ही साथ लाई श्रद्धासिक्त पुष्पमाला उन्हें अर्पण करने के लिए मैंने ज्यों ही हाथ बढ़ाया, त्यों ही उन्होंने ऐसी उग्र दृष्टि से मेरी ओर देखा कि मेरा हाथ जहाँ का तहाँ रह गया। फिर माला पहनाने का साहस मुझे नहीं हुआ। वे बोले– 'मैं तो अपने घर आया हूँ, मेरा स्वागत करने की कोई आवश्यकता नहीं।' यह कहकर उन्होंने पास खड़े हुए अतिथि को माला पहनाने का संकेत करते हुए कहा– 'ये हैं हमारे अतिथि स्वागत तो इनका करना चाहिए।' मैने माला उनको पहना दी। इसी प्रकार उन्होंने जीवन भर अपने गले में माला नहीं डालने दी।

फोटो खिंचवाने के लिए भी स्वयंसेवकों को उनसे हठपूर्वक लड़ाई करनी पड़ती थी। इसी निरहंकारी वृत्ति के कारण ही उन्होंने वह उग्रता प्राप्त की जिससे इतना विशाल कार्य संपादित कर सके।

वाणी की उग्रता

कर्तृत्ववान व्यक्ति की वाणी में उग्रता स्वभाविक ही है और जैसा पहले बताया है कि संघकार्य आरंभ करने से पहले डाक्टर जी में उग्रता बहुत अधिक थी। उनके भाषण अत्यंत तेजस्वी और उत्तेजक होते थे। सन् १९२१ में उनके भाषण की उग्रता के कारण राजद्रोह का आरोप लगाकर, उनपर अभियोग भी चलाया गया। उस अभियोग में अपनी सफाई में न्यायालय में उन्होंने जो बयान दिया, वह इतना उग्र था कि जज महोदय ने कहा– 'बचाव में दिया गया इनका बयान मूल भाषण से भी ज्यादा राजद्रोहात्मक है।'

उन्होंने अनुभव किया था कि जोशीले भाषणों से क्षणिक प्रसन्नता चाहे कितनी ही हो, परंतु उससे सार्वजनिक कार्य में स्थायी लाभ नहीं होता,

हानि अवश्य होती है। वाणी की उग्रता के पीछे क्षुद्र समाधान की वृत्ति काम करती है कि 'मैं शत्रु का कुछ बिगाड़ नहीं सका, पर कम से कम मैंने उसे अच्छी-अच्छी गालियाँ तो सुना दीं। लेकिन संघ में इन बातों को कोई स्थान नहीं है। इसलिए उन्होंने प्रयत्नपूर्वक अपने इस दोष को निकाल दिया।

संघ में दिए गए उनके अनेकों भाषणों में ओज है, पर उग्रता अथवा उच्छृंखलता नहीं। असामान्य माधुर्य है, कोई भी शब्द नियंत्रण के बाहर नहीं। उन्होंने इस मधुरता का प्रयत्नपूर्वक अभ्यास किया था, क्योंकि उन्होंने समझ लिया था कि राष्ट्रोद्धार का कार्य वाणी की मधुरता के बिना चल नहीं सकता। अपने हृदय की अग्नि को नियंत्रण में लाकर अपनी संपूर्ण शक्ति कार्य में ही लगे, इसका उन्होंने प्रचुर अभ्यास कर लिया था। ऐसा परमश्रेष्ठ चरित्र-निर्माण और स्वभाव में इतना परिवर्तन अत्यंत भीषण परिस्थिति में किया था। इसे हम पूर्णतया हृदयंगम करने का प्रयत्न करें। यह हमारे लिए आदर्श स्वरूप है।

बीसवीं शताब्दी का अजातशत्रु

उनका चरित्र इतना श्रेष्ठ व उच्च था कि शत्रु भी उनकी किसी बात पर उँगली नहीं उठा सकते थे और ठीक उसके विपरीत उनके हृदय में डाक्टर जी के लिए आदर का स्थान था। हमारे परिचित के एक विख्यात बैरिस्टर हुए हैं। उनका दबंगपन आज भी उतना ही विख्यात है। उनके विरोध में यदि कोई खड़ा होता तो अपने भाषण में वे उसका अभिषेक गालियों से किए बिना न रहते थे। उनकी आवाज बड़ी गंभीर थी, आदमी की परख का अच्छा ज्ञान रखते थे। निर्वाचन के दिनों में इन बातों का उपयोग सार्वजनिक सभामंच से अपने प्रत्येक विरोधी को आह्वान देकर, उनके नामों का उद्धार करने में ही किया करते थे।

एक बार डा. मुंजे, जो डाक्टर जी के मित्र थे, उनके विरोध में खड़े हुए। उस मैत्री के कारण बैरिस्टर महोदय के मन में इस धारणा ने घर कर लिया था कि हो न हो, मेरे प्रतिपक्षी को डाक्टर जी और उनके संघ का आश्रय प्राप्त है, अन्यथा वह यह दुस्साहस कैसे करते? इसलिए इस संघ को ही मारना चाहिए। किंतु सार्वजनिक सभा में खड़े होकर वे इतना ही कह सके कि 'जिस व्यक्ति के सहारे मेरा प्रतिपक्षी खड़ा हुआ है, उस डाक्टर हेडगेवार की निंदा के लिए मेरे पास एक भी शब्द नहीं है।'

यही नहीं, एक बार डाक्टर जी के किसी मित्र को ५०० रुपए की

आवश्यकता पड़ी। अपनी आवश्यकता को तुरंत पूर्ण कराने की दृष्टि से वह डाक्टर जी के पास आया। उस समय रात्रि के ११ बजे थे। जब अन्य कोई प्रबंध डाक्टर जी को न सूझा, तब वे उसी बैरिस्टर महाशय के घर गए और अपनी आवश्यकता प्रकट की। सुनते ही उन्होंने तुरंत ही ५०० रुपए लाकर डाक्टर जी के हाथ पर रख दिए।

डाक्टर जी ने कहा– 'कागज कलम ले आइए ताकि मैं प्रॉमिसरी नोट लिख दूँ।' इतना सुनते ही वह बोल उठे– 'डाक्टर जी, मेरे होशोहवास कायम हैं। मेरा दिमाग अभी तक ठिकाने पर है। डा. हेडगेवार से प्रॉमिसरी नोट लिखवाना सौजन्यता का अपमान करना है।'

यही परमश्रेष्ठ चरित्र हमारा आदर्श है, जिसने अपने विरोधियों के हृदय में भी इतनी श्रद्धा और विश्वास प्राप्त किया था।

युधिष्ठिर के समान विश्वसनीय और दुर्योधन को भी सुयोधन कहने वाली वाणी की मधुरता डाक्टर जी में थी। महाभारत युद्ध में जब यह समाचार फैला कि अश्वत्थामा मारा गया, तब उसकी सत्यता जानने के लिए आचार्य द्रोण ने अपने शत्रु युधिष्ठर के पास जाकर प्रश्न किया। कारण, उनके हृदय में यह विश्वास था कि यह व्यक्ति स्वार्थ के लिए भी कभी झूठ नहीं बोलेगा। युधिष्ठिर के मुँह से 'अश्वत्थामा हतः' सुनते ही अश्वत्थामा की मृत्यु के विषय में उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया और वे इतने शोकाकुल हो गए कि अगले शब्द भी न सुन पाए। अपने बारे में प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में हमें इतना विश्वास अर्जित करना है, चाहे वह मित्र हो अथवा शत्रु।

इस आदर्श के साक्षात प्रतीक थे हमारे डाक्टरजी। बीसवीं शताब्दी का यह युधिष्ठिर वास्तव में अजातशत्रु था।

संघ की बढ़ती हुई तेजस्विता को देखकर, एक बार मध्यप्रान्त की सरकार को भय हुआ कि संघ सांप्रदायिक है और इसका उद्देश्य आपस में झगड़े करवाना है। यह विचार कर उसने सरकारी नौकरों को संघ में जाने से वर्जित करने के लिए एक आज्ञा-पत्र निकाल दिया। स्थानीय म्युनिसिपल कमेटियों और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों ने भी उसका अनुसरण किया।

उस आज्ञापत्र का विरोध करने के लिए निंदा का प्रस्ताव रखा गया। निंदा-प्रस्ताव का अनुमोदन करने वाले स्वजातीय ही नहीं, मुसलमान, पारसी, अंग्रेज आदि सभी थे। यह पता चलने पर कि इस प्रस्ताव को

सफल करने की डाक्टर जी की इच्छा है, सभी इस बात पर सहमत हो गए कि यह आज्ञापत्र अमान्य होना ही चाहिए। क्योंकि डा. हेडगेवार उसके पीछे खड़े हैं। उनके द्वारा चलाई हुई संस्था सांप्रदायिक विद्वेष लिए हुए कैसे हो सकती है?

नागपुर के एक सज्जन अपने को शहर का मुखिया समझा करते थे। नागपुर में उनके रहते किसी अन्य को सभापति बनाकर, कोई सभा शांतिपूर्वक नहीं चल सकती थी। इस कार्य के लिए उनके पास एक सेना भी थी। जहाँ कहीं उनकी अनुमति के बिना कोई सभा होती, वे अपने दल-बल के साथ उपस्थित हो जाते। फिर १५ मिनट से अधिक समय तक वह सभा चल नहीं सकती थी। उन्हीं दिनों डाक्टर जी के एक मित्र नागपुर आए उन्होंने एक सभा करने की इच्छा प्रकट की। लोगों ने उन्हें बताया कि इस परिस्थिति में सभा नहीं हो सकती। परंतु डाक्टर जी के पूर्ण विश्वास दिलाने पर सभा का प्रबंध कर लिया गया।

सभा आरंभ हुई और सेनापति महोदय अपने दलबल सहित वहाँ आ धमके। उनको देखते ही डाक्टर साहब उनके पास गए और पूर्ण आदर से स्वागत कर, अपने साथ वाली कुर्सी पर बैठाया।

वक्ता महोदय की वाणी बहुत उग्र थी और इन मुखिया महोदय पर भी प्रचुर प्रहार हुए। आवेश में आकर वे इधर-उधर देखते, परंतु डाक्टर साहब की ओर दृष्टि जाते ही कसमसा कर रह जाते। सेनापति ने बड़ों-बड़ों को चूना लगाया था, परंतु आज मन मारे ही बैठे रह गए। कारण, एक तेजस्वी व्यक्ति सामने था, जिससे आँख मिलाते ही उसका सारा साहस ढेर हो जाता था। सभा दो घंटे तक शांतिपूर्वक चली।

मेरा अस्तित्व याने मेरा कार्य

उनके जीवन का रहस्य यही था कि उनका व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन दोनों एक थे। अंगूर के समान अंतर्बाह्य एक-सा था। परिपूर्ण अमृतमय चारित्र्य, ध्येय की प्रखर निष्ठा, अहोरात्र अविश्रांत कार्य यही थी उनकी परम निधि।

अस्वस्थ होकर भी वह विश्रांति नहीं लेते थे। लोग कहते थे कि आपका जीवन शीघ्र ही समाप्त हो जाएगा, किंतु जीने की उन्हें तनिक भी चिंता नहीं थी। वे कहा करते थे- 'मेरा अस्तित्व तो मेरा कार्य ही है।

इससे भिन्न किसी अस्तित्व की मैं कल्पना नहीं कर सकता।'

यदि उन्हें कभी शरीर के विश्राम की आवश्यकता अनुभव भी होती, तब वे छलांग लगाकर आगे बढ़ने की वृत्ति धारण कर लेते। उनके मन में सदा एक विचार रहता था कि 'जवानी के कुछ दिन यदि आराम के लिए ले लिए, तो बुढ़ापे के निकम्मे दिन ही काम करने लिए मिलेंगे।' बस, इसी विचार से वे अहोरात्र कार्य करते और उसी में आनंद और शांति का अनुभव करते थे। कभी कहीं विश्रांति के लिए गए भी तो, आसपास घूमकर दस-पाँच शाखाएँ खोलकर वापस आते, यह उनका स्वभाव था।

चिकित्सक भी बातों में बह गए

एक बार उनकी बीमारी बहुत बढ़ गई और चिकित्सकों ने बहुत बाध्य किया, तब पूर्ण विश्रांति की योजना स्वीकार की। अपने साथ मुझे भी लेते गए। उपचार हो रहा था, पथ्यसेवन और औषधि लेना भी नियमपूर्वक चल रहा था, परंतु कोई लाभ नहीं हो रहा था।

एक दिन चिकित्सक महोदय ने सारा वृत्त पूछते समय प्रश्न किया— 'वे सोते कब हैं?'

मैंने उत्तर दिया— 'यथासमय, १ अथवा १.३० बजे तक।'

चिकित्सक महोदय बड़े अचंभित हुए और कहने लगे— 'इसीलिए ये ठीक नहीं होते। आप लोग उनको सोने नहीं देते होंगे। उन्हें १० बजे सो जाना चाहिए।'

मैने कहा— 'उन्हें १० बजे सुला देना, मेरे लिए असंभव है।'

चिकित्सक बोले — 'आप नहीं सुला सकते? तब मैं स्वयं आकर सुलाऊँगा।'

मैंने उनके इस प्रस्ताव का स्वागत किया। रात्रि को ९ बजे चिकित्सक महोदय आए डाक्टर साहब भोजन कर चुके थे। वे उस समय कमरे में अकेले थे। भोजन करते ही सोना नहीं चाहिए, इस विचार से चिकित्सक महोदय उनसे थोड़ी इधर-उधर की बातें करने लगे। मैं बाहर बैठा हुआ था और अंदर वे दोनों थे। जल्दी सुलाने आए चिकित्सक महाशय की आँखों में नींद भर आई, तब उन्हें समय का ध्यान आया। घड़ी देखी उसमें एक बज रहा था। तुरन्त उठ खड़े हुए और डाक्टर साहब को सो जाने का आदेश कहते हुए बाहर आए।

मैंने उनसे केवल समय पूछ लिया। वे यह कहते हुए चल गए कि 'मैं बातों में जरा बह गया था।'

अस्वस्थता में जबकि शरीर साथ नहीं देता था, तब भी रात-रात भर जाग कर, वे एक-एक को बुलाकर बातचीत करते रहते थे। विश्राम लेने का अवकाश उन्हें कहाँ था। इसी तपस्या में उनका वह भीमकाय प्रचंड शरीर, जिसे देखकर सामान्य मनुष्य डर जाए, घोर परिश्रम से टूट गया। अंतःकरण की अग्निज्वाला को भौतिक शरीर सह नहीं सका। आंतरिक उष्णता से स्थूल शरीर का यंत्र खोखला हो गया।

वे कहा करते थे - 'मुझे जो मर्ज है, उसकी दवा मैं जानता हूँ, परंतु मेरे पास इतना समय कहाँ कि उसकी औषधि और पथ्य कर सकूँ। परिणाम भी मैं जानता हूँ, जो होना होगा, सो हो जाएगा। उसमें मैं कुछ भी नहीं कर सकता।'

जो होना था, वही हुआ भी। जीवन की परवाह नहीं की। सारी जवानी काम करने में गई और यौवन में ही कर्तृत्व की प्रखर अग्नि में शरीर स्वाहा हो गया।

विकसित पुष्प का समर्पण

बुढ़ापा भी कोई काम करने का समय है? गाड़ी में बुड्ढे बाबा को लिए फिरें, इस प्रकार का उपहासास्पद दृश्य उपस्थित कर कार्य करना डाक्टर साहब को पसंद न था। बड़े-बड़े महान पुरुष अल्पकाल में ही शरीर छोड़कर चले गए। शंकराचार्य ३२ वर्ष की अवस्था में, विवेकानंद ३९ वर्ष में और शिवाजी ५२ वर्ष की आयु में इस लोक से प्रस्थान कर गए थे। उन्हें अधिक काल तक जीने की इच्छा न थी। जिस प्रकार योगाभ्यासी पुरुष अपने शरीर में से प्रकट की हुई योगाग्नि में जलकर समाप्त होने में ही अपना कल्याण समझता है, उसी प्रकार प्रचंड परिश्रम की तपस्या में शरीर को होम कर देना हमारी परंपरा है।

हमें जीवन-शक्ति की मितव्ययता का पाठ दिया जाता है। यदि आज आराम किया तो कल अधिक कार्य कर सकेंगे, अर्थात् आज कोट न पहनकर उसको सँभालकर रखना कि आगे काम आएगा। तब तक कोट की रक्षा करना, जब तक कि वह पहनने के अयोग्य ही न हो जाए। इसी प्रकार से लोग मुर्दा शरीर को, जब वह उपयोगी न रहेगा, कार्य के लिए बचा रखने की शिक्षा देते हैं। डाक्टर साहब की बैठक में एक बार इस

विषय पर चर्चा चल पड़ी। एक सज्जन ने कहा कि मनुष्य में तीन वासनाएँ अत्यंत स्वाभाविक हैं – वित्तेषणा, पुत्रेषणा और लोकेषणा। जब तक इन वासनाओं की पूर्ति न हो जाए, तब तक मुनष्य एकाग्रचित्त से सामाजिक कार्य में संपूर्ण शक्ति नहीं लगा सकता। ये तीनों वासनाएँ कार्य में बाधक होती हैं। वही कार्य के योग्य होता है, जिसकी ये तीनों वासनाएँ पूर्ण हो चुकी हैं।

मैंने उन्हें उत्तर दिया– 'वास्तव में मनुष्य कार्य के लिए योग्य तभी होता है, जब उसका शरीर चिता पर पहुँच जाता है।' इस प्रकार की अनेक भ्रमपूर्ण धारणाएँ समाज में फैली हुई हैं। देहरूपी पुष्प पूर्ण यौवन की गंध से जब विकसित हो, उसी समय उसे राष्ट्रदेव को अर्पित करना चाहिए। गंधहीन और शुष्क पुष्प आराध्य देव के चरणों पर नहीं चढ़ाया जाता। यही था उनका आदर्श और इसी हेतु जीवन के मध्य में उनका जीवनदीप बुझ गया।

हृदय में सात्विक संताप लिए, वाणी में माधुर्य भरे तथा सारे जीवन को तिल-तिल कर मरने की तैयारी करनेवाला था, उनका अंतःकरण। क्षणभर में मर मिटने की तैयारी भी शौर्य है, परंतु दिन प्रतिदिन कष्ट उठाकर तन सुखाकर कार्य करना तो असामान्य तपस्या है। शिबि के समान समाजरूपी कपोत की रक्षा के लिए अपने हाथ से अपने अंगों को काट-काटकर देना ही सर्वश्रेष्ठ दान है। समाज-पोषण के लिए यही दान किया डाक्टर जी ने।

वृत्रासुर से संत्रस्त स्वर्गवासी देवता, इंद्र को साथ ले जब ब्रह्माजी के पास अपनी रक्षा का उपाय पूछने आए, तब ब्रह्माजी ने कहा– 'किसी महातपस्वी ऋषि द्वारा स्वेच्छा से दी हुई अस्थियों से बने हुए शस्त्र द्वारा ही असुर का संहार हो सकता है।' इंद्र ने ब्रह्मदेव की वाणी दधीचि ऋषि को सुनाई और देवताओं के कार्य के लिए स्वशरीर-त्याग की प्रार्थना की। महर्षि बोले– गौ, ब्राह्मण और देवताओं को त्रस्त करने वाला असुर 'यदि मेरे शरीर की अस्थियों से मारा जा सकता है, तो आप इन्हें ले जाइए।' इतना कहकर उन्होंने सहर्ष स्वयं को योगाग्नि में भस्म कर लिया। उनकी हड्डियों से वज्र बना और उससे इंद्र वृत्रासुर का संहार कर स्वर्ग को संतापमुक्त करने में समर्थ हुआ।

आत्मा वै पुत्रनामासि

इस प्रकार अपने ही हाथों अपना रक्त-मांस, अपनी अस्थियाँ देना

ही हमारी संस्कृति का आदर्श है। जीवन सर्वस्व का संघ के लिए समर्पण, खाना-पीना सब कुछ इसके लिए, जीना भी इसके लिए और मरने की तैयारी भी इसके लिए। कार्य में घिस-घिसकर यदि प्राण जाए, शरीर को सुखा-सुखाकर यदि कार्य बढ़े, तो उसके लिए कटिबद्ध रहना, हमारा आदर्श है। इसी प्रकार के आदर्श का संस्कार यदि हमारे हृदय पर हुआ और यह सब कुछ करते हुए भी हमारी निरहंकार वृत्ति बनी रही, तब किसी भी प्रकार की समस्या हमारे सामने नहीं रह जाएगी।

कार्य करते-करते कभी भ्रम हो जाता है कि 'चारों ओर इस कोलाहल में मेरी क्षीण वाणी कौन सुनेगा?' परंतु यह धारणा व्यर्थ है। सब सुनेंगे और अवश्य सुनेंगे। मैं कहता हूँ कि 'यदि अपने शब्दों के पीछे त्याग, तपस्या और चारित्र्य है, तो लोग सिर झुकाकर सुनेंगे।' यह आत्मविश्वास कार्यकर्ता में होना ही चाहिए।

जब सर्व दूर विरोध का वातावरण था, अपने कहलानेवाले लोग भी जब 'पागल' कहते थे, तब उस एक पुरुष की वाणी सबको सुननी ही पड़ी। आज तो हम लाखों की संख्या में एक वाणी बोल रहे हैं, लोग कैसे नहीं सुनेंगे? डाक्टर जी की बात के पीछे उनका अटल विश्वास, ध्येयनिष्ठा, तपस्या, पराक्रम, परिश्रम और श्रेष्ठ चारित्र्य था, इसीलिए लोगों को उनकी वाणी को सुनना ही पड़ा।

उसी महापुरुष का तेज हममें भी है। हम भी तो उसी के अनुयायी हैं, जिसने अपने जीवन को होम कर संघ को तेज प्रदान किया है। लोगों को हमारे साथ आना ही होगा– यह दृढ़ विश्वास लेकर हम चलें। एक-एक कदम सोच-सोचकर रखें। कभी फिसलने का अवसर न आए, स्थिरता और दृढ़ता कार्य में रहे इसका ध्यान रखकर कार्य करेंगे तो कार्य बढ़ेगा। हमें जल्दी नहीं करना है। ईशकृपा से कार्य बढ़ा ही है, कार्यकर्ताओं की प्रचुर संख्या अपने साथ है।

संघशक्ति को कोई रोक नहीं सकता

सफलता आएगी ही। हमें तो केवल तपस्वी जीवन बिताने और सर्वस्व होम करने की तैयारी करनी है। हमारा होम हमारी उपासना और कर्तव्य में है। यहाँ से हम जो शिक्षा लेकर जा रहे हैं, उसका प्रमाण हमारे कर्त्तव्य से, हमारे उज्ज्वल चारित्र्य से मिले।

यह धारणा मन में न रखें कि मैं कोई बड़ा कार्यकर्ता हो गया हूँ, मेरे बिना कार्य नहीं चलेगा, यह भावना कभी हमारे मन में न आए संघ के संस्थापक की महान अखंड ज्योति के तिरोधान होने पर भी यह कार्य बढ़ता ही जा रहा है। कोई इसकी प्रगति को रोक नहीं सकता। संघ की गति अप्रतिहत है। फिर भला हमें गर्व करने का स्थान कहाँ? बड़प्पन की भावना व्यर्थ है। इसीलिए सदा यही विचार हो कि कार्य करते-करते मर जाएंगे तो भी कोई हानि नहीं। हमारे बिना, हमारे पीछे संघकार्य उसी प्रकार बढ़ता रहेगा।

परंतु हठात् जीवन को मिटाना भी नहीं है। मरने के लिए कार्य नहीं करना हैं, परंतु कार्य करते-करते स्वाभाविक मृत्यु यदि आ जाए, तो डरना भी नहीं है। शरीर-धर्म है कि मनुष्य मरता ही है। जो होने ही वाला है, उसकी चिंता भी क्यों? अतएव कार्य में ही उद्यत होकर जीवन सर्वस्व को संघ के लिए अर्पण करें। लोग कितना भी विरोध करें, हम पर उसका कोई प्रभाव न हो, किसी प्रकार से भी मार्ग से विचलित नहीं होंगे। जिसे ध्येय का साक्षात्कार नहीं हुआ उसे ही लोभ, मोह, भय आतंकित किया करते हैं।

'आनंदं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन।' (तैत्तरीय उपनिषद् २:४:१) वह किसी से डरता नहीं, निर्भय होकर चलता है। जिसने हृदय का कोना-कोना कार्य से, ध्येय से भर दिया, उसे कोई रोक नहीं सकता।

हमारे संपूर्ण जीवन में संघ व्याप्त हो जाए, इसी अदम्य भावना को लेकर हमें यहाँ से जाना है। 'अपनी शक्ति के अनुसार कार्य को सफल बनाऊँगा' यही एक भावना यदि प्रत्येक के मन में रही, तो मेरा विश्वास है कि यहाँ से जानेवाला एक-एक बालक इतनी योग्यता लेकर अवश्य जाएगा कि अपने स्थान पर संघकार्य की प्रगति अवश्य कर सकेगा। वह ऐसा करता है, यह देखने के लिए कितने ही लोग यहाँ और उसके स्थान पर उत्सुक बैठे हैं। उन सबकी इच्छापूर्ति करने की सद्भावना, विश्वास और आकांक्षा लेकर आप सब यहाँ से जाएँ, यही मेरी एकमात्र इच्छा है।

६. प्रेरणा का चिरंतन स्रोत

(संघनिर्माता परम पूजनीय डा. हेडगेवार जी की स्मृति में रेशमबाग संघस्थान पर निर्मित मंदिर का उद्‌घाटन-समारोह वर्षप्रतिपदा शक-संवत् १८८४ अर्थात् ५ अप्रैल १९६२ को हुआ। इस समारोह में भाग लेने के लिए देशभर से स्वयंसेवक आए थे। उसी दिन सायंकाल सहस्रावधि स्वयंसेवकों, उपस्थित नागरिक बंधुओं और माता-बहनों के सामने श्री गुरुजी का भाषण हुआ। दूसरे दिन प्रातःकाल केवल स्वयंसेवकों के लिए बौद्धिक हुआ। दोनों भाषण यहाँ क्रम से दिए गए हैं)

स्मृति-मंदिर के निर्माण और उद्‌घाटन का यह अर्थ कदापि नहीं कि हम व्यक्ति पूजक हैं। संघकार्य में संघ के जन्मदाता सर्वाधिक आदरणीय व्यक्ति थे, पर उनके नाम का जय-जयकार हमने कभी नहीं किया। जय-जयकार करना ही हो, तो राष्ट्र का करें, भगवान् का करें, मातृभूमि का करें, व्यक्ति का नहीं। ऐसा होते हुए भी कुछ श्रेष्ठ व्यक्तियों का जीवन अलौकिक रहता है। उनका जीवन केवल अपनी देह तक सीमित न रहकर तत्त्व से एकरूप हो जाता है। डाक्टर साहब का जीवन उसी प्रकार का था। ऐसा कहना भी अनुचित न होगा कितने ही दिनों से उनका और शरीर का कोई संबंध नहीं था। रोगग्रस्त होने के बाद भी उग्र अविरत परिश्रम और प्रवास करना इस बात का प्रमाण है। इतने रुग्ण रहने पर भी वे प्रवास कैसे कर लेते थे, इसका लोगों को आश्चर्य होता था। उनका जीवन तत्त्व में परिवर्तित हो चुका था। निश्चित ध्येय के लिए शरीर, मन व बुद्धि सब कुछ समर्पित कर देने के कारण शरीर तो उस तत्त्व का वाहकमात्र रह गया था। इस प्रकार तत्त्वस्वरूप हुए पार्थिव शरीर का चिंतन, तत्त्वचिंतन के ही समान होता है।

चिंतन का आलंबन

शुष्क तत्त्वचिंतन से मन इतस्ततः भटकने लगता है, बुद्धि कई बार अकर्मण्य बन जाती है। किंतु स्फूर्तिदायक आलंबन के प्राप्त होते ही तत्त्वचिंतन सुलभ हो जाता है। किसी आधार के अभाव में व्यापक और महान शक्ति की अनुभूति यदि असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है। माँ

काली अथवा माँ दुर्गा का स्वरूप आँखों के सम्मुख उपस्थित होते ही प्रलयंकारी शक्ति का थोड़ा अनुभव होता ही है। हमने डाक्टर साहब का कार्य स्वीकार किया है। उस तत्त्व को हृदयंगम कर, तदनुरूप अपने जीवन को ढालने के लिए उन्हीं के समान भावनाओं से ओतप्रोत अपने हृदय की स्थिति बनाना आवश्यक है। शुष्क शब्द उसके लिए सहायक नहीं हो सकते। अतः चिंतन के लिए आलंबन की आवश्यकता पड़ती है।

डाक्टर साहब ने हमें जो कार्य बताया है, उसके लिए मन की कौन-सी अवस्था अपेक्षित है? उन्होंने हमें बताया कि विशाल हिंदू-समाज का संगठन करना चाहिए। अपने समाज में व्यक्तिगत बुद्धिमत्ता और कर्तृत्व की कोई कमी नहीं है, पर सामाजिक रूप में उस बुद्धिमत्ता और कर्तृत्व का अनुभव नहीं होता। इसी कारण संसार में हमारा जीवन श्रेष्ठ, सुरक्षित अथवा सुखी नहीं हो सका। प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धिमत्ता, कर्तृत्वशक्ति अथवा भावनाएँ भिन्न-भिन्न मार्गों से कार्य करती हैं। जिस समाज में चार लोग भी साथ नहीं चल सकते, ऐसे निज स्वार्थ में निमग्न समाज का जीवन कभी भी समृद्ध नहीं हो सकता। उसे निकृष्ट, पराभूत और पारतंत्र्य में जकड़ा हुआ जीवन बिताना पड़ता है। ऐसे समाज में व्यक्ति-व्यक्ति की बुद्धि और कर्मशक्ति में सामंजस्य नहीं रहता। संगठित जीवन से ही यह सामंजस्य उत्पन्न होता है।

स्नेह से संबद्ध

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि हमें किसी एक विशिष्ट साँचे का जीवन-निर्माण करना है। आजकल इस प्रकार एक ही साँचे में व्यक्ति को जकड़ने का प्रयोग विदेशों में चल रहा है। जिस देश में भाषा, कृति व विचारों को एक निश्चित साँचे में जकड़ कर, किसी एक व्यक्ति के मार्गदर्शन में सबको चलाने का प्रयास किया गया, वहाँ एक प्रकार का दहशत का वातावरण है। अब अपने देश में भी उसका अनुकरण करने की चेष्टा हो रही है।

किसी एक ही ढाँचे में सबके जीवन को जकड़ डालना, हमारी संस्कृति को अभिप्रेत नहीं। इस प्रकार का साँचेबंद जीवन हमारी परंपरा में निकृष्ट और त्याज्य माना गया है। यदि सभी लोगों के वर्ण, नाक, कान एक जैसे ही हो जाएँ, उसमें कोई भी भिन्नता न रहे, तो एक दूसरे को देखकर अंतःकरण ऊबने लगेगा। प्रत्येक की प्रतिमा अलग-अलग ही चाहिए। विविधता देखकर मन प्रसन्न होता है; विविधता से जीवन में

सरसता उत्पन्न होती है।

उदात्त लक्ष्य और ध्येय की सिद्धि के लिए स्नेहसंबद्धता आवश्यक होती है। अपनी-अपनी बुद्धि और क्षमता के अनुसार समाज के संवर्धन में मग्न होने की प्रवृत्ति का निर्माण करने को ही सामाजिक अर्थ में 'भावभीनी अवस्था' का निर्माण करना कहा जाता है। यह भावभीनी अवस्था निर्माण होते ही सामाजिक समृद्धि के लिए आवश्यक समाज का चैतन्यमय संगठित रूप निखर उठता है। सुसंगठित और चैतन्ययुक्त जीवन में ही सुख और समृद्धि फलती-फूलती है। यह भावभीनी अवस्था शब्दाडंबर से प्राप्त नहीं हो सकती।

समाज का प्रत्येक व्यक्ति मेरा अभिन्न-हृदय है, मेरे ही शरीर का अंश है, मेरे समान वह भी इस मातृभूमि का पुत्र है, इसी मातृभूमि के रजःकण से उसका भी शरीर बना हुआ है, सहस्रावधि वर्षों से अखंड रूप से चलनेवाली जिस संस्कार-परंपरा में मेरा हृदय ढला है, उसी संस्कार-परंपरा में उसका भी हृदय ढला है, हमारे सुख-दुःख के अनुभव समान हैं, जो कुछ थोड़ी-सी भिन्नता दिखाई देती है, उससे एकात्मता में किंचित् भी बाधा उत्पन्न होना असंभव हैं। इस सत्य की अनुभूति प्रत्येक को हो सके, इसके लिए कार्य करने की प्रेरणा पूजनीय डाक्टर साहब के जीवन से मिलती है।

अति सरल किंतु असामान्य कार्यपद्धति

सप्त रंगों के सम्मिश्रण से जैसे शुभ्र प्रकाश का निर्माण होता है, वैसे ही खानपान, भाषा, वेशभूषा आदि की विविधता से हमारा जीवन एकात्म रूप से प्रकाशित हुआ है। इसी का नाम 'भावनात्मक एकता' है। यह एकता, सौदेबाजी से निर्मित नहीं होती। अंतःकरण में समान भावनाओं की विद्यमानता भावनात्मक एकता की आधारशिला है। गहन चिंतन और निकट संपर्क से ही इस भावना की अनुंभूति संभव है। सबको यह अनुभूति हो सके इसी दृष्टि से संघकार्य की रचना की गई है। विविधता में एकता का दर्शन करानेवाली संघ की कार्यप्रणाली बेजोड़ है। दैनिक शाखा के कार्यक्रम में व्यक्ति रम जाता है और उसके अंतःकरण में एकता के भाव जाग उठते हैं।

आज देश में अनेक कार्य चल रहे हैं। दादाभाई नौरोजी, महात्मा गाँधी और पंडित नेहरू जैसे जगद्विख्यात लोगों ने जिस संस्था को सींचा, उस में पंथभेद और भाषाभेद के आधार पर गुटबंदियाँ दिखाई देती हैं। इस

बड़ी संस्था का अनुसरण करनेवाले अन्य दलों में भी गुटबंदी का दुर्गुण चरम सीमा तक पहुँचा हुआ है। ऐसा लगता है मानो इन संस्थाओं में दुर्गुणसंपन्न होने की होड़-सी लगी है। बड़े-बड़े नेता भावात्मक एकता का निर्माण करने के लिए योजनाएँ बना रहे हैं, पर विच्छिन्नता की शक्ति अपना तांडव नृत्य कर रही है। एक प्रकार से वे विभेदकारी प्रवृत्तियों की सहायता से, हारी हुई लड़ाई को जीतने का प्रयास कर रहे है।

डाक्टर साहब के सहवास में रहनेवाले लोगों को कभी भी अनुभव नहीं होता था कि डाक्टर साहब कोई असामान्य पुरुष हैं। किंतु संघ की कार्यपद्धति के निर्माण से उनका असामान्यत्व प्रकट हुआ। अनपढ़ से लेकर बड़े-बड़े विद्वान तक सब एकत्र आते हैं, परंतु हम भिन्न हैं यह किसी को भान भी नहीं होता, ऐसी यह कार्यपद्धति है।

इसके दैनिक कार्यक्रमों का स्वरूप खेलकूद करना, शारीरिक व्यायाम करना, गीत गाना, परस्पर एक दूसरे की सहायता करना, एक दूसरे के सुख-दुःख की चिंता करना है। इस अत्यंत सरल एवं सुगम दैनिक कार्यपद्धति से शरीर, मन और बुद्धि एक ही दिशा में कार्य करने लगती हैं। इसमें से राष्ट्रभक्ति और मातृभक्ति का आविर्भाव होता है और वह संपूर्ण समाज में व्याप्त होती है। यह कार्य अत्यंत कठिन है, किंतु डाक्टर साहब द्वारा निर्मित कार्यपद्धति उतनी ही सुगम है। इसी में उनकी अलौकिकता प्रकट हुई है।

प्राचीन काल में भगवान श्रीकृष्ण ने मानवमात्र के लिए सरलतापूर्वक आचरण करने योग्य ईश्वर-साक्षात्कार का मार्ग दिखाया था। अर्वाचीन काल में परमेश्वर का साक्षात्कार करने का सुगम और सरल मार्ग भगवान श्री रामकृष्ण परमहंस ने बताया और आज के युग में राष्ट्रस्वरूप परमेश्वर के साथ तादात्म्य उत्पन्न करने का अति सरल मार्ग पूजनीय डाक्टर साहब ने दिखलाया है। यह मार्ग सरल होते हुए भी, राष्ट्र को अमरत्व प्रदान करनेवाला है। डाक्टर साहब की अलौकिकता भी इसी में निहित है कि उनके द्वारा निर्मित कार्य राष्ट्र को अमरत्व प्रदान करनेवाला है।

लोगों को उनका जीवन अति सामान्य-सा लगता था। आज भी संपूर्ण समाज को उनकी अलौकिकता का ज्ञान नहीं है, पर कालांतर में संपूर्ण जगत् को उनकी अलौकिकता का अनुभव होगा, इसमें तिलमात्र संदेह नहीं।

अंतर्बाह्यशुचिता का आदर्श

आजकल पाश्चात्य जीवनपद्धति का अनुसरण करने की प्रवृत्ति होने के कारण यह धारणा बलवती होती जा रही है कि सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के व्यक्तिगत जीवन की ओर नहीं देखना चाहिए; परंतु यह प्रवृत्ति अपनी परंपरा के अनुकूल नहीं। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में भेद मानने की हमारी परंपरा नहीं है। कथनी और करनी में एकरूपता को ही हमारी परंपरा में वंदनीय माना है। जो स्वयं चरित्रभ्रष्ट है, उनके उपदेश का समाज पर किंचित् भी परिणाम नहीं हो सकता। अपने नेता आज कहते हैं कि 'चारित्र्य की समस्या' पैदा हो गई है।

डाक्टर साहब ने कोरा उपेदश कभी भी नहीं दिया। राष्ट्रीय जीवन में उन्होंने शील-संपन्नता का, चारित्र्यसंपन्नता का, राष्ट्र की निःस्वार्थ सेवा का आदर्श प्रस्तुत किया। राष्ट्र साक्षात् परमेश्वरस्वरूप है, भारत माँ साक्षात् जगज्जननी है। क्या भ्रष्ट देह से उसकी पूजा हो सकेगी? जगज्जननीस्वरूप मातृभूमि का पूजन करने के लिए जीवन की अंतर्बाह्य शुचिता आवश्यक है। 'मैं इस राष्ट्रदेवता का पुजारी हूँ,' इस प्रकार का अहर्निश चिंतन करते हुए हमें दुर्गुणों को त्यागकर अपना जीवन पवित्र बनाना चाहिए। हम लोगों के सम्मुख पूजनीय डाक्टर साहब के अंतर्बाह्य विशुद्ध आचरण का आदर्श है। वे कामिनी और कांचन दोनों के ही प्रभाव से मुक्त रहे। सत्यप्रियता, ईमानदारी, विशुद्ध चारित्र्य, दृढ़ता आदि गुणों से युक्त निरलस राष्ट्रसेवा का प्रत्यक्ष उदाहरण आँखों के सामने होने के कारण हजारों स्वयंसेवकों को घरद्वार छोड़कर 'अपने कैरियर' का मोह छोड़कर, राष्ट्रसेवा के लिए सर्वस्वार्पण करने की प्रेरणा उनसे मिली। डाक्टर साहब का जीवन सर्वस्वार्पित राष्ट्रसेवा का मूर्तिमंत प्रतीक था।

सभी शत्रुओं पर उन्होंने विजय प्राप्त की थी। अहंकाररूपी शत्रु के सम्मुख तो बड़े-बड़े तपस्वी भी काँप उठते हैं, पर डाक्टर साहब ने उस शत्रु पर भी विजय पाई। सर्वश्रेष्ठ गुणों का समुच्चय प्राप्त होने पर भी उनके जीवन में अहंकार कहीं लेशमात्र भी नहीं था।

गत दो-सौ वर्षों में देश की इतनी स्वार्थरहित सेवा करनेवाला निरहंकारी व्यक्ति हुआ ही नहीं, यह कहना किंचित् भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा।

हमें पारस स्पर्श हो

डाक्टर साहब का अत्यंत भव्य, स्फूर्तिप्रद जीवन राष्ट्रकार्य से समरस होकर तत्त्वरूप हो गया था। मानो अनेक गुणों का श्रेष्ठत्व उनमें समाविष्ट हो गया था। इस स्मृति-मंदिर का निर्माण इसीलिए किया गया है कि उनके उस श्रेष्ठतम जीवन के कुछ अंश हम भी प्राप्त कर सकें, उनके ही समान निरलस राष्ट्रभक्ति की भावना से ओतप्रोत अंतःकरण हमें भी प्राप्त हो, उस जीवन के स्मरण से राष्ट्र का अमूर्त रूप साकार हो उठे। उनका जीवन पीढ़ी-दर-पीढ़ी अहर्निश मार्गदर्शन करता रहे।

राष्ट्र के ऊपर आए सब संकट दूर कर, एक चिरंजीव, अतीव सुखी, समृद्ध, सम्मान्य व श्रेष्ठ राष्ट्रजीवन निर्माण करने का सामर्थ्य प्राप्त हो सके, इस हेतु यह स्मृति-मंदिर प्रेरणा का चिरंतन स्रोत बनेगा, इसमें तिलमात्र भी संदेह नहीं।

(६ अप्रैल, १९६२)

कल स्मृति-मंदिर का उद्घाटन हुआ। स्मारकनिर्माण होने पर भी, महान साधु-संतों के विषय में पूज्यभाव व्यक्त करने के लिए समाधि के समान निर्मित होनेवाला यह स्मृति-मंदिर संपूर्ण हिंदूसमाज का श्रद्धा केंद्र है और दिनोंदिन उसका महत्त्व बढ़ता ही जाएगा। फिर भी हमें उसे केवल एक पूजास्थान मात्र ही नहीं बनाना है। स्वयं डाक्टर साहब को ऐसी पूजा अरुचिकर थी।

उनके बचपन की एक घटना है। एक बार एक धार्मिक प्रवृत्ति के गृहस्थ उनके घर में अतिथि के रूप में आए। प्रातःकाल स्नानादि से निवृत्त होकर वे भगवद्गीता का पाठ करने बैठे। पाठ समाप्त होने पर उन्होंने पुस्तक पर पुष्प चढ़ाकर भक्तिभावपूर्वक उसे प्रणाम किया। डाक्टर साहब ने उनसे पूछा– 'गीता में बताए हुए मार्ग के अनुसार व्यवहार करने का प्रयत्न तो आप अवश्य ही करते होंगे।'

अतिथि महोदय डाक्टर साहब के इस कथन पर अत्यंत कुपित होकर बोले– 'भगवद्गीता पाठ करने की चीज है। उससे ही मनुष्य का उद्धार होता है।' परंतु चारित्र्यसंपन्न न बनते हुए अथवा सद्गुणों का विकास न करते हुए, पूजामात्र से मनुष्य का उद्धार हो जाता है यह बात अपने हिंदू-धर्मग्रंथों में अथवा अपनी परंपरा में कहीं पर भी नहीं कही है।

आत्यंतिक प्रयत्नवाद

मृत्यु के समय अपने पुत्र 'नारायण' का नामोच्चार करने मात्र से मृत्युपाश से अजामिल के मुक्त हो जाने की बात कही जाती है। अज्ञानी लोगों की धारणा है कि मरते समय अजामिल ने अपने पुत्र नारायण का नामोच्चार किया। इसी कारण उसका उद्धार हुआ। पर वस्तुस्थिति यह नहीं है। 'नारायण' नाम के उच्चारण से मृत्युपाश से छुटकारा मिलते देखकर अजामिल को अपने पापी जीवन पर पश्चाताप हुआ। इस बात का साक्षात्कार होने पर कि नाम लेने से तो केवल मृत्युमुख से ही छुटकारा मिला है, जन्म-मरण के फेरे से सर्वदा मुक्त होने के लिए कठोर उपासना करनी होगी, उसने अपना शेष जीवन कठोर तपस्या करने में व्यतीत किया।

अपने शास्त्रों ने, परंपरा अथवा संस्कृति ने यह उपदेश कभी नहीं दिया कि परिश्रम के बिना मुक्ति मिल सकती है। वास्तविक रूप में तो कोई विशिष्ट पूजा का स्थान, मनुष्य को विशिष्ट तत्त्व का स्मरण करानेवाला प्रेरणादायक स्थान होना चाहिए। उस पूजास्थान के दिव्य चैतन्य की स्मृति हृदय में जागृत रखते हुए उस चैतन्य को जितने अधिक प्रमाण में हृदयंगम कर सकें, उतना करें। इतना ही नहीं उस चैतन्य से पूर्णतः समरस होने की आकांक्षा रखकर, तदनुरूप अपना जीवन ढालने का सफल प्रयास होना चाहिए।

पूजन की सफलता

वैचारिक श्रेष्ठता, जीवन की पवित्रता और शुचिता, गुणों की संपदा और सद्‌भावपूर्ण हृदय की विशालता स्वयं में प्रकट करने का प्रयत्न हो। तभी पूजा-स्थान के निकट जाना सार्थक हो सकेगा। श्रद्धास्थान के निकट जाकर उसके अनुरूप बनने का प्रयास हम जितनी मात्रा में करेंगे उतनी ही मात्रा में वह पूजा सफल मानी जाएगी। पूजन के इस वास्तविक रूप को ध्यान में रखकर हमें अपने जीवन का विचार करना चाहिए। डाक्टर साहब के द्वारा दिए गए आदेशों का अपने हृदय में जागृत रखकर तद्‌नुसार अपना जीवन ढालने का प्रयास करना चाहिए।

अखंड उपासना

डाक्टर साहब के अनेक गुणों का तो वर्णन करना भी असंभव है। इसलिए उनके जीवन की कुछ प्रमुख बातों की ओर ही ध्यान देने का हम प्रयत्न करें। डाक्टर साहब ने एकाग्रचित्त से अपनी मातृभूमि, समाज, संस्कृति, धर्म और राष्ट्र का अहोरात्र चिंतन किया, उपासना

की। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी बात को उन्होंने अपने जीवन में स्थान नहीं दिया।

इस दृष्टि से हम अपने जीवन का विचार करें। स्वार्थ, मोह, चारों ओर के वातावरण में व्याप्त भिन्न-भिन्न विचारों को संघर्ष तथा अन्य आकर्षणों से अपने हृदय को विचलित न होने देते हुए, अपनी मातृभूमि, अपना समाज, स्वधर्म और अपने चिरंजीव राष्ट्रजीवन का, अंतःकरण की संपूर्ण शक्ति लगाकर चिंतन करने में अपना जीवन समरस होना चाहिए। एकाग्रचित्त से किए गए चिंतन का स्वाभाविक रूप से यह फल मिलता है कि किसी भी बुरी बात की ओर मन आकृष्ट नहीं होता। परमेश्वर के व्यक्त स्वरूप से अपने पवित्र राष्ट्र के चिंतन में, समरस हुए जीवन में, कुविचार, अनीति, पाप आदि का प्रवेश हो ही नहीं सकता। समग्र समाज के अभ्युदय के लिए कार्य करना हो तो अपना जीवन पवित्र होना ही चाहिए। एकाग्रचित्त से किए गए राष्ट्रचिंतन से स्वाभाविक रूप से शुचितापूर्ण तथा मांगल्यमय जीवन का निर्माण होगा। डाक्टर साहब का अंतर्बाह्य जीवन अत्यंत पवित्र और शुद्ध था, जिसे उन्होंने स्वराष्ट्र के सर्वांगीण चिंतन में खपा दिया। उन्हीं के समान पवित्र और तेजस्वी जीवन अपना कैसे बने, इस ओर हमें ध्यान देना चाहिए।

राष्ट्र के रोग का उपचार

स्वराष्ट्र के अभ्युदय के लिए डाक्टर साहब के द्वारा किए गए मार्गदर्शन का हमें स्मरण करना चाहिए। आज की परिस्थिति में उस मार्गदर्शन की अतीव आवश्यकता है। उन्होंने कार्य के अनुकूल एक अत्यंत सरल पद्धति हमें उपलब्ध कराई है। राष्ट्र के रोग का निदान कर उन्होंने यह भी बता दिया कि उसका क्या उपचार करना चाहिए। उन्होंने बताया कि 'असंगठित अवस्था, आत्मविस्मृति, परस्पर एक दूसरे के विषय में स्नेह का अभाव ही आज का मुख्य रोग है।' उसे दूर करने के लिए सुसंगठित और एकात्म-राष्ट्रस्वरूप के साक्षात्कार से जीवन जागृत करना होगा।' रोगमुक्ति का उपाय बताकर शाखा के रूप में काम का स्वरूप उन्होंने सबके सामने रखा। संगठित, एकात्म, प्रबल राष्ट्रजीवन निर्माण करने का यही एकमेव उपाय है और एकांतिक निष्ठा से उसी का अवलंबन कर हम राष्ट्र-अभ्युदय के लिए समाज की संगठित शक्ति खड़ी कर सकेंगे।

ऐसा करते समय अपने चारों ओर चलनेवाले कार्यों का आकर्षण

होना अस्वाभाविक नहीं है। जुलूस, सम्मेलन, सभा आदि की हलचल जहाँ रहती है, वहाँ मन में कुछ गुदगुदी उठ सकती है। उस कार्यपद्धति में मान-सम्मान प्राप्त होने के कारण अपने में से कुछ लोगों के मन में उसके प्रति आकर्षण उत्पन्न होकर, स्वयं भी उस अखाड़े में उतरकर दंगल में भाग लेने की इच्छा हो सकती है। मन में इस प्रकार की इच्छा उत्पन्न होते ही, इस प्रकार के कार्य से राष्ट्र का हित होगा, इस बात के समर्थन में बुद्धि अनेक तर्क प्रस्तुत करती है। उलटे-सीधे दोनों ही पक्षों के समर्थन में तर्क करने में बुद्धि सदैव सक्षम रहती है।

चुनावकाल में एक सज्जन ने मुझसे कहा– 'चुनाव और राजनीति ही समाज व राष्ट्र की सेवा करने का श्रेष्ठ मार्ग है।'

मैंने उनसे कहा– 'चुनाव और राजनीति को ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग मानना उचित नहीं होगा। इंग्लैंड आदि देशों में, जहाँ पर अभिजात देशभक्ति की परंपरा चली आ रही है, ये सब बातें शोभा देती हैं। अपने यहाँ तो राष्ट्रभक्ति की भावना कुछ थोड़े से लोगों तक सीमित है और उनमें भी ऐसे लोग हैं, जो मान और पद की लालसा से राष्ट्रकार्य में संलग्न हैं।

सभी देशभक्त

एक बार डाक्टर साहब के सम्मुख एक सज्जन का परिचय 'देशभक्त' कहकर कराया गया। वह उन्हें अच्छा नहीं लगा। किसी एक को देशभक्त कहकर उसका परिचय कराने का अर्थ यही होता है कि बाकी के लोग देशभक्त नहीं हैं। वास्तविक रूप से यह बात ठीक नहीं कि किसी भी देश में कुछ ही लोग देशभक्त हों और शेष देशभक्ति की भावना से शून्य रहें। देश का प्रत्येक नागरिक स्वभावतः देशभक्त होना ही चाहिए और देशभक्त कहकर अलग से उसका परिचय कराने की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए। किसी व्यक्ति का परिचय कराते समय हम यह नहीं कहते कि यह 'मनुष्य' है। क्योंकि सर्वसामान्य व्यक्ति के ही समान उसे आँख, कान, नाक, हाथ, पैर आदि रहते हैं, पूँछ या सींग जैसे अवयव नहीं होते। उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति स्वभावतः ही देशभक्त होना चाहिए। यह मान्यता होने के कारण उसके देशभक्त होने का अलग से परिचय कराने की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए।

जिस समाज में जन्म से प्राप्त संस्कारों के कारण अभिजात देशभक्ति की भावना व्यक्ति के अंतःकरण में अंकुरित तथा संवर्धित होती

है, घर का काम छोड़कर राष्ट्र के लिए अपना सब कुछ अर्पण करने की वृत्ति रहती है और इस कारण एक सूत्रबद्ध जीवन का निर्माण होता है, उस समाज में चुनाव, राजनीति आदि बातें समाज का सुख-सौंदर्य वृद्धिंगत करने में कारणीभूत होते हैं। जिस प्रकार बलिष्ठ शरीर पर ही वस्त्रालंकार आदि शोभायमान होते हैं। जिसके हाथ-पैर लकड़ी के समान सूखे हों, उसके शरीर पर वह शोभा नहीं पाते। अथवा जिस प्रकार कोई रोगग्रस्त शरीर पकवान नहीं पचा सकता। अन्न तक पचाने के लिए बलिष्ठ व निरोग शरीर आवश्यक होता है। उसी प्रकार शक्तिशाली, निरोग, पुष्ट राष्ट्रजीवन हो, तभी चुनाव या राजनीति सदृश आवरण शोभा पाते हैं, उनके कारण उस राष्ट्र का सुख-सौंदर्य बढ़ता है, वे सब उसके लिए उपकारक सिद्ध होते हैं।

स्मृति मंदिर की सार्थकता

व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन में मातृभूमि की भक्ति जगाकर और उस सूत्र में संपूर्ण समाज को आबद्ध कर, समाज का संगठित सामर्थ्य निर्माण करने का मूलभूत कार्य डाक्टर साहब ने हमारे सामने रखा है। इसी कार्यार्थ हमें अपनी संपूर्ण शक्ति लगानी चाहिए। शाखाओं के द्वारा समाज में एकात्म जीवन निर्माण करने की पद्धति का पूर्णतः अवलंबन कर, इस कार्य की सिद्धि के लिए हम अपना संपूर्ण सामर्थ्य दाँव पर लगा देंगें, ऐसा दृढ़ निश्चय हृदय में धारण करना चाहिए। उसके लिए हमें इस स्मृतिमंदिर के दर्शनमात्र से अपने अंदर संघ-संस्थापक के समान तेजस्वी, राष्ट्रभक्ति से ओतप्रोत जीवन निर्मित करने की प्रेरणा प्राप्त करनी होगी। यदि ऐसा हो सका तभी इस स्मृतिमंदिर के निर्माण किए गए परिश्रम वे सार्थक होंगे।

एक पूजास्थल निर्मित कर हम उसके महंत बन जाएँ, इस प्रकार की भूमिका से इस स्मृतिमंदिर का निर्माण नहीं हुआ। ईंट-पत्थर से निर्मित होनेवाली वस्तुओं में मेरी कोई रुचि नहीं है। ऐसा होते हुए भी मुझे यह स्मृतिमंदिर चाहिए। क्योंकि यह स्थान अत्यंत पवित्र है। जिस भूमि पर संघ-संस्थापक ने विचरण किया, अपने कार्य के लिए उन्होंने जहाँ अपना पसीना बहाया और अंत में चिरविश्रांति के लिए जहाँ शरीरत्याग किया, वह पवित्र स्थान हमें अपना जीवन उनके समान बनाने की प्रेरणा दे, इस श्रद्धायुक्त भावना से ही हमें स्मृतिमंदिर को देखना है।

७. हमारा आदर्श डा. हेडगेवार

(सांगली के नगर वाचनालय में ७ सितंबर १९६४ को परमपूजनीय डा. हेडगेवार जी के तैलचित्र-अनावरण समारोह में दिया गया भाषण)

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कार्य जिन्होंने अपनी स्वयं की प्रतिभा से प्रारंभ किया, उन परम पूजनीय डा. हेडगेवार जी के चित्र, जिसे आजकल लोग अनावरण कहते हैं, हम लोग उसे 'वरण' कहेंगे, वरण याने स्वीकार– ग्रहण करने का कार्यक्रम हम लोगों ने आयोजित किया है। मुझे लगता है कि जिस कार्य का दायित्व मुझ पर है, उस कार्य के निर्माता के चित्र के 'वरण' अर्थात् ग्रहण करने के लिए वस्तुतः कोई अन्य व्यक्ति अधिक योग्य सिद्ध होता।

हम लोग यहाँ उनका चित्र लगाने के लिए इसलिए उद्युक्त हुए हैं, क्योंकि हमारी धारणा है कि उनमें कोई विशेषता थी, सर्वसाधारण व्यक्ति से उनमें कोई असामान्यता थी। इसलिए हम लोग यहाँ इस उपक्रम के आयोजन में सम्मिलित हुए हैं। अब यदि कोई पूछे कि उनकी महानता किस बात में थी, तब संभव है कि इस प्रश्न का कोई सटीक उत्तर न दिया जा सके। कारण यह है कि उनका व्यक्तित्व बहुमुखी था।

हम लोग कार्य करते समय बहुत बार शिकायत करते हैं कि अनुकूलता नहीं है, धन नहीं है, आदमी मिलते नहीं आदि। वास्तव में जिन्हें अप्रसिद्ध रहते हुए कार्य करना हो, उनके लिए ये कठिनाईयाँ निरर्थक हैं, यह बात हम उनके चरित्र से सीख सकते हैं। अप्रसिद्ध कुल में जन्म, घोर दारिद्र्य, दो जून भोजन मिलना असंभव, चार लोगों के बीच उठते-बैठते समय पहनने के लिए एकाध कुर्ता और घर पर पहनने के वर्षों पहने हुए जीर्ण कपड़े, लगभग सारा जीवन उन्होंने इसी प्रकार बिताया। ऐसी उनकी सांपत्तिक अवस्था थी।

कर्त्तव्य बुद्धि को आह्वान

किसी से कुछ माँगने की प्रवृत्ति भी नहीं थी। कार्य के लिए भी कभी उन्होंने किसी से कुछ माँगा नहीं। उनके जीवन में माँगने का प्रसंग संभवतः एक ही बार आया। संघ-स्थापना के पूर्व राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत कुछ लोगों ने एक दैनिक समाचार-पत्र के प्रकाशन की योजना बनाई थी। उस समय उस समाचार-पत्र के लिए धन-संग्रह करने के उद्देश्य

से वे कुछ स्थानों पर, कुछ लोगों के पास गए थे। उस समय भी किसी से कुछ माँगा जाए, यह प्रवृत्ति उनमें नहीं थी। उन्होंने तो लोगों की कर्तव्यबुद्धि को जागृत करने का प्रयास कियाा। जिससे लोग स्वयं होकर देने को उद्युक्त हों।

इसी सिलसिले में वे एक बंगला-भाषी ख्यातनाम वकील सज्जन के पास गए। उन्होंने उनसे कहा– 'नागपुर से एक समाचार-पत्र निकालने का हमारा संकल्प है, अतः आपको उसके लिए कुछ धन देना होगा।' इस पर वकील महोदय ने प्रश्न किया – 'आप कौन-सा समाचार-पत्र निकालना चाहते हैं, उसका स्वरूप क्या होगा।'

डाक्टर जी ने उन्हें बताया वे लोग एक मराठी दैनिक पत्र प्रकाशित करना चाहते हैं।

तब वकील साहब ने कहा– 'मैं तो बंगाली हूँ, मेरा मराठी दैनिक से क्या सरोकार? मेरे पास कोलकाता से अंग्रेजी और बंगाली समाचार-पत्र आते हैं। उनसे मुझे बंगाल के सभी प्रकार के समाचार पढ़ने को मिल जाते हैं। ऐसी स्थिति में मैं मराठी दैनिक के लिए धन क्यों दूँ?'

इस पर डाक्टर जी ने उनसे प्रश्न किया– 'यदि आप बंगाली समाचार-पत्र ही पढ़ना और खरीदना चाहते हैं और उन्हीं का पोषण करना चाहते हैं, तब आपको इस प्रांत में नहीं रहना चाहिए, आप जाइए और वहीं रहिए। वहाँ आपसे माँगने के लिए हम नहीं आएँगे। परंतु यदि आपको यहाँ रहना है, तो फिर आपको एक बात ध्यान में रखनी होगी कि जिस प्रांत में रहते हैं, उसी प्रांत का बनकर रहना होगा, यहाँ के जीवन से समरस होना पड़ेगा। मैं बंगाली हूँ, इस प्रकार का अलगाव आपको क्यों प्रतीत होता है? यहाँ हम सभी लोग आपके साथ रहते हैं, हमारा आपका संबंध है। इस प्रदेश के जन-जीवन में चेतना उत्पन्न करने के लिए जो समाचार-पत्र चलेगा, उसका भरण-पोषण करना आपका कर्तव्य है और उसे आपको पूर्ण करना ही चाहिए।'

उन वकील साहब ने कहा – 'आपके ये तर्क मुझे जँचते नहीं।'

डाक्टर जी ने कहा – 'आपको भले ही न जँचते हों, परंतु मुझे तो जँचते हैं। इसलिए मैं आपसे रकम लेने के लिए आया हूँ और वह लेकर ही जाऊँगा। खाली हाथ नहीं लौटूँगा।'

उन्होंने बिना कुछ कहे चुपचाप रकम निंकालकर दे दी। तात्पर्य

यही किसी से भीख माँगने के लिए नहीं, अपितु लोगों को उनके कर्तव्य का बोध कराने के लिए ही गए। जब सार्वजनिक हित के कार्य के लिए भी लोगों से पैसे माँगना असंभव था, तब अपने लिए कुछ माँगना कैसे संभव होता? उन्होंने निजी जीवन में कितने कष्ट उठाए होंगे, इसकी हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं।

यदि विद्वत्ता के नाते देखें तो डाक्टर जी में बहुत विद्वत्ता नहीं थी। डाक्टरी की परीक्षा तो उन्होंने केवल इसलिए पास की थी कि किसी डिग्री के बिना समाज में मान्यता नहीं मिलती। उन्होंने डाक्टरी पढ़ी, पर कभी व्यवसाय नहीं किया। उन्होंने कोई ग्रंथ-लेखन भी नहीं किया।

वक्तृत्व की दृष्टि से विचार करें तो डाक्टर जी की वाणी प्रभावकारी और हृदय को स्पर्श करनेवाली थी। किंतु जिसे वक्तृत्व-कला कहते हैं, उससे वह परिपूर्ण नहीं थी। उनकी वाणी सीधी, सरल और हृदय को द्रवित करनेवाली थी। इससे यह स्पष्ट होगा कि सार्वजनिक जीवन में सफलता की दृष्टि से अनुकूल कही जानेवाली बात ईश्वर से उन्हें जन्मतः प्राप्त नहीं थी। फिर उनमें ऐसी कौन सी बात थी, जिसके कारण उन्हें सफलता मिली? अपना जीवन केवल स्वार्थ या अपने उदरनिर्वाह के लिए नहीं, अपितु राष्ट्र के लिए है, अतः उसका कण-कण और क्षण-क्षण राष्ट्र के लिए समर्पित होना चाहिए, ऐसी उनकी दृढ़ धारणा थी। उनकी मनोरचना का यह महत्त्वपूर्ण पहलू हमें दिखाई देता है।

सक्रिय समाज-जीवन

राष्ट्र की सेवा करने का निश्चय करने पर सामान्य रूप से व्यक्ति पहले अपने चारों ओर देखता है कि चल रहे विभिन्न कार्यों में से वह कौन-सा काम करे। जो काम उसे रुचिकर प्रतीत होता हो, अच्छा लगता हो और बिना किसी कष्ट के किया जा सकता हो, उसे ही वह ग्रहण करता है। डाक्टर जी ने भी चारों ओर चलनेवाले कार्यों को देखा। वे स्वयं अभिजात क्रांतिकारी थे। कांग्रेस में रहकर उन्होंने अथक परिश्रम के साथ काम किया। हिंदू महासभा के वे प्रांत के (पुराना मध्यप्रदेश) आधारस्तंभ माने जाते थे। उस समय जितने भी छोटे-बड़े काम चल रहे थे, उसमें वे अपनी शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक योगदान देने का प्रयास करते थे।

अंग्रेजों के बाद.....?

समाज-कार्य करते समय उनके अंतःकरण में कुछ प्रश्न खड़े होते

थे। हम लोगों ने बड़े-बड़े आंदोलन चलाए और अंग्रेजों के विरुद्ध प्रबल आँधी खड़ी की और मान लो येन-केन-प्रकारेण अंग्रेज यहाँ से चले गए, उसके बाद यहाँ क्या प्रस्थापित होगा? यह प्रश्न उन्होंने बड़े-बड़े नेताओं से किया कि 'हम जब यह कहते हैं कि अपना राष्ट्र स्वतंत्र होगा तो उसकी पहचान क्या है? उसका स्वरूप क्या है? उसके कौन से लक्षण हैं? उसका शरीर कैसा है? उसके गुण कौन से हैं? उसकी आत्मा क्या है?'

सभी ने कहा – 'इन सब बातों का विचार करने के लिए अभी समय कहाँ है? एक बार अंग्रेजों को यहाँ से जाने दो। बाद में यथावकाश इन सब बातों पर विचार किया जाएगा।'

इस पर डाक्टर जी का कहना था – 'यथावकाश विचार करना संभव नहीं हो सकेगा, क्योंकि अंग्रेजों के जाने तक बीतने वाले कालखंड में अनेक विपरीत संस्कार अपने मन पर पड़ चुके होंगे और तब यह सीधी-सरल बात भी हमें नहीं सूझेगी कि इन बातों पर हमें विचार करना चाहिए। इसलिए इसी समय यह विचार किया जाना चाहिए और वह लक्ष्य अपने सामने रखकर अपने कदम आगे बढ़ाना चाहिए।' अनेक बड़े-बड़े लोगों के पास जाकर, अपना विचार आग्रहपूर्वक प्रतिपादित कर उन्हें समझाने का प्रयास किया, परंतु इस अज्ञात युवक को कौन पूछता?

आज हमें क्या दिखाई देता है? अंग्रेज तो सचमुच चले गए। पर उनके चले जाने के बाद आज अपनी स्थिति क्या है? 'राष्ट्र' की कल्पना के संबंध में हम दिग्भ्रमित नहीं हैं क्या? दिग्भ्रमित स्थिति का एक उदाहरण देता हूँ।

आपने अनेकों बार सुना होगा कि पूर्वी पाकिस्तान के मुसलमान बहुत बड़ी संख्या में असम व बंगाल में अवैध रूप से बस गए हैं। अकेले कोलकाता शहर में ही उनकी संख्या ५ लाख से अधिक है। यह बात अपने राज्यकर्ताओं को दिखाई क्यों नहीं देती? दिखाई अवश्य देती है, पर वे उसे स्वीकार नहीं करते।

सन् १९६० में मैंने जब इन लोगों को बताया तो उन्होंने कहा—'मैं गप्पें हाँकता हूँ। मुझे मुस्लिम फोबिया हो गया है। मैंने कहा —'मुझे क्या हुआ है, क्या नहीं हुआ यह तो मुझे पता नहीं, परंतु यह बात सत्य है कि अपने देश की, राष्ट्र की मुझे चिंता है।'

पूर्व पाकिस्तानियों के अवैध रूप से बसने की समस्या ने अब ऐसा

स्वरूप ग्रहण कर लिया है कि वह अंधे को भी दिखाई देती है। जानबूझकर अंधे बने अपने नेताओं को भी यह दिखाई देने लगा है कि वे पाकिस्तानी यहाँ आकर केवल बसते ही हों, ऐसी बात नहीं है। अपने देश के नागरिक न होते हुए भी वे कुछ स्थानों पर नगरपालिका के सदस्य और अध्यक्ष भी बन रहे हैं, फिर भी अपने ये राज्यकर्ता चैन की नींद सो रहे हैं।

इसका कारण यह है कि हमारे इन राज्यकर्ताओं के मन में यह विचार नहीं आता कि यहाँ आकर बसनेवाले ये (पाकिस्तानी) लोग अपने नहीं हैं, वे हमारे लिए घातक हैं, राष्ट्रजीवन के शत्रु हैं। इससे स्पष्टतः यह प्रकट होता है कि राज्यकर्ताओं को राष्ट्र के स्वरूप का ही ज्ञान ही नहीं है। संभवतः उन्हें लगता है कि यहाँ आए हुए पाकिस्तानी अपने ही राष्ट्र के हैं।

द्रष्टा

एक द्रष्टा के समान अनेक वर्षों पूर्व यह अनुभव कर कि इस प्रकार के संकट अपने ऊपर आ सकते हैं, उसके भीषण स्वरूप की कल्पना कर, सबके सामने रखने तथा अपनी पैनी दृष्टि से भविष्य के आवरण को भेदकर देखने की क्षमता अपने परम पूजनीय डाक्टर जी में थी। उस क्षमता के कारण उन्होंने बताया कि शुद्ध राष्ट्र का विचार किया जाए। विशुद्ध राष्ट्र का तथा उसके पोषण का विचार करने से ही इस बात का बोध होगा कि राष्ट्र पर संकट के कौन से बादल मँडरा रहे हैं तथा उनके निवारणार्थ क्या उपाय किए जाए। इस विषय में उन्होंने जो मार्गदर्शन किया उसका वर्तमान परिस्थिति में कितना महत्त्व है, यह हम सबके ध्यान में आ सकता है। उनकी ऐसी पैनी दृष्टि अहर्निश राष्ट्र-चिंतन के कारण ही बनी थी।

उन्होंने अपने जीवन में राष्ट्र-चिंतन को छोड़कर अन्य किसी बात को स्थान नहीं दिया। राष्ट्र के लिए ही उन्होंने अपना जीवन समर्पित कर दिया। व्यक्ति को जीवन में परिवार, सुख, संपत्ति आदि की चाह रहती है। परंतु उन्होंने इन बातों को अंतःकरण में से मानो उखाड़ डाला तथा केवल राष्ट्र-चिंतन में ही लीन रहे और उसके लिए जीवनभर अथक परिश्रम किया। हम, आप भी वह दृष्टि प्राप्त कर सकते हैं।

कुछ वर्ष पूर्व की घटना है। मैंने नागपुर शाखा के एक उत्सव-प्रसंग पर भाषण में कहा था कि 'अपने पड़ोसी नेपाल के मंत्रिमंडल के कुछ सदस्य अपने आचरण से इतना संभ्रम पैदा कर रहे हैं कि मुझे लगता है

कि यदि नेपाल-नरेश मंत्रिमंडल पदच्युत कर संपूर्ण शासन की बागडोर अपने हाथों में ले लें तो कोई आश्चर्य नहीं।' इसके आठ दिन के बाद वही हुआ। महाराष्ट्र के समाचार-पत्रों ने कहा कि सरसंघचालक के पास अवश्य गुप्तचर रहते होंगे। यह बताने के लिए स्थिर बुद्धि कि आवश्यकता है, गुप्तचरों की नहीं– यह सीधी-सी बात उन लोगों के ध्यान में नहीं आती। मुझसे एक नेता ने पूछा, 'आपने यह कैसे बताया?'

मैंने कहा, 'आपको नहीं दिखता, यह अपराध मेरा नहीं है। आपने मेरी दृष्टि से देखा होता, तो आप भी देख सकते थे। मैं जिस परंपरा में पला हूँ, उसके अनुसार अपने राष्ट्र और देश का विशुद्ध चिंतन करो। आपको भी सब कुछ दिखाई देने लगेगा।'

संगठन का निश्चय

मुझे लगता है कि यह चिंतन करना जिन्होंने सिखाया, उनकी महानता, उनका द्रष्टापन और चिंतन की तीव्रता का हम यदि थोड़ा भी अनुभव कर सकें, तो बहुत फलदायी होगा। डाक्टर जी ने अनुभव किया कि राष्ट्र का विचार न करने के कारण संभ्रम उत्पन्न होता है, इसलिए वे स्वंय राष्ट्रचिंतन के लिए प्रवृत्त हुए। इसी चिंतन के परिणामस्वरूप उन्हें इस एक ऐतिहासिक सत्य का साक्षात्कार हुआ कि 'अपना राष्ट्र हिंदू-समाज से बना है।' चारों ओर की विपरीत परिस्थिति से विचलित न होते हुए इस ऐतिहासिक सत्य को स्वीकार कर, उन्होंने धैर्यपूर्वक उस पथ पर चलने का दृढ़ संकल्प किया।

उसी प्रकार उन्होंने एक दूसरा विचार भी किया। इतिहास ने हमें उच्च स्वर से यह बताया है कि परकीयों के हाथों हम पराजित हुए उसका कारण हमारे संख्याबल की कमी नहीं थी और न ही हम पौरुष या पराक्रम में किसी से कम थे। यह भी नहीं कि हम मूर्ख या अज्ञानी थे। हमारी हार के लिए इनमें से कोई भी बात कारण नहीं बनी। अपितु इन सभी बातों की अनुकूलता होते हुए, हम परस्पर झगड़ते रहे, एक-दूसरे से शत्रुता मोल लेते रहे, एक-दूसरे पर प्रहार करते रहे। इस प्रकार हमने अपने समाज और राष्ट्रजीवन की एकता को छिन्न-विच्छिन्न कर डाला। एकता का प्रवाह खंडित हो जाने पर राष्ट्र की शक्ति छिन्न-विच्छिन्न होना स्वाभाविक ही था और यह छिन्न-भिन्न शक्ति परकीय आक्रमणों के सामने टिक नहीं पाई। इन सारी बातों का अध्ययन कर डाक्टर जी ने अपने समाज का संगठित जीवन खड़ा करने का निश्चय किया था।

८. महाविभूति स्वामी विवेकानंद

(स्वामी विवेकानंद जी के जन्म-दिवस पर १२ जनवरी १९५० को उनकी पावन स्मृति में समर्पित शब्दांजलि)

'भारत के रोग का सुस्पष्ट निदान कर अभ्युदय का मार्ग बतानेवाला, हिंदू-समाज के वैभव-प्रासाद की नींव, धर्म, संस्कृति का ऐकात्म्यबोधक तत्त्वज्ञान ही हो सकता है, केवल आर्थिक या राजनैतिक सूत्रबंधन ही नहीं'– इस सत्य की घोषणा करनेवाले, तमोगुण व्याप्त अकर्मण्य एवम् प्रमत्त हिंदू समाज को सन्मार्ग प्रदर्शन कर तेजस्वी कर्मयोग का संदेश सुनानेवाले, उच्च-नीच आदि भेदभावों के विध्वंसक, व्यक्तिमात्र में नारायण का दर्शन कर उसकी सेवा करने का आदेश प्रदान करनेवाले हे महाविभूति भारत की पराधीन अवस्था में भी संसारभर को उसके तत्त्वज्ञान का जयजयकार करवानेवाले जगद्गुरो! जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परकीयों का अंधानुकरण कर अपनी बुद्धि का खोखलापन, हीनता, दासता प्रकट कर भारत को अभारतीय जड़वाद की ओर ले जानेवाले मूढ़ हिंदुओं के तथाकथित नेताओं के नेत्रों में स्वाभिमान का प्रखर अंजन डालकर उन्हें जगानेवाले भारत ही संसार का परमगुरु है इस सत्य को सिद्ध करनेवाले हे विश्ववंद्य महात्मन्! आज फिर से परानुकरण एवं अधार्मिकता के पथ पर चलनेवाले, मानवता से पशुत्व की ओर बढ़नेवाले चारों ओर फैल रहे हैं। आज आपका पुण्यस्मरण कर हम आपसे धर्म और सन्मार्ग का पथप्रदर्शन चाहते हैं।

आपके आशीर्वाद से आज के अज्ञानजन्य अवगुणों को नष्ट कर, भेदरहित सूत्रबद्ध हिंदूसमाज प्रबल एवम् स्वाभिमानपूर्ण होकर अपने महान सांस्कृतिक गुणों का पुनरुज्जीवन कर प्रत्येक व्यक्ति को सुखपूर्ण जीवन प्राप्त करा देता हुआ संसार के सम्मुख स्पर्धाशून्य शांतिमय समाजजीवन का आदर्श खड़ा कर सकेगा। इस उद्दिष्ट को पाने के लिए हम आपके उपासक, आपसे यही वरदान माँगते हैं कि हमारा संपूर्ण जीवन इस महान उत्थान-कार्य में व्यतीत हो, मार्ग में आनेवाले कष्ट भी सुखदायी हो सकें ऐसी हममें लगन हो और आपने जिस भारतमाता का जग में सम्मान बढ़ाया उसकी सेवा में हम लोगों का जीवन समर्पित हो। प्रभु आपके स्मृतिदिवस के अवसर पर ये कुछ रूखे-सूखे शब्दपुष्प, जैसे भी हों, अर्पण कर रहा हूँ। यह अल्पपूजा स्वीकृत हो।

६. सत्त्वशक्ति के उद्गाता श्री विवेकानंद

(स्वामी विवेकानंद जन्मशताब्दी समारोह समिति, दिल्ली द्वारा १३ जनवरी १९६३ को गाँधी मैदान, में आयोजित समारोह में दिया गया भाषण)

भारत की यह पुरानी परंपरा रही है कि कष्टों के अंत तथा सुख-संपदा एवं आशा के आरंभ के संधिकाल में निश्चित रूप से किसी आध्यात्मिक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, न कि राजकीय पुनरुत्थान का। गत इतिहास की ओर दृष्टिपात करने पर हमें ज्ञात होता है कि विजयनगर साम्राज्य के उत्थान के समय मध्वाचार्य एवं शंकराचार्य जैसे द्रष्टाओं के आध्यामिक संदेश ही उपयुक्त हुए। छत्रपति शिवाजी की सफलताओं के पीछे भी संतों की परंपरा दृष्टिगोचर होती है। शिवाजी के साम्राज्य-गठन में समर्थ रामदास स्वामी का प्रत्यक्ष योगदान स्पष्ट रूप से था। इसी प्रकार पंजाब का भी यही इतिहास है। गुरु नानक से लेकर गुरु गोविंदसिंह जैसे संतों की मालिका ही पंजाब को मुगलों के भय और आतंक से स्वतंत्र होने की प्रेरणा देती रही है।

जिनकी जन्म-शताब्दी मनाने हम आज एकत्र हुए हैं, उन स्वामी विवेकानंद जी ने स्वयं ही श्री गुरु गोविंदसिंह जी को इस देश के महान आदर्श के नाते संबोधित किया है। उन्होंने केवल स्वयं को ही देश पर न्योछावर नहीं किया, अपितु अपने पुत्रों का भी बलिदान किया। जब उन लोगों, जिनके लिए गुरु गोविंदसिंह ने स्वयं के परिवार का उत्सर्ग किया था, ने उन्हें छोड़ दिया, उस समय कुछ भी बोले बिना शांति से वे दक्षिण की ओर निकल पड़े, जहाँ उन्होंने अपने भौतिक शरीर का त्याग किया। वे वास्तव में आदर्श एवं वंदनीय हैं।

इसी प्रकार आधुनिक समय में ब्रिटिश लोगों को खदेड़ने के लिए चलाए गए संघर्ष में, आध्यत्मिक पुनरुत्थान में, स्वामी जी का नाम विशेष देदीप्यमान है। स्वामी जी के बारे में शाब्दिक गौरवगान उचित नहीं होगा या उनकी प्रतिमा की प्रतिष्ठापना मात्र से उनकी प्रतिष्ठा व्यक्त नहीं होगी। हमें उनके विचारों, आदर्शों को सादर साकार करना होगा। हम पूरे समाज को उनके उपर्दिष्ट वेदांत आदर्शों से अवगत करा कर, पूर्णतः बदल कर, उनके आदर्शों पर चलने हेतु प्रेरित करें।

सुधार नहीं सेवा

उन्होंने समाजोत्थान का नारा लगाकर दिशा बदलने का दावा कभी

नहीं किया। उनकी मान्यता थी कि यदि हर व्यक्ति स्वयं को वेदांत के प्रकाश में पहचान ले, तो वह स्वयं देवत्व का मार्ग खोज लेगा। तब वहाँ किसी मार्गदर्शक की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

किसी व्यक्ति ने भगवान रामकृष्ण परमहंस जी से कहा – 'हमें समाज को सुधारना होगा।' तब उत्तेजित होकर वे बोल पड़े थे– 'आप समाज सुधारनेवाले होते कौन हो? सुधार नहीं, ईशभाव से सेवा करो।' उन्होंने सुधार पर नहीं, अपितु सेवा पर ही अधिक बल दिया। स्वामी जी का सारा जीवन श्री रामकृष्ण परमहंस द्वारा प्रदत्त शिक्षा से परिपूर्ण था। वे मातृभूमि के अनन्य उपासक थे। ईशभाव से मातृभूमि की सेवा अटूट विश्वास एवं दृढ़ भाव से करो, यही उनका प्रथम उपदेश रहता था।

सत्त्वसंपन्न सामर्थ्य के पुजारी

स्वामी जी शक्ति के अनन्य पुजारी थे। उनकी धारणा थी कि दुर्बलता पाप है। उनकी ओर एक दृष्टिपात से ही यह समझ में आ सकता है कि वे कितने निडर एवं बलवान थे। उनके छायाचित्र मात्र से ही उनकी शक्ति का स्पष्ट परिचय होता है। वे हर किसी को शरीर स्वस्थ एवं बलवान रखने की प्रेरणा देते थे। वे कहा करते थे – 'बड़े काम करने के लिए बलवान शरीर की आवश्यकता है। आपके स्नायु लोहे जैसे और धमनियाँ फौलाद जैसी होनी चाहिए। आपकी देशभक्ति आपसे शक्तिमान शरीर की आशा करती है।'

कोई कह सकता है कि मैं कुशाग्रबुद्धि हूँ, किंतु इस कुशाग्र बुद्धि का क्या लाभ? जब उसको सुदृढ़ शरीर का साथ मिलेगा तभी वह लाभप्रद होगी। किंतु केवल सुदृढ़ शरीर भी उपयोगी नहीं है। कालांतर में उसके आसुरी बनने का भय रहता है। इसलिए स्वामी जी इस बात पर भी अधिक जोर देते थे कि इसके साथ मन की पवित्रता भी आवश्यक है, जिससे शारीरिक बल पर अंकुश रखा जा सके। यदि समर्पण हो, स्थिरता हो और मन की एकाग्रता हो, तो मनुष्य बहुत सारी बातें जान सकता है, जो अन्यथा संभव नहीं।

हमारी परंपरा की शुचिता

जब स्वामी जी मन की पवित्रता और अध्यात्म के संबंध में चर्चा करते थे, तब कुछ व्यक्तियों ने उसने मजाक करने की ठानी। उन्होंने एक

नर्तकी को उनके कक्ष में छोड़ दिया। किसी को अपने कमरे में देखकर स्वामी जी आश्चर्यचकित हुए। जब उन्होंने उस महिला को देखा तो साष्टांग दंडवत प्रणाम करते हुए कहा– 'माताजी, आपको इस प्रकार से निकृष्ट जीवन जीने की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार अपने पापों की वृद्धि करने से क्या लाभ है?' वह तरुणी इन शब्दों से बहुत प्रभावित हुई। उसने उन लोगों, जिन्होंने उसे स्वामी जी के कक्ष में भेजा था, को इस पापकर्म करने में प्रवृत्त किए जाने के लिए बहुत बुरा-भला कहा।

हमारी परंपरा ने संपूर्ण अंतर्बाह्य पवित्रता पर अधिक बल दिया है। पश्चिमी देशों में हमें ऐसे कई तत्त्ववेत्ता मिलेंगे जिनके चरित्र में खोट है, किंतु अपने यहाँ शुद्ध चरित्र अनिवार्य है।

हम अनेक प्रकार के अवरोधों से घिरा अनुभव करते हैं। इन सब में स्वयं को अलिप्त रखना कोई सरल काम नहीं है, अपितु प्रेरणा एवं निष्ठा की आवश्यकता है। इस हेतु योगाभ्यास या हठयोग करने की आवश्यकता नहीं है। अपने दैनंदिन कार्य में यदि हम थोड़ा मन एवं कार्य पर अनुशासन का अंकुश रखें, तो हम मानसिक पवित्रता पा सकते हैं।

मिलनेवाले मित्रों से प्रायः मैं एक प्रश्न पूछता हूँ– 'कल्पना कीजिए कि आप अपनी परीक्षा की तैयारी में पुस्तकें लेकर पढ़ने बैठे हैं, उसी समय मार्ग से कोई शोभायात्रा आपकी मनपंसद धुन बजाती जा रही है, जो सभंवतः आप सुनना चाहते हों। मैं जानना चाहूँगा कि क्या आपको वह धुन सुनाई देगी? निश्चित रूप से आप का उत्तर होगा 'हाँ।' इसका अर्थ स्पष्ट है कि मन सरलता से धुन की ओर आकर्षित होगा एवं आपको पुस्तक में अक्षरों के स्थान पर केवल काले धब्बे मात्र दिखेंगे। ऐसी अवस्था में हम अपने मन को, अपने कार्य में लीन करने का प्रयास करें, यही ठीक है। प्रयत्नपूर्वक एकाग्रता से ही मानसिक शुद्धता पाई जा सकती है।

भारत पुण्यभूमि है

स्वामी जी की यह मान्यता थी कि यदि ऐसा कोई देश है जहाँ मनुष्य भगवान् की पूजा के माध्यम से भगवान से सुसंवाद स्थापित कर सकता है, तो वह केवल भारत ही है। हमारे पूर्वजन्म के पुण्यों के कारण ही हमें इस पावन भूमि में जन्म मिला है। वस्तुतः पूर्व सुकृत के बाद भी मोक्ष पाने हेतु भारतवर्ष में जन्म लेना ही भाग्य की बात है। अन्य भू-भाग में भोग अथवा उपभोग मिल सकता है। वैज्ञानिक उपलब्धियाँ भी संभवतः

पा सकता है, चंद्रमा पर पहुँच सकता है, किंतु भगवान तक नहीं पहुँच सकता। इसके लिए उसे भारत में ही जन्म लेना होगा। इसी कारण स्वामी जी ने भारत के सपूतों को प्रेरित किया।

अभी विवेकानंद शिला स्मारक का उल्लेख किया गया। उसे देखने का मुझे सौभाग्य मिला। स्वामी जी ने उस शिला पर खड़े होकर उत्तराभिमुख हो इस पवित्र धरती माँ को देखा, तथा उस शिला पर बैठकर ध्यान-धारणा की। वे इस ध्यान में कब तक मग्न थे यह तो ईश्वर ही जाने, पर वापस लौटने पर उन्होंने 'मार्ग मिल गया है। अपने देश को मुक्त कराने का मार्ग।' यह कहकर जनता को शिक्षित करने का आह्वान किया और स्पष्ट किया कि यह करते समय हमारी संस्कृति, धर्म को हीन मानने की कतई आवश्यकता नहीं है।

पूर्वजों का अनादर न हो

इसी प्रकार उन्होंने बालविवाह को अमान्य किया। पर इसी के साथ यह भी स्पष्ट किया कि यह प्रथा उस समय प्रचलित हुई, जब इस देश पर विदेशी आक्रमण हुए। इस कारण आक्रामकों से आतंकित होकर देशवासियों ने बालविवाह अपनाए।

जाति के संबंध में उन्होंने कहा कि 'बाल्यावस्था में मैं जाति विरोधी था, परंतु अनुभवों से परिपक्व होने पर जाति-प्रथा समाज स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है,' ऐसा मैं कहता हूँ।

स्वामी जी ने बारंबार कहा कि बहुत सी प्रथाएँ आज हमें अनुपयुक्त लगती हैं, लेकिन उस समय उपयोगी थीं। आज उनको लेकर आक्रोश करने की आवश्यकता नहीं है। यथोचित परिवर्तन के समय यह ध्यान रखना होगा कि उन्हें बदलते समय पूर्वजों को दोषी समझकर उनका अनादर न करें।

हिंदू राष्ट्र

आपको ज्ञात होगा कि स्वामी जी के भाषण एवं लेखों में 'हिंदू राष्ट्र' का उल्लेख रहता था। भाषणों में कहीं उन्होंने गुरु गोविंदसिंह का प्रश्रय लिया, तो कहीं छत्रपति शिवाजी का। उनके विचार से वे महान पुरुष जिस समाज से आए, वह सारा समाज पूरे देश में समाहित है। उनके लेखों से यह स्पष्ट है कि वे 'हिंदू' और 'इंडियन' को समानार्थी मानते थे। इसको ध्यान में रखकर ही वे हिंदू धर्म के उपदेशों के प्रसार पर अधिक बल देते

थे। वे कहते थे कि, समाज को बलवान बनाए एवं समाज की सेवा करें।

आश्चर्य नहीं कि सत्तर वर्ष पूर्व उन्होंने आज की परिस्थिति को भाँप लिया था। उनकी दूरदृष्टि भविष्य जान सकती थी। अमरीका में पूछे गए एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा था– 'यद्यपि आज चीन सुप्त दिखता है, परंतु वह शीघ्र ही जागेगा और जब जागेगा, तब विश्व के लिए संकट बनेगा।' प्रश्नकर्ताओं के यह पूछने पर कि 'क्या वह आपके देश के लिए भी संकट बनेगा?' स्वामी जी ने उत्तर दिया वह भारत के लिए भी संकट बन सकता है।' यह भविष्यवाणी सत्तर वर्ष पूर्व की है। इससे यह सिद्ध होता है कि आज का राजकीय दृष्टिकोण दूरदृष्टि से पर्याप्त नहीं है। हमारे नेताओं को उसका अनुभव चीन के आक्रमण के बाद ही आया। अतएव सांस्कृतिक एवं धार्मिक रंग में रंगे सत्य दिव्यदृष्टि एवं दृष्टिकोण प्रदान करते हैं।

इस आक्रमण के संबंध में यह जानना होगा कि इस प्रकार के आक्रमण पुनः हो सकते हैं, तथापि स्वामी जी ने कहा कि 'उन्हें विश्वास है कि अंततोगत्वा यह राष्ट्र सफल होगा। यह समाज अमर है। यह समाज मरणातीत है, क्योंकि यह समाज स्वभाव से बहुत शांत और नम्र प्रकृति का है। नम्र स्वभाव का यह हिंदू समाज अनेक आघातों को सहन करने पर भी जीवित है। हर किसी को इस जीवन में अपने जन्म का उद्देश्य पूरा करना पड़ता है। जब तक जीवन है, तब तक यह कार्य चलता रहता है।

ग्रीकों व रोमन ने अपना उद्देश्य पूरा किया और वे समाप्त हो गए। इसी प्रकार अनेक राष्ट्र लुप्त हो गए। कईयों ने बलवान साम्राज्य बनाए। उनमें से कईयों ने तो हम पर अनेक आक्रमण किए, किंतु इस हिंदू राष्ट्र ने सबका सामना कर शत्रु को परास्त किया। वह केवल इसीलिए कि उसके पास जीवन का अमूल्य भंडार है। वह मनुष्य को प्रगति की चरम सीमा 'मोक्ष' तक पहुँचाने का गरिमामय ध्येय रखता है। जब तक मानव जीवित है, तब तक हिंदू समाज भी जीवित रहेगा, यही ईश्वर की इच्छा है। हमारी प्रेरणा भी यही है।

मैं बार-बार जन्म लूँगा

अनेक अवरोध एवं संकट होने पर भी स्वामीजी श्रद्धा एवं विश्वास प्रकट किया करते थे। उनके स्वयं के जीवनक्रम से ही समाज सेवा के प्रति उनकी अभिप्रेत निष्ठा परिलक्षित होती है। स्वयं के विषय में वे कहते थे–

'मुझे मोक्ष की नहीं, इस अज्ञानी समाज की सेवा के लिए पुनर्जन्म की अभिलाषा है।' यह उनका आदर्श हिंदू दृष्टिकोण था। महाभारत में भी यही अभिलाषा व्यक्त की गई है–

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।।

(मैं न तो राज्य की कामना करता हूँ, न स्वर्ग और न ही मोक्ष की। मैं दुःखों से पीड़ित समाज के संकटों के नाश की कामना करता हूँ।)

प्रश्न यह है कि हमारी जनसेवा का उद्देश्य क्या होना चाहिए? क्या हम नाम, अपनी जय-जयकार की अभिलाषापूर्ति अथवा किसी पद के लिए यह करें? हमारा लक्ष्य तो निःस्वार्थ परहित सेवा ही होना चाहिए। इस संबंध में स्वामी जी गुरु गोविंदसिंह का उदाहरण दिया करते थे। इस प्रकार की निःस्वार्थ सेवा किसी भी अवरोध से परे है। अपनी वृद्धावस्था एवं विपन्नता में क्या होगा, यह विचार भी उनके मन में कभी नहीं आया। समाज हेतु की गई सेवा के बदले वृद्धकाल में कुछ पाने की अभिलाषा को छोड़कर समाजसेवा करें, यही स्वामी जी की शिक्षा है।

हमें अनेक संकल्प पूरे करने हैं। उन्हें पूरा करते समय ध्यान रहे कि अहंकार या अधिकार की अभिलाषा हमारे मन में क्षणमात्र भी न उभरे। दुर्भाग्य से इस अध्यात्ममयी भूमि में आज अनेक कार्यों का उद्देश्य स्वार्थपूर्ति होता है। किसी को पद की आकांक्षा है तो किसी को सम्मान की। हमें ऐसे कार्यकर्ता चाहिए जो निःस्वार्थ भाव से तथा स्वामी जी के उदाहरण से प्रेरित होकर सुसंगठित, शक्तिवान, चरित्रवान समाज का निर्माण कर सकें।

संस्कृत के अध्ययन का आग्रह

स्वामी जी की शिक्षा के कई पक्ष हैं, जिन्हें हम अपने में समाहित कर सकते हैं। उदाहरणार्थ– उन्होंने संस्कृत पर अधिक बल दिया। उनसे किसी ने कहा– 'संस्कृत तो मृत भाषा है।' तब स्वामी जी ने कहा– 'हर किसी को संस्कृत पढ़ाइए। हमें संस्कृत अध्ययन के प्रसार के लिए सतर्क प्रयास करना चाहिए, क्योंकि हमारी मौलिक विद्वत्ता के रत्न इसी भंडार में छिपे हैं। मानव के उच्चतम दर्शन बिंदु इसी भाषा में निहित हैं। अपने अज्ञान के कारण हम इस संपत्ति से वंचित हैं। संस्कृत शिक्षा हमें अन्य धर्मों के संबंध में भी सम्यक् जानकारी करा सकती है। केवल ब्राह्मण ही नहीं,

अपितु भारत को अपनी माता माननेवाले सभी लोग संस्कृत का अध्ययन करें।'

अपने केरल के प्रवास में स्वामी जी ने वहाँ के नंबूद्री ब्राह्मणों को संस्कृत में वार्तालाप करते देखकर अत्यंत प्रसन्नता व्यक्त की। केरल में बच्चे-बूढ़े-स्त्रियाँ सभी संस्कृत में पारंगत थीं। स्वामी जी का अनुभव तो यह था कि अन्य स्थानों पर तथाकथित पंडित भी संस्कृत बोल नहीं पाते थे। स्वामी जी की मान्यता थी कि केवल संस्कृत के द्वारा ही हम भारत को समझ पाएँगे।

मध्यप्रदेश की जानकारी मिली है कि वहाँ जिन्होंने अंग्रेजी माध्यम से संस्कृत का अध्ययन किया था, उन्हें शास्त्री, आचार्यों की अपेक्षा शिक्षक-नियुक्ति में अग्रक्रम दिया गया। परिणामस्वरूप पाठशालाओं में विद्यार्थियों की संख्या चिंतात्मक रूप से घटी। इस विषय में स्वामी जी के मार्गदर्शक विचार बिल्कुल स्पष्ट हैं। वे इस नई व्यवस्था के प्रतिकूल थे।

आक्रामक भी भक्त बनें

हम स्वामी जी की अमरीका यात्रा का वृत्तांत जानते हैं। उन दिनों वहाँ धर्म-संसद का अधिवेशन चल रहा था, पर हिंदू धर्म का कोई प्रतिनिधि वहाँ नहीं था। स्वामी जी वहाँ गए और हम सबको ज्ञात है कि किस प्रकार उन्हें सम्मानित किया गया। अमरीका में वे कुछ दिन रहे। पश्चिम के प्रबुद्ध नागरिकों ने उनका गुरुत्व भी स्वीकारा। यह संख्या बहुत बड़ी थी। उन्होंने अमेरिका में कई आश्रमों की स्थापना की योजना बनाई। वर्तमान में रामकृष्ण मिशन के रूप में वहाँ अनेक वेदांत-आश्रम विद्यमान हैं एवं सुचारु रूप से चल रहे हैं।

यह वह समय था जब ईसाई तत्त्वज्ञ भारत के संबंध में हीनता एवं वैमनस्य की भावना बढ़ाने में संलग्न थे। वे भारत की प्रतिमा ऐसी चित्रित करते थे मानो भारत राक्षसों का देश है।

संभवतः हम नहीं जानते कि विदेशों में, विशेषतः पश्चिम में भारत के प्रति कितनी घृणा की भावना फैली हुई थी। मुझे एक संस्मरण बताने की इच्छा है, जो रवींद्रनाथ ठाकुर जी ने जापान यात्रा के समय अनुभव किया था। महान कवि, दार्शनिक रवींद्रनाथ जी ने भारतीय दर्शन पर व्याख्यानमाला हेतु जापान के विश्वविद्यालय में आमंत्रित किया गया था। भाषण के पहले ही दिन उन्होंने देखा कि आयोजकों के अतिरिक्त पूरा

सभागृह खाली है। दूसरे दिन आयोजकों ने स्वयं घर-घर जाकर ठाकुर जी की महानता का वर्णन कर उनसे भाषण स्थल पर आने की विनती की। श्रोताओं के न आने से एक विद्वान का अपमान होने की बात भी वे कह रहे थे। लेकिन विद्यार्थियों ने यह कहते हुए कि 'हमें इसमें कोई रुचि नहीं है, मुँह फेर लिया।' अरुचि का कारण पूछने पर उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया– 'हम पराजित जाति का दर्शन नहीं सुनना चाहते।'

यह घटना भारत के प्रति अश्रद्धा एवं अपमान की भावना का स्पष्ट प्रकटीकरण है। इस प्रकार की भावनाओं के बीच स्वामी विवेकानंद उन धारणाओं का खंडन कर भारतीय आध्यात्मिक श्रेष्ठता प्रस्थापित करने में सफल हुए एवं समस्त जगत् को अपने विचारों से नतमस्तक किया।

हम भली-भाँति समझ सकते हैं कि उनका सादा जीवन, उनका आत्मविश्वास कितना प्रभावशाली होगा, कि वे इस कार्य में सफल हुए। किंतु इसी देश में ऐसे भी विद्वान हैं, जिन्हें यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि 'एक बाइबिल १०० गीता के तुल्य है।' पोप के समक्ष ऐसा कहना संभवतः उनका राजकीय सौजन्य हो।

धर्म की पुनर्स्थापना हो

भारतीय विद्यार्थी विद्यार्जन के लिए विदेश जाते हैं और अपने स्वयं के चरित्र के कारण भारत की गरिमा गिराते हैं। उनका विदेश-गमन भले ही व्यापार, शिक्षा या केवल मौजमस्ती के हेतु हो, उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि उनका चरित्र भारत की गरिमा के अनुरूप हो। उन सभी के लिए स्वामी विवेकानंद आदर्श उदाहरण हैं।

स्वामी जी कहा करते थे– 'मुझे अध्यात्म में सशक्त, प्रखर एवं सेवाभावी १०० कार्यकर्ता मिल जाएँ तो विश्व का रूप बदला जा सकता है।' हो सकता है कि हम उन आदर्शों को न छू सकें। किंतु यदि १००० कार्यकर्ता, भले ही उनके आदर्शों से कुछ कम हों, संगठित हों, एक साथ खड़े होकर, एक साथ कंधे से कंधा मिलाकर प्रयत्नशील हों, तो इस प्रकार की आध्यात्मिक शक्ति से हम स्वामी जी का इप्सित विश्व-परिवर्तन ला सकेंगे, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है। यदि ऐसा हम करते हैं तो वह हितावह होगा, अन्यथा ऐसा मानना होगा कि हमने स्वामी जी की अवहेलना की है।

इसमें संशय नहीं कि आज हमारे बीच के ही कुछ प्रमुख लोग धर्म को भुला रहे हैं। इस प्रकार एक अमूल्य धरोहर हम खो रहे हैं। जैसा मेरे

पूर्व वक्ता डा. वी.के.आर.वी.राव ने कहा है कि 'पुरोगामित्व के नाम पर हमारे पास की बची-खुची धरोहर छोड़कर हर बाहरी वस्तु का आकर्षण बढ़ रहा है। देश पर मँडराता यह संकट, इस प्रकार की मानसिकता से दूर नहीं किया जा सकेगा। हमें अपने धर्म की पुनर्स्थापना करनी ही होगी।'

समर्थ रामदास की शिवाजी को यही सीख थी। वही आज भी अनुकरणीय एवं उपयुक्त है कि हमारे सारे प्रयत्न तभी सफल होंगे, जब हम पूर्ण शक्ति से उस परम सत्य के प्रति समर्पण भाव से प्रयत्नशील हों।

स्वामी जी के लेखों का पठन कितने आदर से होता है यह सर्वविदित है। इस विषय में हमारी अनभिज्ञता उस कस्तूरी मृग के समान है, जो कस्तूरी की खोज में जंगल में भटक रहा हो। ऐसा नहीं होना चाहिए। हमें स्वामीजी का संदेश इस देश के घर-घर में पहुँचाना होगा। यदि स्वामीजी के कार्य का उचित परिशीलन नहीं हुआ, तो वह अपना सबसे बड़ा दुर्भाग्य होगा।

१०. जगद्गुरु विवेकानंद

(स्वामी विवेकानंद जन्मशताब्दी समारोह समिति, चेन्नै व विवेकानंद शिला स्मारक समिति द्वारा संयुक्त रूप से, चेन्नै नगर में ३ फरवरी १९६३ को आयोजित समारोह में दिया गया भाषण)

विगत शताब्दी में संसार ने एक महान विभूति का आविर्भाव देखा है। उस महान विभूति को आदरांजलि अर्पण करने के लिए हम लोग एकत्र हुए हैं। इस नगरी का महद्भाग्य है कि भारत-भ्रमण करनेवाले स्वामी विवेकानंद को इसी त्रिप्लिकेन चौपाटी पर सामान्य साधु के वेष में विचरण करते हुए इसी शहर के एक महानुभाव ने देखा था और अपनी दृष्टि से उस संन्यासी के उज्ज्वल भविष्य का आकलन कर उन्हें अपने घर पर आमंत्रित किया था। उसी महानुभाव ने स्वामी जी से अनुरोध किया था कि वे शिकागो में होनेवाले सर्वधर्म सम्मेलन में भाग लेने के लिए वहाँ जाएँ। अतः हम लोग चेन्नै शहर के प्रति अत्यंत कृतज्ञ हैं।

गौड-द्रविड़ पुनर्मिलन

प्राचीन काल में गौडपादाचार्य और उनके अलौकिक शिष्य श्रीमद्शंकराचार्य ने सनातन धर्म और वेदांत का पुनरुजीज्वन कर उनमें नवचैतन्य भर दिया था। श्रीमद्शंकराचार्य के शिष्य दोनों महापुरुषों का उल्लेख 'गौड-द्राविडैः तथा' इस प्रकार करते हैं। इसका अर्थ है गौड पादाचार्य और द्रविड श्रीमद्शंकराचार्य द्वारा। यही बात पुनः घटित होती हुई दिखाई देती है। स्वामी विवेकानंद अपने देश के उस भाग के रहनेवाले थे, जो पंचगौड कहलाता है और उन्हें अपने धर्म के चिरंतन सत्य का प्रचार करने के लिए अमरीका जाने का सुझाव तथा प्राथमिक सहायता देने की पहल यहाँ के महानुभाव ने की थी, जो पंचद्रविड़ भाग के रहनेवाले थे। मानो देश की अखंडता और समाज की परंपरागत एकात्मता का अनुभव कराने तथा अपने समाज के द्वारा सहस्राधिक वर्षों से अनुभव किए सत्य को संसार में उद्घोषित करने के लिए ही गौड व द्रविड़ का यह पुनर्मिलन हुआ है।

हम उस पुरुष की महानता का विचार करें। जिस कालावधि में उनका आविर्भाव हुआ, उस समय अपना देश विजेताओं के चरणों में नत हो चुका था। लगभग हजार वर्षों तक विदेशियों ने अपने देश पर आक्रमण किए, हमें पराजित किया और यहाँ अपना नीचतम साम्राज्य प्रस्थापित किया। अपने देशवासियों को दीनता से चाकरी करते हुए अपमानास्पद दासता का जीवन व्यतीत करना पड़ा। अपने समाज, अपने धर्म, अपने देवी-देवता, अपने तत्त्वज्ञान आदि का अपमान किया जाने लगा। उस परिस्थिति से मुक्ति पाने का उपाय अपने देश के महापुरुष कर रहे थे।

हमारे लोग सोचने लगे थे कि विदेशियों की वेषभूषा, रहन-सहन, भाषा, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं की नकल करने से, फिर से प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकेगी। आज भी वही अनुकरण की प्रवृत्ति दिखाई दे रही है। यद्यपि अंग्रेज यहाँ से चले गए हैं, तथापि वेषभूषा, भाषा, राजनैतिक, सामाजिक व्यवस्थाओं तथा आर्थिक पुनर्रचना में हम किसी न किसी विदेशी प्रणाली की नकल करने में लगे हैं। कहा जाता है कि अपने देश में पुनरुज्जीवन की लहर आई है, उसके प्रभाव से अपने समाज-जीवन में हम पहली बार आधुनिक और प्रगतिशील समाज के रूप में सामने आ रहे हैं। सामाजिक न्याय, राजनैतिक, औद्योगिक और आर्थिक क्रांति आदि बातें पहली बार अपने यहाँ आई हैं। लोगों का मानना है कि इन सबसे

हम अपनी संस्कृति की पुनर्स्थापना कर सकेंगे। यद्यपि हम जानते हैं कि हम यह जो सामाजिक पुनर्रचना कर रहे हैं, वह पाश्चात्य देशों में प्रचलित उस आकारहीन समाज-व्यवस्था का अन्धानुकरण है, जिसने समाज-जीवन के विभिन्न कार्यों के संचालन की दृष्टि से कोई निश्चित रूप धारण नहीं किया है। पाश्चात्य समाजरचना समाज की प्रगतिशीलता की चरम अवस्था है और वह सर्वोत्तम है, यह भी अभी अनुभव से सिद्ध नहीं हुआ है।

हमें यह भी देखना है कि क्या श्रम-विभाजन के आधार पर समाज का संगठन प्रतिगामी विचार है? दुनिया ने इसकी ओर गंभीरता से ध्यान नहीं दिया है, अतः हम यह कैसे मान लें कि वह प्रतिगामी विचार है? पर यह माना जाता है कि पाश्चात्यों की समाजरचना की नकल करना, अपनी प्रगति की अवस्था का एक पहलू है।

हमारी त्रिशंकु-अवस्था

हम राजनैतिक क्षेत्र में पाश्चात्यों का अंधानुकरण कर रहे हैं। वैसे, राजनीति से मेरा कोई संबंध नहीं है, अतः उसके संबंध में मुझे बोलने का अधिकार भी नहीं है। परंतु यह सर्वविदित है कि अमेरिका या इंग्लैंड के आदर्श की हम अंधी नकल कर रहे हैं, और आर्थिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में समाजवादी व्यवस्था को आत्मसात करने का प्रयास कर रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि हम न जनतंत्रवादी हैं, न अधिनायकवादी। इसके विपरीत इन दोनों व्यवस्थाओं की न्यूनताओं के शिकार अवश्य हुए हैं।

आज भी हमारी स्थिति वही है। इस संबंध में स्वामी विवेकानंद जी ने क्या कहा है, इसका स्मरण करना ठीक होगा। स्वामी जी कहते हैं– 'यदि तुम पाश्चात्यों की नकल करोगे तो तुम्हें, न उनकी क्रिया-शक्ति प्राप्त होगी, न ही उनके द्वारा की गई भौतिक उन्नति ही मिल सकेगी। सिंह की खाल ओढ़ कर गधा, सिंह नहीं बनता।'

आज भी जब हम इस प्रकार की दासता से मुक्त नहीं हुए हैं, तब सत्तर वर्ष पूर्व हमारी अवस्था क्या रही होगी, इसकी हम कल्पना कर सकते हैं। यद्यपि आज हम सार्वभौम और स्वतंत्र राष्ट्र माने जाते हैं, फिर भी हम देखते हैं कि श्रेष्ठ, प्राचीन, प्रतिष्ठासंपन्न और स्वतंत्र राष्ट्र के नागरिक के नाते दुनिया में हमारा सम्मान होता ही है, ऐसी बात नहीं है। उन दिनों तो हम लोगों को घृणा से देखा जाता था। दुर्भाग्य से विकृत मनोवृत्ति के ईसाई पादरियों ने इस घृणा का वातावरण फैलाया था।

किसी भी समाज के सभी व्यक्ति बुरे नहीं होते, इसी प्रकार मानव जाति के किसी वर्ग के सभी लोग बुरे नहीं होते। फिर भी मानव जाति के विभिन्न समुदायों में कम अधिक मात्रा में विकृत मनोवृत्ति के कुछ लोग अवश्य देखने को मिलते हैं। ऐसे लोगों के द्वारा ही हमारी सामाजिक, धार्मिक संस्थाओं तथा देश की अवस्था के विषय में विकृत बातें पाश्चात्य देशों में प्रकाशित होती थीं।

विवेकानंदजी का चरित्र और उनके ग्रंथ पढ़ने से हमें ये बातें विदित होती हैं। पाँच-छह वर्ष पूर्व एक अमरीकी महिला ने निष्ठापूर्वक विशेष खोजबीन कर स्वामी विवेकानंद के अमेरिका में वास्तव्य के विषय में एक ग्रंथ 'स्वामी विवेकानंद-ए डिस्कवरी' के नाम से प्रकाशित किया। उसमें स्वामी जी के वास्तव्यकाल की अनेक अज्ञात घटनाओं तथा अमरीकी समाचार-पत्रों में अपने समाज के विरुद्ध किए गए विषवमन का उल्लेख है। उससे स्पष्ट होता कि सर्वसाधारण अमरीकी नागरिक की अपने लोगों के प्रति क्या धारणा रही होगी।

अमरीका से विश्वविजय का आरंभ

'महान भारत का पुत्र' कहलाना जब कलंक समझा जाता था, उस समय स्वामी जी अमरीका गए थे। उन दिनो अमरीका द्रुतगति से प्रगति और समृद्धि की ओर बढ़ रहा था तथा धीरे-धीरे अपना श्रेष्ठत्व प्रस्थापित कर रहा था। आज उसने दुनिया के देशों में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लिया है। उन दिनों अमरीकावासियों के मन में भारत की हर बात के प्रति विरोध और घृणा की भावना थी। स्वामी जी को उनका सामना करना पड़ा था। पास में किसी का परिचय-पत्र नहीं, किसी संस्था का प्रतिनिधित्व नहीं, ऐसे एकाकी युवा संन्यासी ने अपने देश का ज्ञान, पवित्रता और ब्रह्मतेज का प्रतिनिधित्व करते हुए वहाँ के अहंमन्य पंडितों के बीच अलौकिक दिव्यत्व के साथ खड़े होकर अपने प्रारंभिक संबोधन से ही घमंडियों का दर्प चूर कर भारत के माथे विश्वविजय का सेहरा बाँध दिया।

हम यदि उस विजय से लाभ नहीं उठा पाते हैं, तो वह दोष हमारा है, उनका नहीं। और हमने यह सिद्ध कर दिया है कि हम नालायक हैं। कुछ भी हो, उन्होंने हमारे लिए विजय हासिल की। वे अमरीका, इंग्लैंड, यूरोप आदि जिन-जिन देशों में गए, वहाँ के लोगों के मन पर उन्होंने गहरा प्रभाव डाला। उसके बाद से अपने देश, देशवासियों और राष्ट्र की प्रतिष्ठा बढ़ी।

आज अवस्था विपरीत है। अपने देश के कई लोग विश्व के विभिन्न देशों में जाते हैं, परंतु वे हमारी प्रतिष्ठा नहीं बढ़ाते। इसके विपरीत बहुत से लोगों ने ऐसा कुछ आचरण किया है कि विश्व के लोगों की आँखों में अपने देश की प्रतिष्ठा गिर गई है। विद्यार्थी, पर्यटक, प्रतिनिधिमंडलों के सदस्य तथा राजदूतावासों के कर्मचारी के नाते विदेशों में जानेवालों का आचरण आदर्श नहीं रहा। यह दुर्भाग्यपूर्ण, परंतु सत्य है।

ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि भगवान की कृपा से हमें राष्ट्रीय जीवन की अमूल्य निधि के रूप में जो श्रेष्ठतम धरोहर मिली है, उससे संपर्क न होने से इन प्रवासी भारतीयों को, जिनके मस्तिष्क में केवल कतिपय भौतिक सुखों का ही विचार है, उसके विषय में यत्किंचित् जानकारी नहीं रहती है।

राजदूतों की दुर्दशा

आप लोगों को विदित होगा कि एक बार किसी राजदूत से पूछा गया कि वे कृपया वंदेमातरम्, जन-गण-मन राष्ट्रीय गीतों के अलावा अन्य कोई लोकप्रिय राष्ट्रीय गीत बताएँ। इस राजदूत ने एक भद्दा फिल्मी गीत बताया। उस समय अन्य व्यक्तियों को बताना पड़ा कि वह फिल्मी गीत अच्छा नहीं है। उन्होंने कविवर सूर्यकांत त्रिपाठी निराला के 'वीणा वादिनी वर दे' और वैसे ही अन्य गीत बताए।

एक अन्य राजदूत ने तो यहाँ तक कह डाला था कि 'सर्मन ऑन द माउन्टेन' को रखा जाए और गीता व उपनिषदों जैसों को आग में झोंक दिया जाए। भगवान ही जाने उन्होंने वैसा क्यों कहा। सर्मन ऑन द माउन्टेन' के बारे में सभी के हृदय में आदर है, फिर भी यह कहना पड़ेगा कि उक्त राजदूत का यह कथन कि 'गीता और उपनिषदों को आग में झोंक देना चाहिए', राष्ट्रभक्ति का परिचायक नहीं है।

ज्ञानलालसा

व्यावहारिक जीवन बितानेवाले हम सब लोग सोचें कि स्वामी जी के जीवन से अपने लिए क्या शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। उनके जीवन से हम अनेक बातें सीख सकते हैं। उनकी जीवनी पढ़ने से ज्ञात होता है कि छुटपन में ही उन्हें आत्मचिंतन की स्वाभाविक रुचि थी। पालथी मारकर, कभी-कभी दिगंबरावस्था में, योगी के समान आसनावस्था में बैठे रहते थे। श्री शंकराचार्य जी ने शिवापराध क्षमापन स्तोत्र के १०वें श्लोक में भगवान

शंकर का वर्णन करते हुए लिखा है–

नग्नो निःसंगशुद्धस्त्रिगुणविरहितो ध्वस्तमोहांधकारो।
नासाग्रे न्यस्तदृष्टिर्विदितभवगुणो नैव दृष्टः कदाचित्।
उन्मन्याऽवस्थया त्वां विगतकलिमलं शंकरं न स्मरामि।
क्षन्तव्यो मेऽपराधः शिव शिव शिव भोः श्रीमहादेव शंभो।।

बताया जाता है कि स्वामी जी छुटपन में भी इस आसनावस्था में बैठते थे। उनके छोटे भाई से उनके बारे में जानकारी प्राप्त करने का सौभाग्य मुझे मिला है।

बचपन में उनकी वैसी स्वाभाविक रुचि रहते हुए भी उन्होंने अपनी पढ़ाई की ओर दुर्लक्ष नहीं किया। परंतु वे पढ़ाई से संतुष्ट भी नहीं थे। स्कूल-कालेजों के सर्वसाधारण पाठ्यक्रम के भले ही कुछ गुण हों, पर वह मनुष्य नहीं बनाता। निस्संदेह उससे मनुष्य के मस्तिष्क में अधकचरी जानकारी ठूँसी जाती है। इसी कारण वे उससे असंतुष्ट थे। इसीलिए वे विभिन्न विषयों के ग्रंथ एकाग्रता से पढ़ने तथा जीवन का ठोस ज्ञान संपादन करने में अपना समय बिताया करते थे।

भारतीय दर्शन व तर्कशास्त्र तथा पाश्चात्य दर्शनशास्त्र का उन्हें अत्यधिक आकर्षण था। उन्होंने उसका अध्ययन कर उसे आत्मसात् किया। जब मनुष्य भारतीय दर्शन की गहराई में अवगाहन करता है, तब वह स्वाभाविकतया जानना चाहता है कि अंतिम तत्त्व क्या है? क्या खाना-पीना, मौज उड़ाना, संतान पैदा करना जैसी तुच्छ बातें ही सब कुछ हैं, या इनसे भी कुछ श्रेष्ठ है? अपने देश में ऐसा प्रश्न उठना अत्यंत स्वाभाविक है। अन्य लोग भगवान के विषय में बोलते हैं, परंतु हिंदू पूछता है, 'क्या भगवान है?' दर्शन के क्षेत्र में हिंदू का साहस दुर्दम्य है, क्योंकि विश्वास के आधार पर या किसी के कहने पर वह भगवान को नहीं मानता। वह कहता है– 'मैं उसे सिद्ध करना चाहता हूँ। मैं उसे प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ। यदि भगवान है तो उसे देखना चाहूँगा। यदि मैं उसे देख नहीं सकता, तो मैं क्यों मानूँ कि वह है।'

प्रारंभ से ही यह हमारी परंपरा रही है। अपने उपनिषदों का एक दृष्टांत हम लोगों ने अवश्य सुना होगा। एक व्यक्ति अंतिम सत्य को जानने के उद्देश्य से अपने पिता, जो उसके गुरु भी थे, के पास गया और उनसे प्रश्न पूछे। पिताजी क्रमशः समझाने लगे। उन्होंने प्रथम बताया– 'देखो, यह अन्नमय शरीर ही अंतिम सत्य है। अतः अब जाओ और इसका चिंतन करो।'

कुछ लोग इतने से ही संतुष्ट हो जाते है। परंतु पुत्र को संतोष नहीं हुआ। उसने उस पर विचार किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जो शरीर वृद्धि, क्षय और मृत्यु के नैसर्गिक नियमों से बँधा हुआ है, वह अंतिम सत्य कैसे हो सकता है?

इसलिए वह पुनः पिता के पास गया और बोला – 'आपका कहना ठीक नहीं है, मुझे उससे संतोष नहीं।' तब पिता पुत्र की जिज्ञासा वृत्ति से संतुष्ट होकर क्रमशः प्राण, मन और ऐसी ही बातें बताते गए। अंत में उन्होंने अंतिम सत्य बतलाया। यह कथा तैत्तरीय उपनिषद् में है।

मैं कहना चाहता हूँ कि अंतिम सत्य की खोज करना और उस खोज में सफल होने व उसका साक्षात्कार करने, उसके अनुरूप जीवन-यापन करने के लिए अपने जीवन की रचना करना, हमारी राष्ट्रीय प्रकृति है। यदि यह प्रकृति नहीं रही, तो हमारे द्वारा की गई अन्य सभी भौतिक प्रगति व्यर्थ और घृणा करने योग्य है। यदि वह प्रकृति है, तो अन्य सारी प्रगति ठीक है।

इसीलिए स्वामी विवेकानंद इस सत्य की खोज में लीन हुए। वे भगवान को पहचानना चाहते थे। इसी कारण वे उस व्यक्ति खोज में लगे रहते थे, जिसने उस परमसत्य का साक्षात्कार किया हो, जिसे भगवान के नाम से जाना जाता है। किसी के बताने पर वे श्री रामकृष्ण परमहंस के पास गए और उनसे सीधा प्रश्न किया– 'महाशय, क्या आपने भगवान को देखा है?' वे शब्दाडंबर से ऊब चुके थे, इसीलिए उन्होंने कहा– 'मैं ठोस, निश्चित व असंदिग्ध उत्तर चाहता हूँ। क्या आपने भगवान को देखा है?'

चिरंतन सत्य की पूर्ण अनुभूति से उद्‌भूत असाधारण सरलता से भगवान श्री रामकृष्ण ने कहा– 'हाँ, जिस प्रकार मैं तुम्हे अपने सामने देखता हूँ, वैसा ही मैं उसे देखता हूँ। इससे भी कहीं अधिक स्पष्ट और अधिक देदीप्यमान।'

सीधे प्रश्न का सीधा उत्तर था। दुनिया में कहीं भी ऐसा प्रश्न या उत्तर सुनने को नहीं मिलेगा।

जीवन का साक्षात्कार

उनके जीवन की इस छोटी-सी घटना से हम भी सोचें कि हमारा कर्तव्य क्या है? हम समझने का प्रयास करें कि हम कौन हैं? हमारे अस्तित्व का प्रधान लक्षण क्या है? केवल पढ़ना, कुछ परीक्षाएँ उत्तीर्ण होना,

यहाँ-वहाँ नौकरी करना ही क्या जीवन के अस्तित्व के लक्षण हैं? इन्हें कोई अर्थ नहीं है। हमें अंतर्मुख होकर, पूर्वोक्त कथा के अनुसार खोज करनी होगा कि हम कौन हैं।

स्वामी विवेकानंद ने इसी प्रकार अपने जीवन में अंतर्मुख होकर अपने कर्तव्य का साक्षात्कार किया था। सौभाग्य की बात है कि अपने इस प्रांत (तमिलनाडु) के समुद्र की उत्ताल तरंगों से घिरी हुई शिला पर माँ कन्याकुमारी के चरणों में भारताभिमुख ध्यानस्थ बैठे हुए स्वामी विवेकानंद को अपने जीवनकार्य का साक्षात्कार हुआ था।

हम भी यदि अधिकाधिक अंतर्मुख होने का प्रयत्न करेंगे, तो हमें भी अपने जीवन-कार्य और कर्तव्य का साक्षात्कार होगा, तब कर्तव्य की पुकार सुनाई देगी। हम श्रेष्ठ कार्यकर्ताओं और समाजसेवकों के प्रति केवल अभिमान धारण न करें, उनके अनुसार कर्म करने का प्रयास भी करें। एक बार एक साधु ने मुझे बताया कि 'कर्तव्य की पुकार सुनाई दे इसके लिए प्रतीक्षा करो, वह पुकार योग्य समय पर सुनाई देगी। तब तक अंतर्मुख होकर अपने स्वरूप का चिंतन करो।

लेकिन अंतर्मुख होना सरल बात नहीं है। उसके लिए शरीर, मन व बुद्धि की पूर्ण अंतर्बाह्य शुचिता आवश्यक है। विचार, वाणी और कर्म में ही नहीं तो स्वप्न में भी पूर्ण पवित्रता हो। इसके अतिरिक्त कुछ भी न हो। इसका अभ्यास करना पड़ेगा।

मेरे मत से अपने देश का ही नहीं, संपूर्ण विश्व का वर्तमान वायुमंडल विषाक्त हो गया है। नैतिक मूल्यों की मानो नींव हिल गई है। अतः अब पवित्र नीतिमत्ता ही परिस्थिति की माँग है। सीता, सावित्री, प्रभु रामचंद्र, हनुमान जैसी विभूतियों, जिन्हें कभी भी, कोई भी व्यक्ति या त्रैलोक्य का साम्राज्य सन्मार्ग से विचलित नहीं कर सका के अलौकिक उदाहरण हमारे सामने हैं। हमारे पूर्वज इतने महान थे कि संपूर्ण मानव जाति उनका अनुसरण कर सकती है। हमारे लिए तो यह और भी आवश्यक है कि हम उनका अनुसरण करें।

भारत की सत्त्वसंपन्नता

स्वामी जी कहा करते थे कि प्रत्येक राष्ट्र का एक जीवनोद्देश्य, एक संदेश होता है तथा उसका विश्व में प्रसार करना उस राष्ट्र का जीवनकार्य होता है। जब वह अपना जीवनकार्य पूर्ण करने में असमर्थ रहता है, तब

उसका विनाश होता है। यदि वह अपना जीवनकार्य पूरा कर चुकता है, तो उसके अस्तित्व का कोई कारण नहीं रहता। इसलिए क्रमशः उसके अस्तित्व का लोप होने लगता है।

हम जानते हैं कि सहस्रों वर्षों से अपने इस पुरातन राष्ट्र का अस्तित्व है। क्योंकि हम लुटेरे या युद्धप्रिय समाज नहीं हैं। हममें क्षात्रवृत्ति है, परंतु यह सर्वविदित है कि हम आक्रामक नहीं हैं। हमने संसार में तलवार के बल पर अपने तत्त्वज्ञान और धर्म का प्रसार कदापि नहीं किया। भगवान गौतम बुद्ध के शिष्यों ने परिभ्रमण कर अहिंसा, प्रेम, वैराग्य का उपदेश दिया तथा विषय-वासनाओं और दुष्ट प्रवृत्तियों, जिनकी ओर मन का स्वाभाविक झुकाव रहता है, का विनाश किया। इसी प्रकार भगवान गौतम बुद्ध के शिष्यों के बहुत पहले भी अपने देश से अनेक लोग संसार के कोने-कोने में गए थे, परंतु उन्होंने वहाँ पर अपने विचारों का प्रचार शस्त्रों के बल पर नहीं किया। हमने यह आक्रामक उद्देश्य कदापि नहीं रखा कि हम दुनिया को अपनी ताकत के बल पर अपने कदमों में झुकाएँगे। हम समस्त गुलामों के मालिक बन गए हैं इस क्षुद्र संतोष पर आसुरी आनंद मनाएँगे।' यह हमारा गुणधर्म नहीं है, और न हमारा जीवनोद्देश्य ही है।

पूर्व और पश्चिम का मिलन : एक ईश्वरी संकेत

विशाल साम्राज्य की शक्ति से युक्त इंग्लैंड की भी अक्ल ठिकाने आ गई है। अब उसकी ताकत उतनी नहीं रही है। संभवतः पूर्व और पश्चिम का मिलन करवाना ही उसका जीवनोद्देश्य रहा है। भले ही उन्होंने वह कार्य विजयाकांक्षा से या गुलाम बनाने की इच्छा से अथवा विविध प्रकार की व्यापार-वृद्धि से अपना और राष्ट्र का हितसाधन करने की स्वार्थी अभिलाषा से किया हो, परंतु उसमें से अप्रत्यक्षतः या उनकी इच्छा के बिना दोनों गोलार्धों का मिलन हुआ। अब उनके जीवन का उद्देश्य पूर्ण हो चुका है।

अब दुनिया में दो शक्ति गुटों का नेतृत्व करनेवाले दो अत्यंत महत्त्वपूर्ण राष्ट्र हैं— रूस और अमरिका। अमरीका हर व्यक्ति की महानता, गौरव, स्वतंत्रता व अन्य सभी देशों की स्वतंत्रता के पक्ष में है। वह उस दिशा में प्रयत्नशील है। लगता है कि आर्थिक समानता (लेवलिंग डाउन) रूस का जीवनोद्देश्य है। अब उसका भी जीवनोद्देश्य पूर्ण हो चुका है। क्योंकि दुनिया ने स्वीकार कर लिया है कि आर्थिक विषमता नहीं रहनी चाहिए। फिर भी वे दुनियाभर में वर्ग-विषमता मिटाने का प्रयत्न कर रहे

हैं। अतः ऐसा लगता है कि या तो वे बदलेंगे, या फिर अपनी विचारधारा को न बदलते हुए दुराग्रहपूर्वक उससे चिपके रहेंगे, जैसा कि वे अब तक करते आए हैं। इससे जनतांत्रिक देशों के साथ उनका संघर्ष अनिवार्य हो जाएगा। यह दोनों के लिए अहितकर होगा। संभव है, वे अपनी भूल को समझ और अनुभव कर सकेंगे या फिर उसका अस्तित्व ही मिट जाए और उसे अपनी भूल समझ सकने का अवसर ही न मिले।

हम देख रहे हैं कि ये घमंडी समाज एक के बाद एक विलुप्त होते जा रहे हैं। पुराना मिस्र, ग्रीस, रोम, बेबिलोनिया जैसे कितने ही राष्ट्र नष्ट हो चुके हैं। फिर हम हिंदू, क्यों जी रहे हैं? स्वामी जी के शब्दों में– 'सौम्य प्रकृति का हिंदू, दासता में जकड़ा हुआ हिंदू जीवित है, क्योंकि उसके सम्मुख यह जीवनोद्देश्य है कि 'प्रत्येक समाज का हर व्यक्ति अपनी आत्मा को पहचाने, अंतिम सत्य को जाने और उस दृढ़ नींव पर विश्व की भलाई के लिए विश्व की रचना करे।'

यह निरंतर चलनेवाला, कभी पूर्ण न होनेवाला कार्य है। इसीलिए हमारा राष्ट्र अमर है, हमारा अस्तित्व कदापि मिट नहीं सकता। यह एक वास्तविक सत्य है।

उक्ति के अनुरूप आचरण

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, सर्वप्रथम हमें अपना जीवन पवित्र बनाना होगा। खोखले शब्दों से हम दुनिया के लोगों को शिक्षा नहीं दे सकते। उक्ति के अनुरूप आचरण न हो तो शब्द निरर्थक हैं। यदि हम पवित्रता की बात कहना चाहते हों तो हम उन वर्तमान सार्वजनिक नेताओं की नकल न करें, जो बार-बार पवित्रता पर भाषण तो देते हैं, परंतु यह जानने के लिए कि वे स्वयं क्या हैं, निरीक्षण करने की इच्छा नहीं रखते। हम जो कहना चाहते हैं, उसके अनुसार हमारा आचरण होना चाहिए। भगवान की कृपा से हमें एक श्रेष्ठ संस्कृति, एक जीवनोद्देश्य परंपरा से प्राप्त हुआ है। अतः उसके अनुसार हमारी कृति होनी चाहिए।

हमें विदित है कि स्वामी विवेकानंद पवित्रता की साकार मूर्ति थे। काम जैसे मोह से दूर रहनेवाले पुरुष विरले ही होते हैं। कोई वीर्य-संपन्न पुरुष, मोहित करने की कला में चतुर आकर्षक और सुंदर रमणी के सहवास में अकस्मात आ जाए, तो उसे उससे दूर रहना असंभव-सा होता है। परंतु यह एक ऐसे पुरुष का उदाहरण है, जिसके बारे में लोग समझते

थे कि वह ऊँची-ऊँची बातें करता है, वह उस मोह से दूर ही नहीं रहा, अपितु उसने उस लड़की के जीवन में आमूलाग्र परिवर्तन कर डाला, जो उसे फुसलाने आई थी।

जब स्वामी विवेकानंद एक साधारण युवक थे और उन्होंने संन्यास दीक्षा नहीं ली थी, तब उनके जीवन में ऐसी घटना घटी। उन्होंने उस युवती को 'माँ' कहकर निरस्त्र कर दिया और उसके विचारों में भी परिवर्तन लाया। पवित्रता का ऐसा उदाहरण हम लोगों के सामने है। क्या हम उसका अनुसरण नहीं कर सकते? पाश्चात्यों की नकल करने की अपेक्षा, वास्तविक सारभूत गुणों का, विशेषतः अपने स्वत्व का, अनुसरण करना ही हितकारी है?

व्यावहारिक दुनिया में रहनेवाले हम लोगों को उन्होंने पौरुष का संदेश दिया है। उन्होंने कहा है कि 'दुर्बल शरीर और मन से हम कुछ नहीं कर सकते। ऐसे लोगों की आवश्यकता है, जिनके स्नायु लौह सदृश हैं, जिनकी नसें इस्पात-सी हैं और जिनका मन वज्र सा है।'

अपना समाज उन्हें कैसा दिखाई देता था यह उनके ही शब्दों में सुनिए– 'अपना समाज दुर्बल है। उसके रहन-सहन में स्त्रैणता आ गई है।'

वे स्वयं वज्रदेही थे। बचपन में उनके घर पर ही एक अखाड़ा था। परंतु एक दिन कुश्ती लड़ते समय एक रिश्तेदार की हड्डी टूट जाने से वह बंद कर दिया गया। तब से वे पड़ोस के एक अखाड़े में व्यायाम करने के लिए जाने लगे। वे उत्तम मल्ल और खिलाड़ी थे। वे कहा करते थे– 'फुटबॉल के मैदान पर तुम गीता के संदेश को अच्छी प्रकार से समझ सकोगे।' यह कथन सत्य है, क्योंकि गीता एक शास्त्र है, एक श्रेष्ठ योद्धा द्वारा दूसरे श्रेष्ठ योद्धा को रणभूमि में उसके पाठ दिए गए हैं। पौरुष दिखाने, विजय-संपादन करने तथा कर्त्तव्य-पालन के लिए वह आह्वान था। बंद कमरे के एक अंधेरे कोने में मार खाए हुए शिशु, या अपमानित स्त्री के समान सिसकियाँ भरनेवाले, वह संदेश कैसे समझ पाएँगे। गीता समझने के लिए भुजाओं में बल चाहिए। दुबला-पतला व्यक्ति उसे नहीं समझ सकता है।

अब कोई मुझसे पूछ सकता है कि 'आपका शरीर तो दुबला-पतला है, इसलिए आपको सामर्थ्य जैसे विषय पर बोलने का क्या अधिकार है?' यह सही है कि मै दुबला-पतला हूँ। जब मैं जेल में था (प्रथम संघ प्रतिबंध

के समय) तब जेल के डाक्टर ने एक बार मुझसे कहा, 'आपका शरीर बहुत दुर्बल है, शरीर को मोटा-ताजा बनाने के लिए आपको टॉनिक का सेवन करना चाहिए।'

मैंने कहा, 'मैं मोटा क्यों बनूँ?'

वे बोले, अंग्रेजी में एक कहावत है– 'साउंड माइंड इन साउंड बॉडी (स्वस्थ मन स्वस्थ शरीर में ही रहता है।) मैंने कहा, 'मैं आपसे सहमत हूँ, परंतु आपसे किसने कहा कि मेरा शरीर स्वस्थ नहीं है? मेरा शरीर पर्याप्त स्वस्थ है, आप बिल्कुल चिंता न करें। ऐसा लगता है कि आप स्वयं इस कहावत पर विश्वास नहीं करते, क्योंकि आप यह कहकर कि मोटे शरीर में स्वस्थ मन रहता है, उसका अर्थ ही बदल डाल रहे हैं। इसीलिए आप चाहते हैं कि मेरा शरीर मोटा बने। कृपया वह जिम्मेदारी आप अपने पर न लें।'

भले ही मैं दुबला-पतला होऊँ, कम से कम मैं स्वामी जी की महानता आप लोगों के सामने रखकर उनका अनुसरण करने की बात तो कर सकता हूँ। मैं अपना अनुसरण करने के लिए तो नहीं कह रहा हूँ। वैसा कहना मेरी धृष्टता होगी।

निर्भय बनें

स्वामी जी ने हमें निर्भय बनने का उपदेश दिया है। क्या हम भगवान के मधुर रूप की ही पूजा करते बैठे और कहें कि, तुम्हारा रूप कितना सुंदर है, तुम्हारी नासिका कितनी सुंदर है, तुम्हारे चरण और हाथ कमल से सुंदर हैं, तुम्हारा नाम मधुर है। विवेकानंद कहते हैं– 'रौद्र की पूजा करो, निर्भयता से खड़े रहो। जैसा माँ का वात्सल्यमय रूप है, वैसा ही रौद्र रूप भी है। हम उससे भयभीत क्यों हों? इसलिए सशक्त बनो।' वे देवी से प्रार्थना करते हुए कहते हैं– 'मुझे मनुष्य बना दो, मुझे पुरुषार्थ से भर दो, मुझे साहस दो।' वे वैसे थे भी।

स्वामी जी अत्यंत बलवान और निर्भीक थे। मृत्यु यत्किंचित् भी भयप्रद नहीं है, यह कहनेवाले दर्शन पर हम लोग विश्वास करते हैं। विवेकानंद जी ने कहा है– 'आनंदम् ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन' हम क्यों भय करें? हमें भी निर्भयता आत्मसात करनी चाहिए। हमारे चारों ओर संकट मंडरा रहे हैं। अपने देश की सीमाओं पर आक्रमण हो रहे हैं। इस परिस्थिति में पौरुष की आवश्यकता है। घुटने टेकने की प्रवृत्ति से काम

नहीं चलेगा। यदि अपनी श्रेष्ठ सांस्कृतिक धरोहर, अपने दर्शन और जिसके लिए इस विश्व में हमारा अस्तित्व है उस जीवनोद्देश्य में हमारी जड़ें पक्की जमी रहती हैं, तब स्वाभाविक रूप से हमारे हृदय में निर्भयता का संचार होगा। फिर शांति, विश्वशांति जैसी लचर दलीलों में अपना हृदयदौर्बल्य छिपाने की चेष्टा नहीं करेंगे।

हम आत्मरक्षणार्थ सिद्ध हो रहे हैं इसलिए दुनिया पर आसमान टूट पड़ने वाला है, ऐसी बात नहीं। केवल सब दृष्टि से निर्भय बनने से अपना जीवनोद्देश्य पूर्ण होनेवाला नहीं है। यदि हमें अपना जीवनोद्देश्य पूर्ण करना है, तो हमें राष्ट्र-जीवन में नवचैतन्य भरना होगा। यह तभी होगा, जब इस विशाल राष्ट्रीय परिवार का प्रत्येक घटक अनुभव करने लगेगा कि हम सब भाई-भाई हैं। क्या हम ऐसा अनुभव करते हैं?

बहुत बड़ा पाप

मुझे भगवान रामकृष्ण परमहंस के एक श्रेष्ठ शिष्य के संपर्क में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मानव-जाति की सेवा करने के भगवान रामकृष्ण के विचारों को उन्होंने अपने जीवन में उतारा था। उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति को नारायण-स्वरूप समझकर उसकी सेवा में स्वयं को अत्यंत विनम्रता से समर्पित कर दिया था। आजकल रामकृष्ण मिशन द्वारा जो दरिद्रनारायण-सेवा और तत्सम कार्य हो रहे हैं, वह उनकी ही प्रेरणा थी।

एक बार वे अपनी युवावस्था में अकाल-पीड़ित क्षेत्र में कार्य करने के लिए गए थे। वहाँ उन्होंने लोगों का घोर दारिद्र्य और दुःख देखा, तब उन्होंने भोजन करने से इनकार कर दिया। वे थोड़ी सी घास उबालकर, किसी प्रकार निगल जाया करते थे। अंत में दूसरों ने उन्हें चावल खाने को बाध्य किया। मानो उन्होंने बलपूर्वक उनके गले भोजन उतारा, अन्यथा उनका शरीर आगे कार्य करने के लिए असमर्थ हो जाता। क्या हमारी ऐसी भावना है?

स्वामी विवेकानंद ने कहा है— 'इतना दारिद्र्य है, इतना दैन्य है, इतना अज्ञान है, क्या हमें उसकी अनुभूति होती है?' वे कहते हैं, गरीब मनुष्य भगवान् की मूर्ति है, अपना भाई है, अपने जैसा ही है, अपने राष्ट्र का अंग है, परंतु उसकी अवस्था पशुतुल्य हो गई है।' इसके लिए हम ही दोषी हैं। हमने उसकी उपेक्षा की, उसकी ओर दुर्लक्ष किया। मैं कहूँगा कि जो ज्ञान-संपन्न है, जिन्हें समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त है, जो ऊँचे पदों पर काम

करते हैं, जो धनवान है, उन्होंने अपने समाज के एक बड़े वर्ग की ओर दुर्लक्ष कर, बहुत बड़ा पाप किया है।

आज अपने राष्ट्र का अस्तित्व संकट से घिरा हुआ दिखता है, जिसका सामना हमें करना पड़ रहा है। मानो कोड़े लगाकर हमें जगाने के लिए ही शत्रु सिर उठा रहा है। मुझे लगता है कि यह सब हमारे किए हुए पापों का फल है। अब हमें प्रायश्चित करके अपने को पवित्र करना होगा। यह तभी होगा, जब हम तथाकथित भौतिक पशु–सुलभ सुखों का परित्याग कर, समाज-सेवा में अपने सर्वस्व का बलिदान करने के लिए सिद्ध होंगे।

अमृतपुत्र बनें

स्वामी जी कहा करते थे– 'आधुनिक समाज-सुधारकों की पद्धति से यह समाज-सेवा न की जाए, अपितु उन्हें उनके सच्चे स्वरूप, उनके स्वत्व का ज्ञान कराया जाए। प्राचीन संस्कृत भाषा में संग्रहीत वेदांत के सत्य का प्रसार उनमें किया जाए। प्रत्येक व्यक्ति पहचाने कि वह अमृतपुत्र है। प्राचीनकाल में अपने पूर्वज, 'वेदों के द्रष्टा' इसी नाम से मनुष्य को संबोधित करते थे। हम भूल गए हैं कि अपने चारों ओर रहने वाला अपने रक्त-मांस का विशाल जनसागर उसी अमरत्व का भाग है। हम सभी 'अमृतस्य पुत्राः' हैं। यह जानकारी उन्हें देने पर वे अपने आपको पहचानेंगे और अपने भविष्य का निर्माण कर सकेंगे। उन्हें बनी-बनाई योजना न दी जाए।'

'हम सबका एक विराट पुरुष के समान, एक अस्तित्व है, जिसकी आत्मा एक है। इस एकात्मता की भावना से हमें उनकी सब प्रकार से सेवा करनी चाहिए। अपने काल्पनिक उच्चासन से नीचे उतरकर हम लोग उनके साथ एकात्मता स्थापित करें तथा हीन से हीन व्यक्ति के चरणों में बैठकर उसकी सेवा करें। वही भगवान है। यदि आप भगवान की सेवा करना चाहते हो तो मनुष्य की सेवा करो। यह कितना सरल है। तुम लोग परमेश्वर की खोज में इधर-उधर क्यों भटकते हो? वह तो तुम्हारे सामने दीन-दुखी, दरिद्री, अज्ञानी, रोगी मनुष्य के रूप में खड़ा है। उसकी सेवा में अपना जीवन लगा दो। हृदय से उनके साथ सच्चा भ्रातृभाव बढ़ाओ।'

इन सब बातों में हमें एक और बात की ओर ध्यान देना होगा। इस व्यावहारिक जगत् में हमें एक समाज के रूप में खड़ा होना चाहिए। पवित्रता, आत्मज्ञान, वेदांत के तत्त्व का संपूर्ण विश्व में प्रसार करना तथा विश्व को अंतिम सत्य की अनुभूति के उद्देश्य से प्रशिक्षित करना अपना

जीवनोद्देश्य है। इस ज्ञान के अधिष्ठान पर हमें अपना जीवन बनाना होगा। अपने जीवनोद्देश्य के अनुरूप हमें अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखनी होगी। यदि हम ऐसा नहीं करते हैं, तो हमारे अस्तित्व का कोई उपयोग नहीं। जब तक हम समाज के रूप में शक्तिशाली, अनुशासित और संगठित नहीं होते, तब तक इस विश्व में हम सम्मान प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

स्वामी जी ने अपने समाज की एक अन्य त्रुटि की ओर संकेत किया है। हिंदू समाज के दो व्यक्ति एकत्र नहीं आ सकते हैं और न ही अधिक दिनों तब एकत्र रह सकते हैं। जब मुसलमान या अंग्रेज जैसी कोई तीसरी शक्ति आकर राज करने लगती है, तब हम सज्जन बन जाते हैं। हमें इस बुराई को दूर करना होगा। हमें अपनी संगठित शक्ति का निर्माण कर राष्ट्र को सामर्थ्यसंपन्न बनाना होगा।

हम केवल राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से ही अपने अस्तित्व का विचार न करें। स्वामी जी के मतानुसार, आर्थिक और राजनैतिक हित समान होने से या समान संकट सिर पर मंडराने से लोगों का राष्ट्र नहीं बनता। जिनकी हृत्तंत्री से एक ही आध्यात्मिक स्वर गूँजता है, उनका एक राष्ट्र बनता है।

अतः सर्वप्रथम हमारे भीतर आध्यात्मिक स्वर गूँज उठे, फिर प्रयत्न करें कि विशाल हिंदू-परिवार के प्रत्येक व्यक्ति के अतःकरण में यही आध्यात्मिक स्वर निनादित हो। वह स्वर आज भी विद्यमान है, परंतु हम उसे सुन नहीं पाते हैं, उसे सुनने की चेष्टा करें, उसे अनुभव करें और उसके अधिष्ठान पर संगठित जीवन का निर्माण करें। तब हम धर्म-रक्षा, धर्म-प्रचार और मानवजाति को धर्म-शिक्षा देने का अपना जीवनोद्देश्य यथार्थ रूप से पूर्ण कर सकेंगे।

राष्ट्र की आत्मा : धर्म

स्वामी जी कहा करते थे कि धर्म ही हमारे जीवन का सारभूत तत्त्व है, अपने राष्ट्र की आत्मा है। हम यदि इसी गति से अपने इस जीवनोद्देश्य से दूर हटते जाएँगे, तो तीन पीढ़ियों के भीतर ही हमारा अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। घोर दासता के दिनों में भी हम धर्म का प्राण और धर्म का प्रकाश प्रज्ज्वलित रखते रहे हैं। श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी और साक्षात्कारी पुरुषों ने एक के बाद एक इस भूमि में जन्म लेकर इस धर्म-दीप को पूर्ण दीप्ति से प्रज्ज्वलित रखने का कार्य किया है।

परंतु आज शेष दुनिया के लोगों की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और औद्योगिक बातों की नकल कर और अपने महान धर्म, जो कि हमारे अस्तित्व का प्राणतत्त्व है, की घोर उपेक्षा कर हम कहते हैं कि हम प्रगति की दिशा में बढ़ रहे हैं।

पुनश्च जगद्गुरु बनना है

समाज के प्रति उत्कट प्रेम और उसके उत्थान की तीव्र इच्छा से स्वामी जी ने ये सारी बातें कही हैं, अतः हमें उन पर पूर्ण विश्वास करना चाहिए। स्वामी जी ने कहा है कि यदि हम धर्म की उपेक्षा करेंगे तो हम तीन पीढ़ियों के भीतर नष्ट हो जाएँगे।

हम ऐसा कदापि नहीं चाहेंगे। इसके लिए अपना धर्म, जिसमें अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों निहित हैं, हमारी आँखों के सामने दिशा-दिग्दर्शन करनेवाले ध्रुव तारे के समान सदैव रहे तथा उसके अधिष्ठान पर राष्ट्र का पुनरुज्जीवन किया जाए। इसलिए व्यावहारिक दैनिक जीवन में हम उनके उपदेशों का अनुसरण करें, अपने को व्यक्तिशः और सामाजिक दृष्टि से बलशाली बनाएँ, अपने सामूहिक जीवन में पावित्र्य लाएँ, अपने हृदय में यह भाव जागृत करें कि हमें इस विश्व में एक जीवनोद्देश्य पूर्ण करना है। पूर्ण विश्वास रखें कि हम अमर जाति हैं, क्योंकि हमें एक अमर, सनातन जीवनोद्देश्य पूर्ण करना है। यदि हम एकात्मता की भावना से धर्म, जीवन की विशुद्धता और अंतिम सत्य की अनुभूति के आधार पर समाज को शक्तिशाली, निर्भय और संगठित करते हैं, तो पुनश्च विश्वगुरु का पद प्राप्त कर सकते हैं।

एक शताब्दी पूर्व उस महान जगद्गुरु का जन्म हुआ था। उसने अपने समाज का आह्वान किया था कि वह पुनश्च अपना जगद्गुरु पद प्राप्त करने का प्रयत्न करे। हम उस आह्वान को स्वीकार करें और उनके चरणों में नतमस्तक होकर उनकी इच्छा पूर्ण करने का प्रण करें।

११. युगाचार्य श्री विवेकानंद

('युगाचार्य विवेकानंद' पुस्तक का विमोचन समारोह)

श्रीक्षेत्र वाराणसी स्थित श्री रामकृष्ण अद्वैताश्रम के अध्यक्ष श्रद्धेय श्रीमत् स्वामी अपूर्वानंद जी का अधिकार बहुत बड़ा है। श्रीरामकृष्ण मठ

के एक श्रेष्ठ व उच्च आध्यात्मिक अनुभूति संपन्न विद्वान संन्यासी के रूप में वे सुपरिचित हैं। आपने जगद्वंद्य श्री स्वामी विवेकानंद की जन्मशताब्दी महोत्सव के अवसर पर श्रद्धांजलि अर्पित करने की दृष्टि से स्वामी जी का चरित्र बंगला में लिखा। वह हिंदी में भी प्रकाशित हुआ है। इस विचार-प्रवर्तक एवं संग्राह्य ग्रंथ का नाम 'युगप्रवर्तक विवेकानंद' है। इस ग्रंथ को संक्षिप्त रूप में 'युगाचार्य विवेकानंद' इस हिंदी शीर्षक से प्रकाशित कर गत वर्ष स्वामी विवेकानंद जन्मशताब्दी के अवसर पर निःशुल्क वितरित किया गया।

श्रीमत् अपूर्वानंद स्वामी जी का मुझपर विशेष अनुग्रह होने के कारण इस छोटी पुस्तक का पुनर्मुद्रण कर केवल व्ययपूर्ति हो सके, इतने मूल्य में उसे योग्य व्यक्तियों को देने की मुझे अनुमति दी है। नागपुर की श्री स्वामी विवेकानंद जन्मशताब्दी समिति की ओर से मैंने उनके आदेश को स्वीकार किया है। उनकी आज्ञानुसार समिति की ओर से पुनर्मुद्रित हिंदी संस्करण प्रकाशित हो रहा है।

कई वर्ष पूर्व श्री स्वामी विवेकानंद जी का चरित्र एवं उनके समग्र ग्रंथों को पढ़ने का सुयोग मुझे प्राप्त हुआ था। उसके बाद महद्भाग्य से स्वामी जी के शिकागो में दिए गए भाषणों का मराठी में अनुवाद करने का अवसर नागपुर के श्रीरामकृष्ण आश्रम के प्रमुख पूज्यपाद श्री स्वामी भास्करेश्वरानंदजी की कृपा से मिला था। उसी से स्वामी विवेकानंद जी के जीवन के अनेक पहलू एवं उपदेशों का सर्वव्यापी मर्म थोड़ा-थोड़ा ध्यान में आने लगा। उनकी प्रतिभा अखिल विश्व में व्याप्त होकर जीवमात्र के कल्याण का मार्ग प्रकाशित करनेवाली है। विश्वप्रेम के बाद भी उन्होंने अपने भारत का भक्तिपूर्ण स्मरण रखा है। उनके हृदय में अपने राष्ट्र के लिए जो भावनाएँ थीं, उसी से उन्होंने अगली पीढ़ियों के लिए असंदिग्ध शब्दों में मार्गदर्शन किया है। उसे ध्यानपूर्वक समझना एवं तद्नुरूप उसपर चलना आवश्यक है।

जनसेवा में निहित

स्वामी जी की जनसेवा के बारे में धारणा थी कि अपने राष्ट्र का वैशिष्ट्य धर्म एवं अध्यात्म है। उसी से व्यक्ति-व्यक्ति का जीवन शुद्ध, पुनीत, निःस्वार्थ, निरहंकार बुद्धि से जनसेवार्पित हो। श्री रामकृष्णदेव के मार्गदर्शन से बनी यह अत्यंत अभिनव व उदात्त धारणा है। यह सेवा, दया, करुणा, कृपा इस बुद्धि से न करते हुए जीव में शिव का साक्षात्कार करें। यह

भगवच्चरण सेवा विनीत बुद्धि से हो। इसमें हम स्वयं अपनी ही आध्यात्मिक उन्नति करते हैं। इस कारण जिनकी हम सेवा कर रहे हैं, वे हमारी सेवा ग्रहण कर हम पर असीम उपकार कर रहे हैं। इसका स्मरण रखते हुए विनम्रतापूर्वक कृतज्ञता व श्रद्धाभाव से सेवा करनी चाहिए। यह परमोच्च भूमिका प्राप्त करा कर मानव को ईश्वरत्व प्रदान करानेवाले धर्म तथा अध्यात्म की ओर दुर्लक्ष कर भारत की उन्नति नहीं हो सकती।

परानुकरण याने राष्ट्र की मृत्यु

खुली आँखों से दुनिया की ओर देखते हुए, भिन्न-भिन्न प्रगत देशों से उत्तम, उपयुक्त व अपने जीवन से समरसता से साम्य पा सकें, ऐसी बातें लेकर उन्हें पचाकर अपने जीवन में मिला लेना एवं उससे अपने वैशिष्ट्यपूर्ण जीवन को समृद्ध करना योग्य है, परंतु दूसरे देशों की ऐहिक प्रगति देखकर केवल अंधों के समान उनका अनुकरण करना घातक है। कोई भी राष्ट्र परानुकरण करके दुनिया में उत्कर्ष, मान, प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकता। उलटे वह हास्यास्पद होगा। सिंह की खाल ओढ़े गधे-सी उसकी स्थिति होगी।

अपना इतिहास भली-भाँति समझकर संगठित जीवन की अनिवार्य आवश्यकता को पहचानकर, उसके लिए संयमपूर्ण अनुशासित जीवन का शिक्षण लेते हुए सभी एक ईश्वर के अंश हैं, इस बुद्धि से जनसाधारण के साथ उत्कट स्नेहपूर्ण समरसता अनुभव करना आवश्यक है।

विश्व को ईश्वरप्राप्ति का मार्ग दिखाने के लिए भारत को जीवित रहना ही होगा। समृद्ध, शक्तिसंपन्न, स्वतंत्र, पवित्र बनकर जीवित रहना ही होगा। अतएव भारतीय राष्ट्रोन्नति का प्रयत्न अखिल विश्व पर, सारी मानवजाति पर उपकार करनेवाला ही है। अपनी राष्ट्रभक्ति से वास्तविक मानवतावाद आगे चलकर सिद्ध होनेवाला है। इसलिए स्वराष्ट्रसेवा में कुछ संकुचित भाव है, यह भ्रम छोड़ देना हितावह होगा।

'अगले पचास वर्षों तक मन से सभी देवी-देवताओं को हटा दो और अपने हृदय सिंहासन पर भारतमाता को आराध्य देवता के रूप में प्रतिष्ठित करो। अब तो अपने स्वदेश बंधु ही अपने इष्ट देवता हों।' इस भाँति ऐसे स्पष्ट आदेशों का ज्ञान श्री स्वामी जी का चरित्र पढ़कर होगा और हम अपने कर्त्तव्य में काया-वाचा-मनसा लीन होकर अपना जीवन कृतार्थ कर सकेंगे।

आज हम सभी प्रकार से वेश, रहन-सहन, समाजरचना, आर्थिक जीवन, राजकीय आदर्श आदि प्रत्येक बात में इंग्लैंड, अमेरिका व फ्रांस आदि किसी न किसी देश का अर्थशून्य, स्वाभिमानरहित अंधानुकरण कर अपने राष्ट्र के वैशिष्ट्य का घात ही कर रहे हैं। स्वयं होकर अपने राष्ट्र की आत्मा को हटाकर निर्जीव, परमुखापेक्षी, दासजीवन आग्रहपूर्वक स्वीकार कर रहे हैं। मानो हम अपने राष्ट्र की मृत्यु बुलाने के लिए भयावह प्रयास कर रहे हैं।

इस अधःपतनोन्मुखी समय में श्री स्वामी विवेकानंद जी की अमृतमयी वाणी वीर्य का, पौरुष का, निभर्यता का, स्वाभिमान का उद्घोष करते हुए अपने मृतप्राय राष्ट्रकलेवर में नवचैतन्य ला रही है। यह वाणी कानों में पड़े और उस अमरत्वप्रद दैवी जीवन की ओर ध्यान आकर्षित हो– इसी उद्देश्य से उनका यह संक्षिप्त चरित्र पाठकों के हाथों में सौंपा जा रहा है। इसके वाचन से प्रत्येक के हृदय में श्री रामकृष्ण-विवेकानंद की जीवनलीला तथा उनके उपदेश विस्तारपूर्वक पढ़ने की इच्छा उत्पन्न हो, उसका अध्ययन कर अपना जीवन राष्ट्रचरणों में अर्पण करने के लिए योग्य बनाने की प्रेरणा प्राप्त हो एवं उनका मानव हिंदू जीवन सार्थक हो, श्री रामकृष्णदेव व श्री स्वामी जी के चरणों में यही विनम्र प्रार्थना करते हुए यह परिचय समाप्त करता हूँ। इति।।

१२. श्रीरामकृष्ण-विवेकानंद की भारत को देन

(रामकृष्ण मिशन विवेकानंद आश्रम, रायपुर में विवेकानंद जयंती समारोह का उद्घाटन करते समय ११ जनवरी १९६९ को दिया गया भाषण)

भगवान की बड़ी कृपा है कि मैं यहाँ आ सका हूँ। कई बार ऐसा अवसर नहीं मिलता। इस आश्रम का इतिहास हम सबने सुना ही है। श्रीमत् स्वामी आत्मानंदजी से अनेक वर्षों से निकट का परिचय होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त है। अपने अंतःकरण की भावना के अनुरूप यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। यहाँ आए हुए बंधुओं को देखकर ऐसा लगता है कि छोटे-बड़े सभी ग्रामों में रहा श्रद्धा का यह विषय लोगों के अंतःकरण में

उदित हो रहा है। भारत की अपनी पुनीत परंपरा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्मिक ज्ञान का मूर्तिमंत स्वरूप बने, उसके अनुरूप अपना संपूर्ण देश का जन-जन हो रहा है, ऐसा मुझे लगता है। श्री भगवान रामकृष्ण की छवि हमारे सामने यही प्रेरणा और आशीर्वाद देती विद्यमान रहे।

उस समय का थोड़ा-सा इतिहास हम लोग स्मरण करें, जब श्रीरामकृष्ण का आविर्भाव हुआ था। हमारे यहाँ तो ऐसा कहा ही है कि जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म की वृद्धि होने लगती है, याने धर्म पर अधर्म हावी हो जाता है, तब धर्म के परित्राण हेतु भगवान प्रत्येक युग में प्रकट होते हैं। कभी अंशावतार के रूप में, तो कभी पूर्णावतार के रूप में। ऐसा ही एक समय हमारी इस पुनीत धर्मभूमि में, भारतभूमि में लगभग सौ-डेढ़ सौ वर्ष पूर्व उपस्थित हुआ था।

यह तो सभी जानते हैं कि दुर्भाग्य से हजार-डेढ़ हजार वर्ष तक भारत पर परकीय आक्रमणों का ताँता लगा रहा। देश पर अनेक प्रकार के आघात हुए, अत्याचार हुए। कई लोग परकीय लोगों के सामने झुककर अपने धर्म को छोड़ गए।

अंग्रेजों की योजना

यहाँ आसन जमाकर बैठने के बाद अंग्रेजों ने अपने राज्य को स्थिरता प्रदान करने के लिए यहाँ के लोगों को ईसाई धर्म में मिला लेने की योजना बनाई। उन्होंने विचार किया कि यदि भारतवासियों को हम अपने धर्म की दीक्षा दे दें, तो अपने अनुगामियों की संख्या बढ़ाकर यहाँ अपनी प्रभुसत्ता कायम रख सकेंगे। ऐसा सोचकर उन्होंने बहुत बड़ी मात्रा में धर्म-परिवर्तन की योजना बनाई तथा ईसाई मिशनरियों के माध्यम से जगह-जगह शिक्षालय और रुग्णालय खुलवाए। उन्होंने शिक्षालयों द्वारा हम लोगों की शिक्षा-दीक्षा अपने हाथ में ली और रुग्णालयों के द्वारा लोगों के उपचार की व्यवस्था करते हुए उसे धर्म-परिवर्तन का एक सशक्त माध्यम बनाया। अपने यहाँ जो पढ़े-लिखे लोग थे, जिनका समाज में साधारण रीति से बोलबाला हो सकता था, जो समाज के अगुआ माने जा सकते थे, वे अंग्रेजों को देवदूत मानकर अपने संपूर्ण जीवन को उन्हीं के ढाँचे में ढालने के लिए प्रस्तुत हो रहे थे— वेश में, भाषा में, बोली में और यहाँ तक कि उपासना में भी।

ईसाई कहता है कि भगवान है, परंतु उसकी कोई मूर्ति नहीं है। वह मूर्तिपूजा का निषेध करता है और विभिन्न देवी-देवताओं के संबंध में भी अपना विरोध प्रकट करता है। उन दिनों बंगाल में ब्रह्म-समाज के नाम से और महाराष्ट्र में प्रार्थना-समाज के नाम से जो संप्रदाय चले, उनकी उपासना-पद्धति भी ईसाईयों के समान ही थी। जिन महापुरुषों ने इन संप्रदायों को शुरू किया था, वे असामान्य योग्यता के पुरुष थे। महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर और केशवचंद्र सेन सामान्य कोटि के व्यक्ति नहीं थे। परंतु उस समय चारों ओर अंग्रेजियत का जो वायुमंडल था, उसका उन पर भी प्रभाव पड़ा और उसी के अनुरूप उन्होंने ये संस्थाएँ प्रारंभ कीं। हो सकता है उनमें यह आशा रही होगी कि जैसा ईसाई कहते हैं, अपनी उपासना-पद्धति भी वैसी ही है। किंतु इस नए संप्रदाय के कारण अपने यहाँ का पढ़ा-लिखा आदमी अब धर्म और उपनिषदों के सिद्धांतों का विशेष आग्रहपूर्वक पठन-पाठन करेगा, इसलिए वह ईसाई नहीं बनेगा।

उन दिनों बहुत-से लोग ईसाई बनने लगे थे। उदाहरण के लिए बंगला भाषा के एक कवि मधुसूदन दत्त ईसाई बन गए थे। यद्यपि उनका नाम मधुसूदन दत्त बदला नहीं था, तथापि उनके नाम के आगे 'माइकेल' लग गया था— 'माइकेल मधुसूदन दत्त'। उनका 'मेघनाद-वध' काव्य बड़ा प्रसिद्ध है।

एक दिन वे भगवान श्रीरामकृष्ण से मिलने आए भगवान ने पूछा— 'तुम ईसाई क्यों बने?'

उन्होंने कहा— 'थोड़े से स्वार्थ के लिए बना हूँ।'

भगवान श्रीरामकृष्ण ने उनकी ओर अपनी पीठ फेरते हुए कहा— 'थोड़े से स्वार्थ के लिए जो अपना धर्म छोड़ता है, उसका मुँह देखना भी पाप है।'

ऐसे अच्छे पढ़े-लिखे लोग भी अपना धर्म छोड़कर, अपने सभी प्रकार के संस्कारों को छोड़कर दूसरे धर्म की ओर जा रहे थे। ऐसा लगता था कि यहाँ विधर्म का एक ज्वार-सा आ गया है। उसमें अपने यहाँ का परंपरागत सत्य, चिरंतन सनातन धर्म डूब जाएगा। सबकी ऐसी मानसिक स्थिति हो गई थी कि जो कुछ परकीय है, वही अच्छा है। विदेशियों का वेश, बोली, रहन-सहन, धर्म— सब कुछ अच्छा और अपना कुछ भी अच्छा नहीं। हमारे अच्छे-अच्छे लोग अपने ही धर्म का, अपनी ही संस्कृति का निषेध करने लगे थे। सर्वत्र ऐसी स्थिति हो गई थी कि लगता था धर्म नाम

की कोई वस्तु बचेगी नहीं।

अंग्रेजों ने शिक्षा-दीक्षा भी ऐसी शुरू की थी कि उससे भले ही इस देश के मनुष्यों का रंग नहीं बदले, परंतु वे 'ब्राउन इंग्लिशमैन' अवश्य बन जाएँ। उनका तात्पर्य यह था कि यदि हमारा राज्य कभी यहाँ से नष्ट भी हो जाए, तब भी यहाँ जो रहेंगे, वे अंग्रेजियत में डूबे रहेंगे। पता नहीं उन्होंने कितनी दूर की सोची थी, पर आज भी ऐसा दिखाई देता है कि हम लोग इंग्लिशमैन बनने का पर्याप्त प्रयत्न कर रहे हैं। किंतु उस प्रयत्न में सफलता मिलने की कोई आशा नहीं है, क्योंकि कितना भी प्रयत्न किया तब भी हममें से कोई अंग्रेज कैसे बन सकता है?

दासता से गुणों का ह्रास

प्राथमिक पाठशाला में मैंने मराठी की एक कविता पढ़ी थी– 'बगुला और कौआ'। उस कथा में कौआ सोचता है कि मैं काला हूँ, इसलिए लोग मुझसे घृणा करते हैं और यह बगुला सफेद होने के कारण सब लोगों की बड़ी तारीफ पाता है। इसलिए अपना काला रंग छुड़ाना चाहिए। इस विचार से वह बाजार जाकर साबुन लाया और नदी किनारे बैठकर, साबुन लगाकर पत्थर पर अपना सारा शरीर रगड़ने लगा। रगड़ते-रगड़ते उसके पंख उखड़ गए और वह लहुलुहान होकर मर गया। हमारे में से जो अंग्रेज बनने की चेष्टा कर रहे हैं, उनका भी उस कौए जैसा हाल होगा। भगवान श्री रामकृष्ण के युग में ठीक ऐसी ही भीषण स्थिति थी।

यह एक सर्वविदित सत्य है कि जब राष्ट्रजीवन में दासता आती है, तब जनसाधारण के परंपरागत सद्गुणों का ह्रास होने लगता है। यह दासता मनुष्य को अनेक प्रकार के दुर्गुणों में प्रवृत्त करती है। हम एक-दूसरे के साथ विश्वासघात करते हैं, असत्य भाषण करते हैं, असत्य आचरण करते हैं, किसी भी प्रकार का पाप-कर्म करने में हमें हिचक नहीं होती। तब ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गई थी। सर्वत्र चरित्रभ्रष्टता का, शीलभ्रष्टता याने धर्मभ्रष्टता का वायुमंडल फैला हुआ था।

सबके सामने प्रश्न था कि इस सबके पीछे ऐसे प्रबल साम्राज्य का समर्थन है, तब यह सब कैसे रुकेगा? ऐसा लगता नहीं था कि यह रुक सकेगा। परंतु अनेक लोगों के मन में ऐसी स्वाभाविक इच्छा उत्पन्न हो रही थी कि यह रुकना चाहिए। ब्रह्म-समाज आदि का निर्माण इसी इच्छा का

एक प्रकट रूप था। इसी समय ईश्वरचंद्र विद्यासागर हुए थे। उन्होंने जनमानस के सामने एक अच्छा आदर्श उपस्थित किया। वे वायसराय द्वारा स्थापित शिक्षा कमेटी में थे। इस कारण कमेटी की बैठकों में उन्हें वायसराय के साथ बैठना होता था। वे धोती, छोटी-सी चादर और कुरता पहना करते थे। उनके अनेक मित्रों ने आग्रह किया कि ऐसे अवसरों पर अंग्रेजी वेश पहनकर जाना चाहिए। किंतु वे सबका आग्रह टालकर अपने उसी वेश में बैठकों में जाए करते थे।

ऐसी घटनाएँ अपने आप में बड़ी अच्छी थीं, पर अधर्म का जो ज्वार-सा आया हुआ था, उससे अपने धर्म, अपनी संस्कृति और अपने समाज को सुरक्षित रखना सामान्य व्यक्ति का, सामान्य शक्ति का काम नहीं था। इसके साथ ही हमें यह भी देखने को मिलता है कि इस बड़े देश में जब विदेशी शासक आए, तो उन्होंने यहाँ दिखनेवाले धर्म-भेद, जाति-भेद और वर्ग-भेद के संघर्षों का लाभ उठाकर अपना आसन पक्का करने की चेष्टा की।

लगभग हजार वर्ष से इस देश के पुत्ररूप हिंदुओं का संघर्ष मुसलमानों के साथ चल रहा था। अंग्रेजों के आने के पहले इस संघर्ष के कुछ-कुछ शांत होने की संभावना दिखाई दे रही थी। यदि अंग्रेज बीच में नहीं पड़ते, तो ऐसी भी संभावना थी कि मुसलमान, हिंदू समाज में उसी प्रकार पच जाता, जिस प्रकार शक, हूण आदि पच गए। भले ही उनकी थोड़ी-सी विशेषता रह जाती या प्रार्थना-पद्धति रह जाती। हमारे यहाँ तो सभी प्रार्थना-पद्धतियों का सत्कार किया गया है। हमारे धर्म ने किसी का निषेध नहीं किया है। यदि कोई पाँच की जगह दस बार नमाज पढ़े तो हम कहेंगे– 'बहुत अच्छा कर रहे हो भाई, जरा सच्चाई से रहो, नमाज पढ़ो, खुदा की इबादत करो और उनकी करुणा के लिए प्रार्थना करो।' इस प्रकार राष्ट्र के इस जीवन-प्रवाह में मुसलमानों के समरस होने का समय आ रहा था कि अंग्रेज आ गए। उन्होंने सोचा कि यह समरसता हमारे लिए खतरनाक है, इसलिए हम लोगों को चाहिए कि इनके जो हजार वर्षों से झगड़े चले आ रहे हैं, उनको जरा बढ़ा दें। अलीगढ़ विश्वविद्यालय और मुस्लिम लीग की स्थापना इसी षड्यंत्र का कुफल है।

भेदनीति

उनको यह भी पता था कि यहाँ के अभी-अभी बने ईसाई कभी भी अपने देशभाइयों के साथ मिल सकते हैं। अतः उन्होंने इन ईसाइयों को

भी राष्ट्र की जीवनधारा से पृथक रखने का भरपूर प्रयत्न किया। उन्होंने देखा कि इस देश में अनेक जातियाँ हैं, उनके संप्रदाय हैं। इसमें नगरवासी हैं, ग्रामवासी हैं, तो गिरि-कंदराओं में रहनेवाले भी हैं। भले ही इनके रहन-सहन में सूक्ष्म फर्क दिखाई देता है, पर हृदय के संस्कार की दृष्टि से इन सबमें एकता है। अंग्रेजों ने विचार किया कि ऊपर से दिखनेवाले भेदों को अधिक तीव्र बनाकर इस समाज को एक होने से रोक देंगे तो हमारा आसन यहाँ पर हमेशा के लिए पक्का हो सकता है। इसी कारण उन्होंने विच्छेद को अधिक से अधिक मात्रा में बढ़ाने का प्रयत्न किया।

धर्म का लक्षण

धर्म वह है जो समाज को सुव्यवस्था में रखता है और जहाँ पर उपर्युक्त प्रकार से विच्छेद का कार्य होता है, वह अधर्म है। उस समय ऐसा अधर्म चारों ओर से बढ़ रहा था। इसको रोकने की शक्ति किसी में दिखती नहीं थी। तब लोगों के अंतःकरण में ऐसा भाव उठने लगा कि अब ईश्वरीय शक्ति का प्रकट होना आवश्यक है। जब लोगों के मन में ऐसा भाव स्वतःप्रवृत्त तीव्रता से उठता है, तब अपार करुणामय भगवान आवश्यकतानुसार स्वयं को अंशावतार के रूप में अथवा अपनी पूर्ण सामर्थ्य के साथ प्रकट करते हैं। उस समय तो धर्म की रक्षा के लिए, याने समाज की धारणा के लिए, देश में परकीयों द्वारा जो विच्छेदरूपी अधर्म फैलाया गया था, उसको दूर करने के लिए, देश में अलग अलग दिखनेवाले सब धर्मों और पंथों में समन्वय करने के लिए एक ऐसी महान् विभूति का आविर्भाव जरूरी था, जो अपने जीवन में सभी धर्मों की साक्षात् अनुभूति करके, उनके सत्यत्व को जगत् के समक्ष स्थापित करे। ऐसी विभूति हमें श्री रामकृष्णदेव के रूप में प्राप्त हुई।

श्रीरामकृष्ण ने यह विश्वास प्रत्येक में जगाया कि आधुनिक शिक्षा के इस आडंबर को तोड़कर अंतःकरण की सत्प्रवृत्तियों और सद्ज्ञान को प्रकट करना संभव है। सभी धर्मों का समन्वय कर, केवल भारत के ही नहीं, वरन् संपूर्ण जगत् के मानवों की एकात्मकता स्थापित करने को यह महान अवतार हुआ। तभी तो स्वामी विवेकानंद ने 'सर्व-धर्म-स्वरूप' कहकर उनकी वंदना की। अभी उनकी पूरी शक्ति जगत् में प्रकट नहीं हुई है। वह तो धीरे-धीरे ही प्रकट होगी और यदि हमारा सौभाग्य होगा, तो हम भी उसे देखने में समर्थ होंगे।

आसुरी-संपत्ति का बढ़ता प्रभाव

आज संसार ने विज्ञान के क्षेत्र में बहुत प्रगति की है। लोग चंद्रमा की परिक्रमा करके लौटे हैं। रूसी लोग कहते हैं कि अमरीका यदि चंद्रलोक पर गया, तो हम शुक्रग्रह पर जाएँगे और वहाँ पर आदमी उतारेंगे। वह अलग बात है कि आदमी वहाँ बचे या ना बचे। परंतु आज का मानव इस प्रकार का बड़ा साहस प्रकट कर रहा है। हमारे शास्त्रों में आसुरी संपत्ति का वर्णन करते समय कहा गया है कि वह आकाश को भी बगल में लेने का प्रयास करती है।

प्रश्न यह उठता है कि क्या इससे मनुष्य का जीवन किसी प्रकार सुखकर हो रहा है? दिखता तो यह है कि भीषण शस्त्रास्त्रों के कारण मनुष्य मात्र के भेद इतने उग्र हो गए है कि संपूर्ण मानवता के नष्ट होने की संभावना उत्पन्न हो गई है। लोगों को भय है कि कहीं चिंगारी पड़ गई, तो वह विश्व के लोगों को झकझोर डालेगी। ये भयंकर शस्त्रास्त्र शस्त्रागारों से बाहर निकलकर सारे विश्व को जलाकर राख कर देंगे। तब चिराग जलाने के लिए भी कोई मनुष्य जीवित नहीं रहेगा। इस भय से सब लोग ग्रस्त हैं।

मनुष्य-मनुष्य में भेद उत्पन्न हो गया है और हमारा दुर्भाग्य ऐसा है कि इन भेदों में लोग धर्म को भी घसीट कर ले आए है। कहाँ धर्म सबको एकत्र करने वाला, सबको श्रेष्ठ बनानेवाला सूत्र है, जिसका कार्य ही सभी प्रवृत्तियों का समन्वय कर मनुष्य को एक अत्यंत उत्कृष्ट विकसित अवस्था प्राप्त करा देना है। और कहाँ लोग धर्म का नाम लेकर उसकी आड़ में मनुष्य के बीच भेदों को उग्र, उग्रतर और उग्रतम बनाते जा रहे हैं। यह विभीषिका आज जगत् के सामने खड़ी है। इसमें से रास्ता कौन-सा है? इससे हम किस प्रकार मुक्त होंगे? यह सभी के मन की व्यथा है।

जब हम व्यावहारिक दृष्टि से विचार करते हैं, तब दिखाई देता है कि आज के इस आपाधापी और धक्का-मुक्की के युग में अपने को इस प्रकार शक्तिसंपन्न करना होगा कि कोई भी आघात हमें डिगा न सके।

सत्यधर्म का प्रचार

इस प्रकार के सामर्थ्य के साथ-साथ धर्म का जागरण भी आवश्यक है– ऐसे धर्म का जागरण, जो सत्यस्वरूप है, जो सबको एक सूत्र मे पिरोता

है, जो अलगाव या विच्छेद को जन्म नहीं देता, जो संप्रदाय के तंग दायरे में लोगों को नहीं बाँधता, बल्कि विभिन्न मतों में समन्वय स्थापित करता है। इस प्रकार के सर्व-समन्वयात्मक धर्म को अपने जीवन में उतारकर सबको उसका साक्षात्कार कराने के लिए युगावतार के रूप में भगवान् श्री रामकृष्ण हमारे बीच आविर्भूत हुए थे।

जैसा मैंने कहा, श्री रामकृष्ण आधुनिक शिक्षाप्राप्त व्यक्ति नहीं थे। भगवान श्रीरामकृष्ण ऐसे लोगों से मिलने पर कहते– 'क्यों भाई, चौबीसों घंटे नून-तेल, दाल-रोटी आदि की चिंता करते-करते तुम्हारा दिमाग ठिकाने रहा और सारे चैतन्य के मूल आधार भगवान का चिंतन करने के कारण मैं ही पागल हो गया।' प्रश्न यह था कि उनका यह संदेश त्रस्त और संकटग्रस्त लोगों तक कैसे पहुँचे?

परंतु बात ऐसी है कि भगवान जब भी आते हैं, तो अकेले नहीं आते। अपने साथ काम करनेवालों को लेकर आते है। रामायण में वर्णन आता है कि जब प्रभु रामचंद्र का आविर्भाव होनेवाला था, तब ब्रह्माजी देवताओं से कहते हैं कि तुम लोग भी भिन्न-भिन्न रूप धारण करके अवतार लो और उनकी सेवा के लिए उपस्थित हो जाओ। प्रत्येक अवतार के साथ यही बात हुई है। इस बार भी भगवान अपने पीछे-पीछे ऐसे लोगों को ले जाते हैं, जो उनके संदेश का प्रचार करें और ज्ञान से लोगों को प्रभावित करें। उन्होंने इस प्रकार धर्म की समन्वयात्मक और एकात्म-बोध रूपी परमश्रेष्ठ ज्ञान को सर्वत्र प्रसारित करने की व्यवस्था की।

भगवान् श्रीरामकृष्ण कहते थे– 'प्राचीनकाल से जो ऋषि नर-नारायण के रूप में बद्रिकाश्रम में संपूर्ण जगत् की भलाई के लिए तपश्चर्या करते बैठे हुए हैं, वे समय-समय पर देह धारण कर प्रकट होते हैं। वही नर-ऋषि इस समय नरेंद्र के नाम से प्रकट हुए हैं। यह नरेंद्र धर्म की ध्वजा लेकर विश्व में सर्वत्र जाएगा और मानवों को जागृत करता हुआ ज्ञान को सर्वत्र प्रस्थापित कर सब प्रकार के अंधकार को निरस्त करेगा। इसकी सर्वत्र विजय होगी।'

यही नरेंद्र आगे चलकर श्रीमत् स्वामी विवेकानंद हुए। ये भगवान श्रीरामकृष्ण के प्रधान पार्षद बने। आज उन्हीं की जयंती के उत्सव पर हम लोग यहाँ पर उपस्थित हुए हैं। मुझे इस बात का बड़ा सुख है कि मैं अपना प्रणाम निवेदित करने के लिए यहाँ पर उपस्थित हो सका। मैं उनके ज्ञान

की कोई बड़ी बात नहीं बोलूँगा। एक व्यावहारिक मनुष्य के नाते हम सब लोगों के काम में आनेवाली दो-चार बातें आपके सामने रखकर, मैं अपना कथन पूर्ण करूँगा।

हम व्यावहारिक जगत् में रहनेवाले लोग हैं। हमें अपना घर-बार, परिवार चलाते हुए इस जीवन-संघर्ष में खड़े रहना है। तब विचार करें कि इसके लिए आवश्यकता किस बात की है? अपने जीवन में हमें सर्वप्रथम जिस बात का बोध होता है, वह है अपना शरीर। हमारे यहाँ कहा भी गया है 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्', अर्थात् शरीर धर्म को सिद्ध करने का प्रथम साधन है। इसलिए पहली आवश्यकता है कि शरीर को शुद्ध, शक्तिसंपन्न, व कार्यक्षम रखना, जिससे इसमें नित्य उत्साह बना रहे। प्रश्न हो सकता है कि यह तो अपने शरीर को सब प्रकार से श्रेष्ठ बनाकर रखने की आवश्यकता की बात हुई, इसमें भला स्वामी विवेकानंद महाराज कहाँ से आए? परंतु उनके जीवन की बात यदि हमें कुछ पता हो, तो ज्ञात होगा कि उन्होंने तब भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यायाम किए थे, वे उत्तम मल्ल थे, अत्यंत बलवान शरीर के थे। वे नियमित रूप से अखाड़ा जाते थे और अभ्यास करते थे। उन्होंने इतना कठोर परिश्रम किया, इतनी प्रखर तपस्या की, खाना-पीना, नींद-विश्राम आदि किसी की चिंता न करते हुए, सारे जगत् में घूमकर इतना काम किया, वह सब संभव नहीं हो पाता। उन्होंने अपनी देह में इतनी चेतना, इतनी शक्ति संचित कर रखी थी। तभी तो भौतिकता के गर्त में गिरनेवाले विश्वभर के मानवों को अपनी प्रबल बाहुओं से ऊपर उठाने का प्रयत्न उनके द्वारा संभव हुआ था।

सौंदर्य : बलवान शरीर में

परंतु आजकल शारीरिक बल वाली बात हमारे जीवन से दूर हो गई है। आज कोई बलवान शरीर नहीं चाहता, सब लोग अपने को सुंदर दिखाने की चेष्टा करते हैं। लेकिन ऐसा सृष्टि के प्रारंभ से चलता आया है, अतः इसमें कोई अटपटी बात भी नहीं। परंतु सोचना यह है कि सौंदर्य किसमें है। क्या अपने बाल टेढ़े-मेढ़े करने अथवा शरीर से सटा हुआ पतलून पहनने में ही सौंदर्य है? पुरुष का वास्तविक सौंदर्य तो इसमें है कि उसका स्कंध विशाल हो, छाती सिंह के समान भरी हो, गर्दन वृषभ के समान तनी हो, हाथ के पंजे में ऐसी शक्ति हो कि एक बार किसी से हाथ मिला लिया तो वह जन्मभर उस पकड़ को याद रखे। आज लोग इस बात

को भूल गए हैं। उन्हें फिर से सीख देनी होगी कि हृष्ट-पुष्ट बनो, बलवान बनो, शक्ति संपन्न बनो, चेतनामय बनो और इस बल का उपयोग अपने स्वार्थ के लिए न कर सबकी भलाई, सबके संरक्षण के लिए करो। इतने बड़े साधु और तपस्वी होकर भी स्वामी विवेकानंद ने हमारे सामने इस प्रकार के बलवान शरीर का जो उदाहरण प्रस्तुत किया, उससे हम लोग उपर्युक्त शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

हम देखते हैं कि शरीर में बल हो, तो मनुष्य उद्दण्ड होकर कभी-कभी शीलभ्रष्ट हो जाता है। इस महापुरुष से हमें इस बात का बोध होता है कि शरीर कितना भी हृष्ट-पुष्ट क्यों न हो, अनेक प्रकार के ग्रंथ आदि पढ़कर कितनी भी विद्वत्ता क्यों न प्राप्त की हो, पर यदि अपने जीवन को नितांत पवित्र न रखा, तो हम मनुष्य कहलाने लायक नहीं रह जाएंगे। स्वामी जी का जीवन परम पवित्र था। एक बार दूध से धोई हुई वस्तु अपवित्र कहलाई जा सकती है, पर स्वामी जी के जीवन में काया-वाचा-मनसा पावित्र्य के सिवाय और कुछ न मिलेगा।

अब हम लोग विचार करें कि चारों ओर मोह से भरे, क्षुद्र वैषयिक भावों से भरे इस संसार में जीवन में पावित्र्य लाने का, शारीरिक बल हासिल करने का, ज्ञान आदि के संपादन का प्रयत्न करते हैं, आखिर उसका उद्देश्य क्या है?

भारत की परंपरा में हमेशा बताया गया है कि मनुष्य को भगवत्प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। हमारा हर कर्म मानो उसकी उपासना हो, उसकी भक्ति हो, उसके लिए की गई तपस्या हो। हम जो भी कर्म करें, वह इस प्रकार करें कि भगवान की प्राप्ति में बाधा न हो।

जो धन का दान करते हैं, उदार कहलाते हैं, पर जो उपर्युक्त ज्ञान का प्रचार करते हैं, उन्हें भी उदार कहा गया है। स्वामी जी हमें सीख देते हैं कि अंतःकरण में भक्ति लाओ, जीवन के कर्मों के प्रति उपासना का भाव लाओ और उस परम सत्य की अनुभूति प्राप्त कर अपना जीवन सफल बना लो।

उपासना के साथ कर्त्तव्य का भान

स्वामी जी ने एक और महत्त्व की बात हमारे सामने रखी कि भारत में हमेशा से ऐसे लोग रहे हैं, जो या तो अपने-अपने घरों में रहते हैं, या अपना आश्रम बना लेते हैं और कुछ चेलों को लेकर वहाँ बैठ जाते

हैं। वे वहाँ भजन-पूजन करेंगे या योग वगैरह की कोई साधना करते रहेंगे, पर यह देखने को तैयार न होंगे कि अपने चारों ओर इतना बड़ा मनुष्य-समुदाय है, अपना समाज है, वह अत्यंत दीन-हीन अवस्था में पड़ा है। लोगों को खाने के लिए रोटी का टुकड़ा नहीं, शरीर को ढँकने के लिए कपड़े का चीथड़ा नहीं, तब ज्ञान आदि की बात तो दूर ही समझें। उन लोगों से अगर कुछ कहो, तो वे यह कहने लगते है कि 'मनुष्य तो अपने कर्मों का फल भोगता है।'

अरे भाई, हमारा भी तो कोई कर्तव्य है। ठीक है कि वे अपने कर्मों का फल भोगते हैं, परंतु उनके प्रति हमारा भी कोई कर्तव्य है ऐसा बोध हममें उठना चाहिए या नहीं? संभव है कि कोई अपने पूर्वजन्म के कर्मों के कारण दरिद्र के रूप में पैदा हुआ होगा, इसीलिए क्या उसे दारिद्र्य में ही रहने देना चाहिए? कोई रोगी पैदा हुआ और डाक्टर कहे- अच्छा है, तू तो मर। यह तेरे पूर्वजन्म का कर्म है। ऐसे डाक्टर को डाक्टर कहेंगे क्या?

भले ही अपने पूर्वजन्मों के कर्मों से कोई कष्ट भोगता आज दिखाई देता है, पर उसके कष्ट को दूर करना हमारा कर्तव्य है या नहीं? आज भले ही वह अज्ञान में डूबा दिखता है, तो उसे ज्ञान देना हमारा कर्त्तव्य है या नहीं?

स्वामी विवेकानंद ने हमें इन सब बातों पर विचार करने के लिए कहा और सीख दी कि समग्र मानव की सेवा ही भगवान की सेवा है, उससे मुँह मोड़ना धर्म की बात नहीं है। बहुत पहले हमारे सामने एक महान सत्य रखा गया था 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय।' स्वामी जी ने उसके भी आगे जाकर कहा- 'यदि तुम्हें भगवान की सेवा करनी है, तो मनुष्य की सेवा करो। भगवान ही रोगी मनुष्य, दरिद्र मनुष्य के रूप में हमारे सामने खड़ा है।'

उन्होंने कहा- 'तुम्हें सिखाया गया है कि अतिथिदेवो भव, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव। पर मैं तुमसे कहता हूँ- दरिद्रदेवो भव, अज्ञानीदेवो भव, मूर्खदेवो भव।' सबको देव समझकर, भगवान समझकर उनकी सेवा करनी चाहिए, यह श्रेष्ठतम सिद्धांत स्वामी जी ने हमारे समाने रखा। अभी तक तो हमारे यहाँ के लोग यही मानते थे कि किसी कोने में बैठना, गिरि-कंदराओं में जाकर नाक पकड़ कर बैठना, जिसे शंकराचार्य महाराज ने बेकार का नासपीड़नकेवलम् कहा है, इस प्रकार से कुछ करते रहने में ही धर्म है।

नई उपलब्धि, नई अभिव्यक्ति

स्वामी विवेकानंद ऐसे समय हमारे बीच आए, जब हमने अपने चारों ओर धर्म का एक संकुचित दायरा बना लिया था। उसे उन्होंने तोड़ा और हमें सिखाया कि मानवमात्र को भगवान का ही प्रकट रूप मानकर उनकी सेवा करो। इस प्रकार उन्होंने अद्वैत-सिद्धांत को प्रत्यक्ष व्यवहार के सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर एक नवीन और परम श्रेष्ठ उपलब्धि प्रदान की।

हम इतने वर्षों तक यही मानते थे कि हमें दुनिया से क्या लेना-देना है। हम अपने में ही मग्न बैठेंगे, भगवान की पूजा करेंगे, उपासना करेंगे, ग्रंथ-पठन करेंगे, नाम-कीर्तन करेंगे, प्राणायाम करेंगे। पर स्वामी जी ने आकर बताया कि मात्र इतने से काम नहीं होगा। मनुष्य की सेवा करो, नर में नारायण की सेवा करो, जीव में शिव की सेवा करो।

इस प्रकार एक नवीन उपलब्धि उन्होंने हमारे समक्ष रखी। वैसे तो पूर्णता में कोई नवीनता होती नहीं। स्वामी जी ने स्वयं कहा कि नवीन कुछ नहीं है। जिस दिन किसी ने तत्त्वमसि की घोषणा की, उसी दिन ज्ञान की इति हो गई और परमश्रेष्ठ अवस्था का निरूपण हो गया। अब जो कुछ बताना है, वह नया नहीं है। वही पुरानी बात ही बतानी है। पर हाँ, उस बात की अभिव्यक्ति एक नवीन ढंग से हो सकती है। स्वामी जी की उपलब्धि को नवीन कहने का यही तात्पर्य है।

स्वामी जी में ईश्वरीय शक्ति थी। वे जब बोलते थे, तब लोग उन्हें सुनने के लिए उन्मुख हो जाते थे। अमेरिका के एक समाचार-पत्र ने उनके बारे में यहाँ तक लिखा कि वे ईश्वरीय अधिकार-प्राप्त वक्ता हैं। तभी तो बाहर के लोगों ने स्वामी जी को ऐसे सुना जैसे किसी मसीहा को सुनते हैं। तब तो हमारी स्थिति ऐसी थी कि यदि हमारे देश का कोई व्यक्ति बाहर जाता, तो उसे कौन सुनता? उसका कहना भला कौन मानता? हमारा देश तो गुलाम था।

पता नहीं आप जानते हैं कि नहीं कि विश्वकवि कहलानेवाले रवींद्रनाथ ठाकुर एक बार जापान गए थे। उन्हें वहाँ की युनिवर्सिटी ने भाषण देने के लिए आमंत्रित किया था। पर खेद की बात है कि न तो युनिवर्सिटी के छात्र उनका भाषण सुनने आए और न अध्यापक ही। बस, निमंत्रण देनेवाले पाँच-दस अधिकारी ही सभास्थल पहुँचे थे। निमंत्रकों को लगा कि यह तो इतने बड़े अतिथि का अपमान है, हमें चाहिए कि लोगों

को यहाँ उपस्थित करें। अतः दूसरे दिन वे अनेक लोगों के घर पर गए और प्रत्येक से मिलकर कहा– 'भाई, इतना बड़ा मनुष्य आया है, हमें उसके भाषण में जाना चाहिए, नहीं जाना अच्छा नहीं दिखता।' उनको जवाब मिला– 'हम पराभूत जाति के लोगों का तत्त्वज्ञान सुनने नहीं आएँगे।' तब विदेशों में भारत की ऐसी स्थिति थी।

अभूतपूर्व ईश्वरीय संकेत

ईश्वर की अगाध लीला को भला कौन समझ सकता है? किसी के मन में आया कि सारे विश्व के भिन्न-भिन्न धर्मों का सम्मेलन किया जाए। उसके बाद भी कई बार लोगों ने ऐसे सम्मेलन किए हैं। अभी भी हर स्थान पर ऐसे सम्मेलन होते हैं। हमारे इस विवेकानंद आश्रम या रामकृष्ण मिशन की ओर से भी ऐसे सम्मेलन करने का प्रयत्न होता है, परंतु वह जो हुआ, वह अभूतपूर्व था। उस धर्म-सम्मेलन को तो मानो ईश्वर ने ही बुलाया था और किसी को निमित्त बनाकर आगे बढ़ा दिया। वह तेजपुंज हमारे यहाँ उत्पन्न हुआ था, जिसे भगवान रामकृष्ण ने जगत् के संपूर्ण अंधकार को नष्ट करने के लिए प्रेरित किया था, वह वहाँ जाकर मानो एक भीषण बम के समान गर्जना करते हुए फटा, जिससे अज्ञान के सारे पर्दे नष्ट हुए और सन्मार्ग का पथ प्रशस्त हुआ।

विचित्रता यह देखिए कि सबको निमंत्रण मिला था, पर स्वामी जी को कोई निमंत्रण नहीं मिला था। फिर भी कई लोगों के आग्रह करने पर वे अमरीका गए। उन्हें वहाँ कैसी-कैसी परिस्थितियों में से गुजरना पड़ा, यह हमें मालूम ही है। उनका जीवन-चरित्र पढ़ने पर पता चलता है कि जिसे निमंत्रण नहीं, प्रतिनिधियों की सूची में जिसका नाम नहीं, ऐसे व्यक्ति को भी प्रवेश मिल जाता है। यह ईश्वर की ही योजना नहीं तो और क्या है? और प्रवेश देने की व्यवस्था करते समय एक श्रेष्ठ विद्वान तो यहाँ तक कह बैठते हैं– 'अरे! इनसे परिचय-पत्र माँगना सूर्य से यह पूछने के समान है कि तुम्हें प्रकाश देने का अधिकार क्या है।' उनके थोड़े से संपर्क से ही कुछ श्रेष्ठ व्यक्तियों के मन पर उनकी महत्ता की ऐसी छाप पड़ी कि उन्हें धर्म-सम्मेलन में प्रवेश मिल गया।

प्रथम दिन के अपने एक छोटे-से औपचारिक भाषण के द्वारा ही उन्होंने पूरे विश्व के विभिन्न धर्मों के श्रेष्ठ पुरुषों की सभा जीत ली। वे वहाँ के अनभिषिक्त राजा बन गए। उनका एक-एक शब्द सुनने के लिए सहस्रों

लोग आतुर रहते थे। जो विरोध करने के लिए खड़े हुए, वे निष्प्रभ हो गए। वे जिधर भी गए एक विजयी चक्रवर्ती सम्राट के समान गए। अमरीका, इंग्लैंड, फ्रांस के महान तत्त्वज्ञों से मिले। उन्होंने सबके मन में एक नवीन जागृति उत्पन्न की। उस जागृति का प्रभाव हमें भी धीरे-धीरे देखने को मिलेगा।

आज विश्व के राष्ट्रों में परस्पर भिन्न-भिन्न प्रकार के शस्त्रास्त्र बनाने की होड़ है, भौतिकता के ऐश्वर्योपभोग में अधिकाधिक मात्रा में डूबने की होड़ है। इस होड़ के साथ ही अब लोगों के मन में यह प्रश्न भी उठने लगा है कि 'हम जा कहाँ रहे हैं? न तो सुख की नींद ले पा रहे हैं, न किसी प्रकार का चैन है। बेचैनी से चौबीसों घंटे इधर-उधर दौड़ते रहते हैं। दवाई ले-लेकर अपने दिमाग ठिकाने रखना पड़ता है। क्या इसमें से कोई मार्ग नहीं है?'

इस प्रश्न के उत्तर में उस महापुरुष की गर्जना स्मरण हो आती है, जो बता गया है कि मार्ग है। वह है योगमार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग। आज यह अनुभूति दूसरे देशों मे धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है। यदि हमारा सौभाग्य हुआ तो हम देखेंगे कि भौतिकता की चकाचौंध के बीच स्वामी विवेकानंद ने शिकागो में जाकर सारे जगत् को आलोकित करनेवाली जो ज्योति जलाई थी, वह समूचे विश्व में कोटि सूर्य सम प्रभावान होकर मानव मात्र पर छा रही है और उसमें मानव सब प्रकार के कल्याण के पथ पाकर भगवत्प्राप्ति की योग्यता अर्जित कर रहा है।

मंगल समय निकट आ रहा है

मुझे तो ऐसा लगता है कि वह समय निकट आ रहा है। इसलिए आइए, जिस महापुरुष के ज्योतिपुंज में से सारे जगत् को आलोकित करनेवाली ज्योति लेकर स्वामी जी विदेशों में गए, उन महान युगावतार भगवान रामकृष्ण और उनके सर्वश्रेष्ठ लीला-सहचर स्वामी विवेकानंद का हम बार-बार स्मरण करें, उनकी वाणी का अध्ययन करें, उनके जीवन के आलोक में अपना जीवन गठित करें, मानव की सेवा में जुटें, किसी प्रकार के स्वार्थ को अपनी सेवावृत्ति में बाधा के रूप में आकर खड़ा न होने दें तथा अपने जीवन को परिपूर्ण बनाकर इस सत्य को एक बार फिर से अपने जीवन के द्वारा सिद्ध कर दें कि भारतमाता का एक-एक पुत्र स्वामी विवेकानंद के तेज से तेजान्वित होकर विश्व को सत्य का ज्ञान देने में पूरी तरह सक्षम है।

मैं स्वामी जी से यही आशीर्वाद माँगता हूँ कि लोग अपने स्वार्थ को पीछे रखने में समर्थ हों। आप लोगों ने इतनी देर मेरी टूटी-फूटी भाषा सुनने का कष्ट किया, इसके लिए सबसे क्षमा माँगता हूँ और सबको धन्यवाद देकर अपना वक्तव्य पूर्ण करता हूँ।

ॐॐॐ

१३. धर्मवीर डा. बा.शि.मुंजे

(छायाचित्र-अनावरण समारोह के लिए मा. अप्पाजी पाठक जी को भेजा हुआ संदेश २३ सितंबर १९५०)

नागपुर नगरपालिका ने नगर-भवन में डा. मुंजे के चित्र की प्रतिष्ठापना करने की बात सोचकर २४ सितंबर १९५० को उसका अनावरण समारोह निश्चित किया है। इस प्रसंग पर आपके प्रेमपूर्वक आग्रहपूर्ण निमंत्रण के अनुसार यदि मैं उपस्थित रह सकता तो वह मेरा परमभाग्य होता।

उनके व मेरे अति आत्मीयता के घरेलू संबंध तो थे ही, परंतु महत्त्व की बात यह थी की उनका सारा जीवन राष्ट्रसेवा में ही व्यतीत हुआ था। मानापमान व लोकापवाद कोई भी चिंता न करते हुए स्वतः को अपने मार्ग से राष्ट्रोत्थान के कार्य के लिए खुद को समर्पित करते हुए व राष्ट्र को क्षात्रवृत्रि का अति मर्मस्पर्शी संदेश देकर उस निमित्त 'भोंसला मिलिटरी स्कूल' व 'रायफल क्लब' आदि संस्था सारी शक्ति लगा कर राष्ट्रभक्ति निर्माण करने का एक महान आदर्श उन्होंने प्रस्थापित किया है। अपने इस प्रांत का और विशेषतः नागपुर का यह श्रेष्ठ पुरुष अखिल भारत के अग्रस्थान में शोभायमान हुआ, यह हमारी नगरी का सम्मान ही है।

ऐसे महान व्यक्ति का नगरपालिका नें कृतज्ञतापूर्ण आदरभाव से सम्मान करना तय किया, यह नगरपालिका के अधिकारीगण की योग्यता का द्योतक ही है। मैं उनका मनःपूर्वक अभिनंदन करता हूँ। भूचाल-पीड़ित असम के बंधुओं के सेवार्थ जाने का कार्यक्रम पूर्वनिर्धारित होने के कारण, मेरे लिए अतिप्रिय व महत्त्वपूर्ण ऐसे इस कार्यक्रम में

उपस्थित रहना मेरे भाग्य में ही नहीं, यह समझकर अनुपस्थिति के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

१४. भारतीय अस्मिता के पथ-प्रदर्शक महर्षि श्री अरविंद

(महर्षि अरविंद के देह-त्याग के अवसर पर ५ दिसंबर १९५० को हिंदुस्थान समाचार को दी गई एक विशेष भेंट में अर्पित श्रद्धांजलि)

यद्यपि महर्षि अरविंद भौतिक दृष्टि से संसार मे नहीं हैं, फिर भी मुझे आशा है कि उनकी आत्मा सदैव हमारे साथ रहकर हमें अनुचित एवं निकृष्ट विचारों से बचाती रहेगी। मुझे उनके देहत्याग का दुःख नहीं, क्योंकि वेदों के अनुसार– 'न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति' अर्थात् इस प्रकार के मनुष्यों की मृत्यु नहीं होती। महर्षि अरविंद ने अपना भौतिक शरीर त्याग दिया, प्रकट रूप से यह हमारे राष्ट्र की सबसे बड़ी क्षति है। परंतु उनके समान व्यक्तित्त्व कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। वे भारत की आध्यात्मिकता तथा चिर-शान्ति के जीवित प्रतीक हैं। इसके बाद भी वे एक जीवंत शक्ति रहेंगे और भारत को अपनी आत्मा के साक्षात्कार में पथप्रदर्शक होंगे।

आधुनिक समय में जब कि विश्व भौतिक सुखों की मृग-मरीचिका में उन्मत्त और कभी न समाप्त होनेवाले युद्धों से त्रस्त है और हमारे देशवासी 'अपनेपन को भूलने' और 'धर्मनिरपेक्षता' आदि के मोहक नारों में पशुभाव का अनुगमन करने के भय से विपन्न हैं, योगी अरविंद उस प्रकाश-स्तंभ की भाँति थे, जो भूमंडल की दैवी योजना के अनुसार वास्तविक शांति तथा राष्ट्रीय कर्त्तव्य की वास्तविक पूर्ति के मार्ग में सहायक थे।

यह राष्ट्रीय कर्त्तव्य जीवन को आध्यात्मिकता के रस में डुबोने और विश्व में शांति का महान साम्राज्य स्थापित करना ही है।

१५. मंत्रद्रष्टा श्री अरविंद

(१५ अगस्त १९७१ को श्री अरविंद के जन्मदिन पर देशवासियों से श्री गुरुजी का निवेदन)

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।। (गीता ६.४४)

(अर्थ– उस पूर्वाभ्यास के द्वारा वह अबाधित रूप से आगे बढ़ता है। योग के द्वारा जिज्ञासु भी वेद और उपनिषदों की सीमा को पार कर जाता है।)

श्री अरविंद का जीवन भगवान की इस आश्वासनपूर्ण, उत्साहवर्धक शक्ति का सटीक प्रमाण है। जीवन के अत्यंत प्रभावग्रहणशील अंश में ऐसे परकीय देश में बड़े होने पर भी, जहाँ मानव की समग्र सत्ता धनार्जन और अधिकार की भौतिक वासना में लीन हो जाती है, पुण्यभूमि भारत में लौटने पर स्वाधीनता आंदोलन की विभिन्न गतिविधियों में उन्होंने अपने को अपनी चरित्रगत तेजस्विता के साथ झोंक दिया और जब वे देशवासियों के अत्यंत श्रद्धास्पद तथा असंदिग्ध नेता होकर उनकी सनातन राष्ट्र चेतना के वास्तविक प्रतिनिधि के रूप में उदय हो रहे थे, तभी कर्म की अचिंत्य शक्ति से निर्देशित होकर योग के अभ्यास और निदिध्यासन की ओर आकृष्ट हुए और इसमें इस गहनता से डूबे कि बहुत शीघ्र ही वे केवल शब्द, अनुभव और बुद्धि के बोध की सीमा के बाहर चले गए।

इसके साथ हमारे राष्ट्र की समस्याओं के सम्यक् बोध और अपनी अंतःस्फूर्त भविष्यदृष्टि द्वारा उन्होंने अनुसरण करने के लिए, हमें जो निर्देश दिए हैं उनसे हमारा पुरातन धर्म, संस्कृति और राष्ट्र, अखिल विश्व की मानवता के दीप्तिमंत, पावन और सामर्थ्यसंपन्न नेता के रूप में निश्चय फिर उठ खड़ा होगा।

१५ अगस्त १९७१ को इस महान् मंत्रद्रष्टा की जन्म शताब्दी का समारोह प्रारंभ होता है। आइए, उनके कृतज्ञ देशवासी हम सभी उनकी शिक्षा को समझने का प्रयास और उनके दर्शन-चिंतन का सारे देश में प्रसार कर, इस उत्सव को उचित रूप से मनाएं और उनकी भविष्यदर्शी चेतना में विश्वास के साथ यह पवित्र संकल्प ग्रहण करें कि हम इसे साकार करने का घोर प्रयास करेंगे और जब तक लक्ष्य प्राप्त नहीं होता, विश्राम नहीं लेंगे।

१६. सनातन राष्ट्रजीवन के उद्गाता श्री अरविंद

(जन्म-शताब्दी समारोह के अंतर्गत इंदौर में
१८ अगस्त १९७२ को दिया गया भाषण)

यह वर्ष बहुत महत्त्व का है। आज से २५ वर्ष पूर्व पंद्रह अगस्त को अंग्रेज यहाँ से चले गए थे, और देश का जीवन सुखी, श्रेष्ठ तथा उन्नत बनाने का अवसर अपने नेताओं को प्राप्त हुआ था। इसीलिए हमारे राजकीय नेताओं ने इस वर्ष भारतीय स्वतंत्रता की रजत-जयंती मनाने का निर्णय लिया है।

जयंतियाँ मनाने का आजकल यहाँ भारी प्रचलन है। सर्वसाधारण जनता में उत्साह लाने के लिए जयंतियों का महत्त्व अवश्य है, परंतु उससे अधिक कदापि नहीं। राष्ट्र-कार्य तो अखंड चलता रहता है। अतः उसकी जयंतियाँ मनाने का समय हमारे पास रहना ही नहीं चाहिए। राष्ट्र-निर्माण के प्रयास में तो हमें संपूर्ण शक्ति के साथ निरंतर जुटे रहना चाहिए। यही हमारी प्राचीन धारणा है। परंतु सामान्य जन उत्सवप्रिय होते हैं। इस कारण ऐसे आयोजन कुछ सीमा तक उत्साह एवं चैतन्य प्रदान करनेवाले कहे जा सकते हैं।

अपनी भारतीय परंपरा में २५ वर्ष बाद आनेवाली जैसी कोई रजत-जयंती प्रथा है या नहीं, यह मैं नहीं जानता। किंतु विदेशों में यही चलता है और आजकल हम जहाँ अनेक विदेशी बातों का अनुकरण करते हैं, वहीं रजत-जयंतियाँ भी मनाते हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। श्री अरविंद जन्म-शताब्दी का आयोजन भी इसी प्रकार का है। ईश्वर की कृपा रही, तो इस आयोजन से अपने देश के लोगों को अपने दायित्व का बोध होगा और वे अपने देश तथा समाज की सब प्रकार की उन्नति करने हेतु कटिबद्ध होंगे, ऐसा मैं मानता हूँ।

१५ अगस्त का संयोग

इसके साथ ही, मेरी दृष्टि में एक तथ्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह है अंग्रेजी कालगणनानुसार पंद्रह अगस्त ही योगिराज अरविंद की जन्मतिथि होना। स्वयं योगिराज ने भी कहा है– 'यह संयोगमात्र नहीं कि अंग्रेजों से अपने देश का छुटकारा भी मेरे जन्मदिन पर ही हुआ। यह संयोग इस बात

का भी प्रमाण है कि जिस लक्ष्य को लेकर मेरा संपूर्ण जीवन समर्पित हुआ है, वह भगवान को मान्य है और भगवान उसे निश्चित ही आगे बढ़ाएँगे।' इसीलिए यह दिवस दोनों ही दृष्टियों से, अर्थात् व्यावहारिक दृष्टि से रजत-जयंती के रूप में तथा व्यावहारिक, आध्यात्मिक आदि सब मिलाकर बननेवाली सर्वंकष दृष्टि से योगिराज अरविंद की जन्म-शताब्दी के रूप में हमें प्राप्त हुआ है। समारोह करना तो सरल है, पर उतना ही पर्याप्त नहीं। क्योंकि जिसके स्मरण हेतु हम यह समारोह मना रहे हैं, उससे कुछ ग्रहण करना भी नितांत आवश्यक है।

पिताजी का अंग्रेज प्रेम

महर्षि अरविंद के जीवन के संबंध में सबसे पहले ध्यान में आनेवाली बात यह है कि उन दिनों अंग्रेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों में अंग्रेजियत के प्रति प्रबल प्रेम रहता था। उसी प्रकार का प्रबल प्रेम श्री अरविंद के पिता के मन में था। उन्होंने स्वयं विदेश से उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। वे एक सफल चिकित्सक थे। उनका दूर-दूर तक नाम था। यही नहीं, शासनकर्ता अंग्रेजों में भी उनकी बड़ी मान्यता थी। अतः उन्होंने सोचा कि अपने पुत्रों को इस देश की हवा तक नहीं लगनी चाहिए।

उस समय कुछ ऐसे विचित्र पुरुष थे, जो भारत के संबंध में गाली-गलौज तक करते थे। श्री अरविंद के पिताजी इस श्रेणी में नहीं आते थे। फिर भी वे यह तो मानते ही थे कि विदेश का जीवन ही प्रगतिशील है। इसलिए वहाँ के वायुमंडल का प्रभाव अपने पुत्रों पर पड़ना ही चाहिए। अतः श्री अरविंद को अत्यंत छोटी आयु में एक अंग्रेज द्वारा संचालित कॉन्वेन्ट-स्कूल में भरती करा दिया गया। फिर केवल सात वर्ष की आयु में ही उन्हें इंग्लैंड भेज दिया गया। ऐसी कोमल आयु में कोई भी बालक अपने चारों ओर के वातावरण से सभी प्रकार के संस्कार ग्रहण करता है। फिर जीवनभर उसे उन संस्कारों से छुटकारा नहीं मिल पाता।

इस प्रकार श्री अरविंद की शिक्षा-दीक्षा इंग्लैंड में हुई। वहाँ वे जिस घर में रहे, उसके स्वामी ईसाई मत को माननेवाले और अंतःकरण में शुद्ध भक्ति रखनेवाले एक अत्यंत सज्जन पुरुष थे। कोई किसी भी मत का मानने वाला क्यों न हो, यदि वह शुद्ध भक्ति रखता है, तो श्रेष्ठ ही है। वहाँ उन्होंने जो भी अध्ययन किया, वह यूरोपीय जीवन-पद्धति, सभ्यता एवं वाङ्मय का ही था। भारत के संबंध में तो उनके कानों पर केवल इतना ही

पड़ा था कि धरती पर भारत नाम का भी एक देश है। किंतु भारत की भी कोई एक विशिष्ट जीवन-परंपरा है, वहाँ का कोई इतिहास है, यह सब उन्हें मालूम नहीं था। इस प्रकार श्री अरविंद ने अपने जीवन के १४ वर्ष वहाँ बिताए।

भारत का आकर्षण

मेरा ऐसा ख्याल है कि मनुष्य का पूर्वजन्म भी होता होगा। असामान्य पुरुषों के बारे में पूर्वजन्म की बात छोड़ दें, तो भी उनकी स्वयंसिद्ध व्यक्तिमत्ता रहती है कि वे किसी भी प्रकार का जन्म अपने व्यक्तित्त्व के प्रकाश के लिए ग्रहण किया करते हैं। इसलिए इंग्लैंड में रहकर अंग्रेजों की ऊँची नौकरी का साधन याने आई.सी.एस. परीक्षा अच्छी तरह उत्तीर्ण करने पर भी, उसके एक हिस्से अश्वारोहण में वे गए ही नहीं, क्योंकि उनके मन में विचार था कि 'अंग्रेजों के दास क्यों बनें।' उन्हें इतिहास से यह विदित था कि अंग्रेजों की नौकरी करने का अर्थ है, भारत को दास बनाने वालों की नौकरी करना। अतः यह रास्ता अपने लिए उचित, लाभदायक अथवा शोभनीय नहीं हो सकता। इस प्रकार उनके अंतःकरण में भारत के प्रति जो स्वाभाविक प्रीति थी, वह सहज रूप से वहाँ प्रकट हुई। इसलिए वे हिंदुस्थान लौट आए।

वे भारत आनेवाले थे, संयोगवश उन्हीं दिनों वड़ोदरा के महाराजा इंग्लैण्ड में ही थे। वे बुद्धिमान व गुणवान लोगों का संग्रह करनेवाले और अपने राज्य का संचालन उत्तम रीति से करते हुए सबके सामने आदर्श प्रस्तुत करनेवाले थे। इसलिए इंग्लैंड में अध्ययन हेतु गए अच्छे-अच्छे भारतीयों को चुन-चुनकर, उन्हें वे अपने राज्य में नौकरी पर रखा करते थे। वहाँ उनकी श्री अरविंद से भेंट हुई और महाराज उनके व्यक्तितत्व से बहुत प्रभावित हुए। अतः उन्होंने श्री अरविंद को अपने यहाँ नौकरी करने का आग्रह किया।

वड़ोदरा के समान एक देशी राज्य में नौकरी करना, विशेष आपत्तिजनक नहीं था। यही सोचकर वे वड़ोदरा आ गए। वहाँ उनके जीवन के १३-१४ वर्ष (सन् १८९३ से १९०६ तक) बीते। यहाँ वे भिन्न-भिन्न प्रकार के काम करते रहे। कॉलेज में प्राध्यापक, फिर उप-प्राचार्य और कुछ समय तक प्राचार्य भी रहे थे। महाराजा के हृदय में, श्री अरविंद के प्रति बड़ा स्नेह उत्पन्न हो गया। अतः वे अपने कुछ विशेष पत्र श्री अरविंद से ही लिखवाया करते थे।

अंधेरा छँट गया

भारत आते ही उन्हें एक अवर्णनीय अनुभव हुआ। उन्हें प्रतीत हुआ कि एक महान ज्योति उनके हृदय में प्रवेश कर गई। भारत का एक दिव्य-भव्य आध्यात्मिक रूप, उनकी आँखों के सामने साकार हो उठा। मातृभूमि का वह भव्य रूप, उनके अंदर प्रवेश कर गया। परिणामस्वरूप उन्हें जीवन में एक विशेष शांति का अनुभव होने लगा। विदेश-निवास में वे अनुभव करते थे कि उनके हृदय के अंदर अंधेरा ही अंधेरा छाया हुआ है। किंतु इस नए अनुभव से वह अंधेरा क्षणमात्र में समाप्त हो गया। प्रकाश, ज्ञान, शांति एवं पावित्र्य उद्भासित हो गए।

भारत की महिमा ऐसी ही है। इसीलिए अपने लोगों ने कहा है कि भारत के कण-कण में पावित्र्य भरा हुआ है। वही अनुभूति श्री अरविंद को हुई। अतः उस अनुभव को सुदृढ़ बनाने के लिए उन्होंने सोचा कि जिस भूमि पर पग रखते ही मेरे मन में पवित्र भावनाओं का अनुभव हुआ, उसकी परंपरा को समझना ही चाहिए। इस भूमि पर जन्म लेनेवाले एक पुत्र के नाते, अपनी भू-माता की श्रेष्ठता का संपूर्ण ज्ञान होना ही चाहिए। अतः अपने इसी अनुभव के आधार पर उन्होंने अपना विकास प्रारंभ कर दिया।

उन्होंने सर्वप्रथम भारतीय भाषाओं का अध्ययन शुरू किया। इस समय तक वे अपनी मातृभाषा बंगला तक नहीं जानते थे। अतः अध्ययन का प्रारंभ हुआ बंगला से। फिर मराठी, गुजराती और संस्कृत का भी विशेष रूप से अध्ययन किया। क्योंकि संस्कृत में ही अपने यहाँ का अपार ज्ञान-भंडार निहित है। अपनी जो कुछ आध्यात्मिक धरोहर है, वह वेदों से चलती है। ज्ञान का प्रवाह भी वेदों से ही प्रारंभ होता है। इसलिए उस मूल स्रोत का सर्वांगीण अध्ययन प्रारंभ किया। यह सब होते हुए भी एक बात पक्की थी कि उनका जीवन नौकरी, अध्ययन-अध्यापन करने और विद्वान बनने के लिए नहीं था। उनका जीवन तो और ही किसी बात के लिए था।

एक समय ऐसा अवश्य आता है, जब मनुष्य को उसका जन्म जिस बात के लिए हुआ हो, उसका परिचय करा देने वाला, उसका स्मरण करा देनेवाला या जितना उसके लिए आवश्यक है उतना ही मार्गदर्शन करानेवाला कोई न कोई व्यक्ति मिल ही जाता है। श्री अरविंद के मन में विचार उठा कि संपूर्ण जीवन की साक्षात् मूर्ति अपने सामने साकार होनी चाहिए। उसके लिए अपने मन एवं बुद्धि का सामर्थ्य बढ़ाना आवश्यक है।

अपने यहाँ कहा गया है कि यह सामर्थ्य योग के अभ्यास द्वारा प्राप्त होता है। किंतु कुछ लोग केवल कुछ आसन कर लेने, प्राणायाम आदि कर लेने को ही 'योग' मानते हैं। वस्तुतः वह योग नहीं, योग का बाह्यरूप है। अतः इसे अधिक महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं। आसन तो केवल शरीर-स्वास्थ्य के लिए है। प्रत्यक्ष योग से उनका कोई संबंध है ऐसा मैं नहीं मानता। यदि ऐसा होता, तब पतंजलि ने आसनों को योग बताया होता। उन्होंने तो केवल इतना ही बताया है कि जिस स्थिति में आप स्थिर रह सको, आपको दुःख न हो, शारीरिक कष्ट न हो, वही आसन श्रेष्ठ है। इतनी सरल व्याख्या करते हुए उन्होंने इस विषय को छोड़ दिया। फिर भी आजकल योग के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाए जाते हैं। भिन्न-भिन्न शिक्षा-प्रणालियाँ प्रचलित हुई हैं। वस्तुतः योग में मुख्य बात है मन की समूची वृत्तियों को शान्त करना, विचारों पर अपना पूर्ण अधिकार कर लेना और अंतःकरण को पूर्णतः शुद्ध बनाना।

गुरु-शिष्य : एक व्यवस्था मात्र

इष्ट संस्कारों को ग्रहण करने की क्षमता अपने अंदर निर्माण करने के लिए कोई न कोई शिक्षक प्राप्त होना चाहिए। महापुरुषों को ऐसा कोई न कोई शिक्षक मिल ही जाता है। श्री लेले नामक एक सज्जन, जिन्होंने योग में काफी अध्ययन किया था, उन्हें मिल गए। उनसे मार्गदर्शन प्राप्त कर, वे थोड़े ही समय में परिपूर्ण हो गए। महापुरुषों का ऐसा ही हुआ करता है। मार्गदर्शन प्राप्त करने वाला शिष्य गुरु से आगे बढ़ जाता है। लोग कहते हैं, श्री लेले के बारे में भी ऐसा ही हुआ। महाप्रतिभावान एवं पूर्वजन्म के अनेक सत्-संस्कारों से युक्त ये शिष्य उनसे आगे बढ़ गए।

अपने शास्त्र में कहा गया है, कि गुरु का शिष्य को उपदेश देना एक व्यवस्था का पालन मात्र है। क्योंकि ज्ञान की प्राप्ति तो शिष्य की अपनी ही प्रज्ञा के आधार पर होती है। एक स्थान पर वशिष्ठजी राम से कहते हैं—

उपदेशक्रमो राम व्यवस्थामात्रपालनम्।
ज्ञप्तेस्तु कारणं तत्र शिष्यप्रज्ञैव केवला।।

अपने गुरु के मार्गदर्शन से आगे बढ़ने पर श्री अरविंद को अनेक प्रकार के अनुभव आने लगे।

फिर भी वे अपने चारों ओर की परिस्थिति से अछूते नहीं रहे। उस समय स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए राजनीतिक आंदोलन चल रहे थे। कांग्रेस विभक्त हो गई थी। सूरत में उसके गरम और नरम ऐसे दो दल बन गए थे। इधर बंग-भंग का समय भी था। 'कर्जन' के बारे में लोग कहते हैं, कि वह बड़ा दुष्ट था, पर मैं तो उसके प्रति कृतज्ञ हूँ। क्योंकि बंग-भंग जैसी विचित्र बात करके उसने सोए हुए देश को जागृत किया और समग्र देश की प्रखर चेतना को प्रकट होने दिया। उस प्रखर चेतना को निर्देशित करने का अवसर श्री अरविंद को प्राप्त हुआ।

देश के अंदर की इस परिस्थिति से श्री अरविंद का अछूता रहना असंभव ही था। उनके अंतःकरण में यह विचार दृढ़मूल था कि विदेशियों को यहाँ राज्य करने का कोई अधिकार नहीं है। अपने देश की एक विशिष्ट परंपरा, समुज्ज्वल भूतकाल तथा संस्कार सारे संसार के लिए एक बड़ी देन है। अतः इस देश को उसके स्वतंत्र रूप में ही विकसित होना चाहिए। सभी क्षेत्रों में अपने देश को स्वतंत्रता प्राप्त करा देना, आध्यात्मिक दृष्टि से जगत् के भी कल्याण का एक भाग है। अंतःकरण में ऐसी भावना होने के कारण उन्होंने लेखों, भाषणों आदि के द्वारा लोगों को जागृत करने के कार्यों में प्रमुखता से भाग लिया। बंग-भंग के दिनों में होनेवाले कांग्रेस के सूरत अधिवेशन में वे उपस्थित थे। बंग-भंग की संभावना से उन्होंने सोचा कि अपना कार्य-क्षेत्र बंगाल में ले जाना चाहिए। अतः वहाँ पहुँचकर उन्होंने अपनी लेखनी और वाणी द्वारा लोगों में संगठित जीवन का सामर्थ्य उत्पन्न करने का प्रयास प्रारंभ किया। उनकी वाणी की प्रखरता एवं तेजस्विता अपने ढंग की अनूठी ही थी।

श्री अरविंद की राजनीति में विदेशी राज्य का विरोध तो जरूर था, परंतु उनके विचारों की नींव ऐहिक मात्र नहीं थी, अपितु आध्यात्मिक भी थी। वे भारत को स्थूल दृष्टि से नहीं देखते थे। वे कहते थे 'यह देश जीवित है, चेतनामय है। यह कोई कंकर-पत्थर नहीं है, यह तो प्रत्यक्ष जगज्जननी का स्वरूप है।'

श्री अरविंद जो कहते थे, वह कुछ नया नहीं, बहुत प्राचीन है। परंतु हम लोग उसे भूल गए थे। हम लोग अनादिकाल से प्रतिदिन अपनी भूमि को प्रणाम कर स्पर्श कर 'विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं' कहकर यही घोषित

करते आए थे, कि यह जगज्जननी है। किंतु आज ये शब्दमात्र रह गए हैं। उनकी अनुभूति नहीं रही। श्री अरविंद के अंतःकरण में यह अनुभूति थी। इसीलिए उनका सारा राजनीतिक कार्य आध्यात्मिक स्तर का था। उसे समझने में उनके साथियों को बड़ी कठिनाई होती थी, यहाँ तक कि उनके भाई को भी। वे बड़े क्रांतिकारी थे, उनसे मेरा बहुत पुराना परिचय था।

राष्ट्रभक्ति : प्रतिक्रियात्मक नहीं

श्री अरविंद की एक परिभाषा और एक विचार था। वे कहते थे– 'भौतिक या स्थूल दृष्टि से स्वातंत्र्य आदि बोलने में कोई अर्थ नहीं रहेगा। भारत का जीवन-उद्देश्य केवल भौतिक नहीं है, वह बहुत ऊँचे स्तर का है और उसी की पूर्ति के लिए हम जीवित हैं। इसलिए उसी प्रकार से अपने राष्ट्र को विकसित करने की आवश्यकता है। समय की प्रतिक्रिया के कारण उत्पन्न राष्ट्रभक्ति पर उनका भरोसा नहीं था। वे सोचते थे कि प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुए समस्त प्रयत्न विफल होंगे।

इसलिए जो आंदोलन करना हो, वह आध्यात्मिकता की ठोस नींव पर ही करना चाहिए। इसमें प्रतिक्रिया या किसी के प्रति विद्वेष अथवा शत्रुत्व का भाव न हो। हम जगत् को कुछ देने के लिए अवतीर्ण हुए हैं। अपनी दृष्टि से जगत् की सेवा करने के लिए हम हैं। अखिल मानव जाति को सुख-समृद्धि से परिपूर्ण करने के लिए हम हैं। इस प्रकार के विचारों को लेकर अपने राष्ट्रजीवन का स्वरूप पुनः सबके सामने रखना चाहिए। इसीलिए श्री अरविंद ने अपने सभी विचारों को आध्यात्मिक नींव पर अधिष्ठित किया था।

बंगाल में अंग्रेजों के विरुद्ध जो विस्फोट हुआ, उसमें श्री अरविंद के भाई बारींद्र भी थे। श्री अरविंद थे कि नहीं, इसका प्रमाण उपलब्ध नहीं। पर लोग कहते हैं कि वे थे। मैं ऐसा मानता हूँ कि अपनी आंतरिक चेतना द्वारा सबको प्रेरणा देते हुए वे अवश्यमेव थे। उस विस्फोट को देख ब्रिटिश सरकार ने अनेक लोगों पर अभियोग चलाने का प्रयास किया। बारींद्र के साथ-साथ बड़े भाई श्री अरविंद भी पकड़े गए।

सर्वत्र भगवान का साक्षात्कार

जेल जाने के पश्चात् उन्हें एकांत में अपने जीवन का निर्णय करने हेतु पर्याप्त समय मिला। श्री लेले के पास जो योग सीखा था, उसे आगे बढ़ाने की इच्छा उनके मन में जागी और तदनुसार वे प्रयत्नशील हुए।

श्रेष्ठ पुरुष श्रेष्ठ लक्ष्य को सामने रखकर जब किसी बात के लिए प्रयत्नशील हुआ करते हैं, तब उन्हें सभी प्रकार की सहायता प्राप्त हो जाया करती है। जिस प्रकार प्रारंभ में श्री लेले मिले थे, वैसे ही कारागार में देहातीत स्वामी विवेकानंद। उन्होंने स्वयं कहा है– 'जेल में मुझे स्वामी विवेकानंद के दर्शन हुए और उनकी वाणी सुनाई पड़ती थी। मैं जो अभ्यास करता उसमें यदि कोई त्रुटि रह जाती, तो वे उसे ठीक कर दिया करते। इस प्रकार जब तक मेरा अभ्यास पूर्ण नहीं हुआ, तब तक उनकी वाणी निरंतर सुनाई देती रही।'

इस प्रकार एक बड़ा जगदगुरु, उन्हें गुरु के रूप में देहातीत अवस्था में प्राप्त हुआ। उनके मार्गदर्शन में योग की जटिल समस्याएँ हल करते समय उन्हें एक साक्षात्कार हुआ कि सब जगह भगवान है। उन्हें जेल के दरवाजे, जेल की दीवारें, वहाँ के कर्मचारी, सबमें भगवान का दर्शन हुआ। यह एक बहुत ही श्रेष्ठ स्थिति है। अतः जब उन्होंने उसकी अनुभूति की, तब उसके लिए अपना जीवन ही समर्पित कर दिया। वे कहते– 'भगवान का यंत्र बनकर, उनकी इच्छा पर सब-कुछ छोड़कर, मनुष्य को प्रयत्नशील रहना चाहिए। अपना विचार करने की उसे कोई आवश्यकता नहीं। क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, यह बताने में वही समर्थ है। अतः वह जैसे चलाए, वैसे चलने में ही आनंद है। किंतु स्वयं को भगवान के हाथ का उपकरण बनाने के लिए अधिकाधिक योग्यता का अर्जन करना आवश्यक है। सब प्रकार के शुद्धत्व से परिपूर्ण भगवान का साक्षात्कार अपने अंदर हो सकने के लिए अंतर्बाह्य शुचिता से स्वयं को भरना तथा 'मैं भगवान के हाथ का यंत्र' मात्र हूँ, इस बात का भूलकर भी कभी विस्मरण न हो, ऐसी स्थिति प्राप्त करना आवश्यक है। इसके लिए मनुष्य को सतत कार्यरत रहना चाहिए।'

कोलकाता से बिलकुल सटा हुआ गंगा के पार चंद्रनगर है। वहाँ पर फ्रांस का शासन था, अंग्रेजों का अधिकार नहीं चलता था। अतः श्री अरविंद को भगवत-संकेत मिला कि चंद्रनगर चले जाओ। फिर वहाँ से दूसरा संकेत मिला कि फ्रांस के दूसरे प्रमुख उपनिवेश पांडिचेरी चले जाओ। अतः वे पांडिचेरी गए। कैसे गए, इसे कोई नहीं जानता। उन्हें कौन पांडिचेरी पहुँचा आया, यह भी किसी को ज्ञात नहीं। परंतु इतना पक्का है कि वे वहाँ पहुँचे। किंवदंतियाँ मैंने भी सुनी हैं, पर उनका उल्लेख उचित

नहीं। वहाँ पहुँचने के बाद क्या हुआ, यह बताना उससे भी कठिन है।

उनका साधारण जीवन-क्रम बताने में तो कोई कठिनाई नहीं है। वहाँ वे नौकरी करते थे। तभी उनका विवाह भी हुआ। किंतु कुछ दिनों बाद अर्थात सन् १९१८ में भयंकर इन्फ्लुएन्जा के कारण उनकी धर्मपत्नी चल बसी। वे एकांत में अपना जीवन चलाते रहे। ये तो सामान्य बातें हैं। इन्हें कोई भी समझ सकता है।

अंतिम सत्य का अनुभव

मुख्य बात हमें समझने की है कि उन्होंने अपने योग के अध्ययन में, उसकी अनुभूति में, अधिकाधिक ऊँचाई तक, गहराई तक पहुँचकर अनुभव किया, कि सामान्य रीति से मनुष्य अन्नमय, प्राणमय एवं मनोमय– इन तीन कोषों तक सीमित रहता है। अतः उस सीमा को लाँघकर, उसे विज्ञानमय कोष की सीमा पर पहुँचना चाहिए। अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि को छोड़कर और उनसे आगे बढ़कर, सब जगह शुद्ध चैतन्य देखते रहने की बुद्धि की जो एक विशेष शुद्धता है, उसे प्राप्त करना चाहिए। पश्चात् उसका भी अपने चारों ओर जो घेरा पड़ा रहता है उसे तोड़कर, अंतिम आनंदमय कोष में हमें पहुँच जाना चाहिए। इस पाँचवें आनंदमय कोष में आनंद ही आनंद है। फिर भी कोई योगी वहाँ आनंदपूर्वक रहना पसंद नहीं करता। श्री अरविंद को भी वह पसंद नहीं था। इसलिए उन्होंने कहा कि उसे भी मनुष्य तोड़ देता है। इसके बाद की जो स्थिति आती है, उसका वर्णन शब्द नहीं कर सकते। वह शब्दों से परे की बात है। वह केवल बोधगम्य और अनुभवगम्य ही है। मन-बुद्धि के परे जाकर जो अनुभव आता है, उसी अनुभव का श्री अरविंद को बोध हुआ था।

जगदोद्धार का संकल्प

उस स्थिति में पहुँचकर क्या मनुष्य को कृतकृत्य हो जाना चाहिए? मेरा बेड़ा पार हो गया, अब कुछ करना-धरना नहीं है, ऐसा कहकर क्या सब प्रकार से निवृत्त हो जाना चाहिए?

महर्षि अरविंद ने कहा– 'नहीं। एक व्यक्ति का बेड़ा पार हो गया, उससे कोई लाभ नहीं। असंख्य मनुष्य जो यहाँ जीवन के बंधनों में जकड़े हुए हैं, जिनको अपने परम आनंदमय जीवन का पता नहीं, किसी को थोड़ा पता लग गया हो, तो उसे प्राप्त करने के मार्ग का पता नहीं और यदि मार्ग

भी किसीने बता दिया, तो कोई प्रत्यक्ष हाथ पकड़कर ले जाए ऐसी स्थिति नहीं, ऐसे असंख्य लोगों को दुःखद स्थिति में छोड़कर चले जाने में कोई बड़प्पन नहीं।

श्री अरविंद ने कहा, वहाँ से लौटना चाहिए। वहाँ का जो कुछ अवर्णनीय है, उसका भी लौटते समय अपने साथ आगमन होगा। उसके द्वारा संपूर्ण ऐहिक सृष्टि को आध्यात्मिक बना देना चाहिए। ऐसा अभिनव विचार श्री अरविंद ने रखा। यह बात असंभव प्रतीत हो सकती है। किंतु अपने प्राचीन लोगों के कथनानुसार, कोई-कोई ऐसा कर सकता है।

श्रीरामकृष्ण परमहंस इस बात को एक उदाहरण द्वारा समझाया करते थे। परमतत्त्व प्राप्ति क्या होगी? भगवान कैसे होंगे? आदि के बारे में मन में जागृत कौतूहल का वर्णन करते हुए वे कहते थे– 'एक बड़ी दीवार है। उसके इस ओर सामान्य लोग बच्चों जैसे खेलकूद करते हैं। बच्चों के उस खेल को देखकर कुछ लोगों के मन में विचार आता है कि इसमें कोई अर्थ नहीं है। दीवार के पार क्या है, यह देखना चाहिए। अतः वे उस पर चढ़ने का प्रयत्न करते हैं, मगर चढ़ नहीं पाते। दीवार के उस पार देखने के लिए एक छेद है। मगर वह इतनी ऊँचाई पर है कि उसमें से देख नहीं सकते। इसलिए कुछ लोग प्रयत्न करना छोड़ देते हैं। कुछ लोग छलाँग लगाते हैं। छेद से देखते हैं। पर अधिक क्षमता न होने के कारण गिर जाते हैं। कोई विरला ही ऐसा निकलता है, जो छलाँग लगाकर छेद के उस पार चला जाता है। पर वापस नहीं आता। किंतु कुछ ऐसे भी होते हैं जो उस पार जाने के बाद स्वेच्छा से उसी छेद से वापस आकर वहाँ के परम सौख्य के प्रति यहाँ के लोगों के हृदयों में आकर्षण निर्माण करते हैं और उसकी प्राप्ति-हेतु उन्हें तैयार करने का प्रयत्न करते हैं। युगों-युगों में अल्प संख्या में जो असामान्य पुरुष उत्पन्न होते हैं, उन्हीं के लिए वापस आना संभव रहता है। परंतु उनके आने से, हम लोगों को बड़ा लाभ होता है।'

जगत् में रहनेवाला मनुष्य अपना घर-बार चलाता है, काम-धंधा करता है, कोई व्यापार करता है, तो कोई अन्य दूसरा काम। अपने यहाँ की विचार-परंपरा में सब प्रकार के त्याग की बात आती है। परंतु त्याग का मतलब कर्म का त्याग कदापि नहीं होता। कर्म का त्याग तो कोई कर भी नहीं सकता। दो बातों के त्याग की बात अपने यहाँ कही गई है।

पहला 'मै' की भावना का त्याग और दूसरा संबंधित काम से स्वयं को कुछ लाभ होने की प्रवृत्ति का त्याग होना चाहिए। संपत्ति, कीर्ति और

सुख मिलना चाहिए, दूसरों के मुँह से अपनी जयजयकार की ध्वनि सुनाई देनी चाहिए, 'मैं' की भावना का अर्थ है अहंकार और 'कुछ मेरा है' ऐसा मानना है ममता की भावना। अहंकार और ममता एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। इसलिए उनको एक ही शब्द 'अहंकार' में हम लें। उस स्थिति में दो बातों के त्याग का अर्थ होता है अहंकार और कर्मफल की आशा का त्याग। इन दोनों को छोड़ने की बात हमारे यहाँ कही गई है।

अहंकार के चले जाने के पश्चात् मनुष्य को भगवान के हाथ के एक उपकरण के नाते कार्य करना चाहिए। कर्मफल की तनिक भी इच्छा नहीं रखनी चाहिए। इस प्रकार की विशुद्ध भावना से मनुष्य को अपना जीवन-यापन करने की शिक्षा देते हुए, सभी प्रकार के कर्म करते-करते कर्म को ही भगवान की पूजा मानते हुए, अपने चारों ओर भगवान का साक्षात्कार करने की, याने अपने अंतःकरण की सामान्य मनोभूमिका से ऊपर उठकर भगवान की भूमिका में प्रवेश करने की क्षमता वह महापुरुष हमें दे सकता है। इसीलिए उसका आना, हमारे लिए बड़े महत्त्व का रहता है।

महर्षि श्री अरविंद की समस्त साधना दूसरों के लिए ही थी। सभी कोषों को भेदकर वे शब्दातीत अवस्था में पहुँचे थे और वहाँ से संपूर्ण चेतनासहित पुनः इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे। वे अपने दीर्घ जीवन में जगत् के समस्त कल्याण-कार्य करते रहे।

अधिमानस और अतिमानस की अवस्था

मनुष्यमात्र का सामान्य जीवन अन्नमय और मनोमय स्तर का ही होता है। इस स्तर से मन को इस विशुद्ध विज्ञान की भूमिका में (जिसे उन्होंने 'अतिमानस' या 'भागवत् जीवन' कहा) ऊपर उठाना और इस प्रकार के मनुष्य के उन्नत जीवन द्वारा संपूर्ण जगत् को ही भगवती-शक्ति से भर देना, जड़-चेतन सबमें भगवत्-साक्षात्कार सबको होते रहने की स्थिति निर्माण कर देना, उन्होंने अपनी साधना के द्वारा प्राप्त किया— ऐसा उन्होंने लिख रखा है।

यह सब बड़ा कठिन है। मैं तो अभी तक समझ नहीं सका हूँ। मानवीय मनोभूमिका में जकड़े हुए हम लोग, 'अतिमानस' की बात सुनते ही हक्का-बक्का हो जाते हैं। फिर बीच की एक 'अधिमानस' अवस्था सुनकर और भी संभ्रम उत्पन्न होता है। फिर उसको भी लाँघकर भगवती

सत्ता और उसका अवतरण आदि कहते ही मन के अंदर प्रेम उत्पन्न हो जाता है। भगवती सत्ता का इस धरती पर अवतरण होकर जड़-चेतन सब भगवान बन जाए, तब और क्या चाहिए? परंतु यह सब बोलने के पश्चात् तथा उसके अत्यंत लोभनीय, बड़ा प्रिय तथा अवश्यमेव करणीय प्रतीत होने के बाद भी, अपनी मर्यादित बुद्धि उसे समझ नहीं पाती। बड़ी कठिनाई होती है।

यदि हमें श्री अरविंद की जन्म-शताब्दी के नाते कुछ करना हो, तो समारोह के बाद हमारे मन में यह निश्चय रहे कि हम भी उसका अनुभव करने की दिशा में कुछ प्रयत्न करें। पथ-प्रदर्शक अवश्य मिलेगा। श्री अरविंद को श्री लेले मिले, विवेकानंद स्वामी ने प्रत्यक्ष आकर मार्गदर्शन किया और बाद में उन्हें चारों ओर भगवान श्रीकृष्ण दिखाई दिए। भगवान ने उनसे कहा– 'चलो, मैं तुमको ले चलता हूँ।' उनको भगवती माता एवं साक्षात् आदिशक्ति का भी दर्शन हुआ था।

अतः यदि हम उनका आदर्श सम्मुख रखकर अपने जगत् के कर्तव्य करते हुए भी इधर-उधर भटकनेवाली अपनी वृत्तियों को उसी एक स्थान पर केंद्रीभूत करने का प्रयत्न करें, तो कुछ सीमा तक ही क्यों न हो, हम लोग भी इस जीवन में आगे बढ़ सकेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं।

ये उत्सवादि मनाना, अपने साधारण जीवन की प्रणाली में लोगों को प्रिय लगता है, परंतु उसका दूसरा और महत्त्वपूर्ण हिस्सा है 'काम करो'।

अभी-अभी शास्त्रीजी ने मेरा परिचय कराते समय मेरे गुरु महाराज का भी उल्लेख किया था। मेरे गुरु महाराज ने भी मुझसे कहा था– 'चुपचाप मत बैठो। केवल ग्रंथों का अध्ययन करने से क्या होगा? दीमक के समान किताबी कीड़े मत बनो। यह जगत् ही कर्मभूमि है। अतः हम यहाँ पर उत्तम रीति से अपने कर्म करें।'

विज्ञान का आध्यात्मिक अधिष्ठान

प्रश्न उठता है– 'हम कौनसा कार्य करें?' जीवन में अनेक प्रकार के काम तो हम करते ही रहते हैं। परंतु इस विषय में महर्षि अरविंद ने कहा– 'प्राचीन काल से चला आ रहा यह अपना सनातन धर्म ही अपना राष्ट्र-जीवन है। इस राष्ट्र को अपने संपूर्ण स्वत्व के साथ खड़ा कर जगत् में उसे सर्वश्रेष्ठ बनाना है।' श्री अरविंद यह बात स्पष्ट रूप से बोलते थे। उन्होंने उसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं रखा था। उनकी दृष्टि में

‘पूर्व’ का अर्थ संपूर्ण एशिया था। इसलिए वे कहते थे कि एशिया खंड को पौर्वात्य जगत् का अपना संपूर्ण स्वत्व लेकर तथा अपनी आध्यात्मिकता को व्यावहारिक जीवन में ढालकर दुनिया में सर्वश्रेष्ठ बनते हुए जगद्गुरु के नाते खड़ा होना चाहिए। यह करने के लिए, पाश्चात्य जगत् की अनुकरणप्रियता से काम नहीं चलेगा। विचार-प्रणाली अपनी रखो।

उन्होंने साग्रह कहा– ‘आधुनिक विज्ञान वगैरह सब लें, परंतु उसे आध्यात्मिक अधिष्ठान पर विकसित करें।’ वे कहते थे– ‘पाश्चात्यों ने विज्ञान में बड़ा चमत्कार दिखाया है। वे ग्रहों-उपग्रहों तक पहुँच गए हैं, पर इससे क्या हुआ? वे अभी भी अपने स्वार्थ की अनीति में पड़े हैं। एक बार जिसने अपने अंतःकरण में भगवान का साक्षात्कार कर लिया हो, वह जानता है कि विज्ञान के ये चमत्कार बच्चों के खेल मात्र हैं। इसलिए हम केवल उनकी नकलबाजी से कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते।’

उन्होंने कहा– ‘रोम के लोगों ने इतना बड़ा साम्राज्य अपना चोगा पहनकर ही प्रस्थापित किया। ग्रीक लोगों ने अपनी विशिष्टता के साथ बड़े-बड़े पराक्रम किए। ऐहिक दृष्टि से और तत्त्वज्ञान की दृष्टि से साम्राज्य प्रस्थापित किया। हमें अपनी उन्नति के लिए परकीयों का अनुकरण करने की कोई आवश्यकता नहीं। अनुकरण से भारत की आत्मा दब जाएगी। भारत का सच्चा विकास अवरुद्ध हो जाएगा। उसकी जो जगद्हिताय अभिव्यक्ति है, वह रुक जाएगी। परिणाम-स्वरूप हम अपने देश का भला करने के स्थान पर बुरा करेंगे।

स्वकर्म से ईश्वर पूजा

इस प्रकार श्री अरविंद ने हमारे सामने अपने समाज, राष्ट्र व धर्म को ऊँचा करने का सत्कर्म प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि इस राष्ट्र को जगत् का पथ-प्रदर्शन करने योग्य बनाना है। ऐहिक दृष्टि से भी अपने राष्ट्र को समृद्ध करना है। समृद्धि प्राप्त करते समय पाश्चात्य देशों में केवल भोग का ही विचार करने के कारण जो दुष्प्रवृत्तियाँ आ गई हैं, उनसे सर्वथा बचते हुए अपने शुद्ध-सात्विक जीवन का ही विकास करने के लिए हमें अपनी पूरी शक्ति लगानी चाहिए। यह सत्कर्म भगवान की पूजा है, ऐसा शुद्ध भाव अंतःकरण में नित्य जागृत रहे।

भगवद्गीता को हम नित्य देखते हैं, पढ़ते हैं, उसे सुना भी होगा। उसमें कहा गया है– ‘स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।’ (अध्याय

१८:४६) अर्थात् मानव अपने उत्कृष्ट कर्म से भगवान की पूजा करता है। केवल पत्र-पुष्प से की गई पूजा, सच्ची पूजा नहीं है। वह तो सच्ची पूजा का औपचारिक बाह्य रूप मात्र है। सच्ची पूजा 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' के द्वारा ही हो सकती है। अपने योग्य कर्म को, इस भासना से कि मेरा कुछ भी नहीं, सब भगवान का है, फलाशारहित होकर शुद्ध रीति से करते हुए हम लोग सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। यही मार्ग श्री अरविंद ने हम लोगों के सामने रखा है। अपनी गहन तपस्या के बीच उन्होंने हमारी सामान्य बुद्धि के स्तर की जो बातें कहीं हैं, उनको भी समझने का प्रयत्न करते हुए हम लोग अपने ऐहिक जीवन के कर्तव्यों को पूर्ण करने हेतु उनसे कुछ प्रेरणा लेकर आगे बढ़ें। शुचिता से ओतप्रोत अपने इस राष्ट्र की सनातन धर्म-परंपरा के लिए समर्पित होकर उसके भव्य भवितव्य को प्रकट करने हेतु अपने जीवन का समर्पण कर, अपने जीवन को पूर्ण सामर्थ्य के साथ इष्ट मोड़ देने हेतु हम लोग आगे बढ़ें– ऐसा मेरा मत है।

श्री माँ का दर्शन

मैं नहीं कह सकता कि मैं कहाँ तक ठीक हूँ, जो कुछ पढ़ा था, उसको भी शायद ३५ वर्ष से अधिक की अवधि हुई होगी। इसलिए उन पढ़ी हुई बातों का मुझे अत्यल्प स्मरण है। परंतु कुछ ही दिनों पूर्व मैं पांडिचेरी गया था। वहाँ मैंने श्री माँ का दर्शन किया। मैं बोला कुछ नहीं। वे भी कुछ नहीं बोलीं। बहुत ही शांति और गंभीरता से हम दोनों एक-दूसरे की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखते रहे।

कुछ देर इसी प्रकार बीत जाने पर मैंने अनुभव किया कि उन्होंने मेरे लिए मूक वाणी में जो आदेश दिया है, वह कर्म का ही आदेश है। स्वार्थ, इहलोक की स्पर्धा, ईर्ष्या आदि में फँसकर कार्य करने का नहीं, अपितु विशुद्ध कर्म करने हेतु आगे बढ़ने का ही उनका है। मैं तो यही समझा हूँ और वही आप सबके सामने रखने का मैंने विनम्र प्रयास किया है। श्री अरविंद जैसे महापुरुष युगों-युगों में एकाध बार ही इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ करते हैं। ऐसे महान योगी के श्रीचरणों में मैं परम श्रद्धापूर्वक प्रणाम करता हूँ और जो कुछ उल्टा-सीधा बोला हो, उसके लिए क्षमा चाहता हूँ।

१७. भारत माता के महान पुत्र वल्लभभाई पटेल

(१५ दिसंबर १९५० को सरदार वल्लभभाई पटेल के निधन पर श्री गुरुजी के शोकोद्‌गार)

सरदार वल्लभभाई पटेल के देहावसान का शोकजनक समाचार मेरे लिए हृदयविदारक है। आजकल हमारा देश बहुत नाजुक समय से गुजर रहा है और संकटों की इस घड़ी में पार लगाने के लिए सब उनसे ही आशा लगाए हुए थे। विपत्तियाँ कभी अकेली नहीं आतीं। हमारा देश एक के बाद एक महानतम विभूतियों को खो रहा है– वह भी ऐसे समय जब उनकी आवश्यकता सबसे अधिक है। आज सरदार का बिछोह देश के लिए सबसे बड़ा धक्का है।

उनका संपूर्ण जीवन आसुरी शक्तियों से जूझने और स्वतंत्र एवं सुसंगठित राष्ट्रजीवन निर्मित करने के लिए अथक प्रयास करते हुए बीता। देश के स्वातंत्र्य-युद्ध में उनका प्रमुख भाग रहा है। अत्यंत कष्टपूर्वक अर्जित स्वाधीनता के फल का देश उपभोग करे, इसके लिए आज हमको एक ऐसे शक्तिशाली व्यक्तित्व की अत्यधिक आवश्यकता है, जो देश में कार्यशील विभिन्न एवं विरोधी तत्त्वों को समन्वित और सूत्रबद्ध कर सके। इस आवश्यकता की पूर्ति करनेवाले कुशल नीतिज्ञ और दृढ़ संकल्पवाले लौह पुरुष को हम दुर्दैव से इसी समय गँवा बैठे हैं।

महती आवश्यकता के समय बिदा ले लेना बड़े सौभाग्य की बात भले ही हो, किंतु शेष लोगों के लिए तो यह नियति का क्रूर अभिशाप है। फिर भी जिसके लिए वे जिए और मरे, जिनसे उनको अत्यधिक प्रेम था, उनके लिए हमारा यह कर्तव्य है कि देश को शक्तिशाली बनाने एवं उसे विदेशी आक्रमण और आंतरिक विघटन से बचाने के लिए कटिबद्ध होकर सरदार का महान कार्य पूर्ण करें। भारतमाता के इस महान पुत्र के प्रति यही सबसे बड़ी श्रद्धांजलि होगी। वे अपना कार्य जहाँ छोड़ गए हैं, वहाँ से उसको आगे बढ़ाने का अपना कर्तव्य करते हुए भारत को महान वैभवशाली और शक्तिसंपन्न बनाने के लिए परमात्मा हमें समुचित विवेक, साहस और शक्ति प्रदान करे।

{१०९}

१८. सरदार वल्लभभाई पटेल

(श्री पटेल जयंती समारोह, दिल्ली, ३१ अक्टूबर १९६४)

१४ वर्ष पूर्व नागपुर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की एक वार्षिक बैठक के उपलक्ष्य में मैं उपस्थित था। बैठक के प्रारंभ होते ही मुझे सूचना मिली कि सरदार वल्लभभाई पटेल इस संसार को छोड़ गए। यह हृदय को एक बड़ा धक्का देनेवाला समाचार था। बैठक को वहीं स्थगित कर मैंने सोचा कि कम से कम उनके पार्थिव शरीर के दर्शन हो सकें तो कर लूँ। अतः मैंने उस समय के मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री पं. रविशंकर शुक्ल, जिनसे मेरा बाल्यकाल से ही घनिष्ठ परिचय था, से इस संबंध में परामर्श किया और वे मुझे अपने साथ मुंबई ले गए।

मतभेद में भी अनुशासन का पालन

अंतःकरण में जो व्यथा रही है, उसे शब्दों में व्यक्त करना मेरे लिए असंभव-सा है। यह तो कोई कह नहीं सकता कि उनका संघ के साथ कोई संबंध था या उनकी अनुकूलता थी। वैसे देखा जाए तो सभी लोग जानते हैं कि उन्हीं के गृहमंत्री होते हुए अपने संघ पर पाबंदी लगाई गई थी और उन्हीं की कृपा से हम लोग काफी समय बंदीवास में भी रहे थे। तब भी मन में यह व्यथा क्यों थी? इसका कारण यह है कि व्यक्ति अपने गुणों के कारण सबको प्रिय और वंदनीय होता है। ऐसे अनेक गुणों का समुच्चय सरदार पटेल के जीवन में हम लोगों को देखने के लिए मिला।

विशेषकर अपने देश में चरित्र और अनुशासन का भाव प्रबल रूप में रहना चाहिए। उनके जीवन से मिली अनुशासन की प्रेरणा को हम कभी भी भूल नहीं सकते। हमारा विचार है कि मनुष्य दूसरों को कार्य करने की आज्ञा देने के योग्य तभी बनता है, जब वह स्वयं अतीव अनुशासन से आज्ञा का पालन करना जानता है। यदि स्वयं अनुशासन से चलना नहीं जानता; जिसे नेता के रूप में ग्रहण किया, उससे मतभेद होते हुए भी अपने मतभेदों को पीछे रखकर नेता की आज्ञा से तत्परता के साथ जो आगे नहीं बढ़ सकता, वह किसी को अनुशासन के साथ कार्य करने की प्रेरणा भी नहीं दे सकता।

सबको पता है कि सभी लोगों ने महात्मा गाँधी को स्वेच्छा से, स्वयंस्फूर्ति से देश के कर्णधार के रूप में स्वीकार किया था। सरदार स्वयं

को उनके निकटतम एवं अनन्य अनुयायी मानते थे और इसमें स्वयं को धन्य भी समझते थे। ऐसा होते हुए भी मतभेद के कई प्रसंग आए। अनेक बार मतभेद हुए, इसमें कोई संदेह नहीं। किंतु कोई व्यक्ति ऐसा नहीं कह सकेगा कि अपना मत अलग होने के कारण उन्होंने अपने नेता के किसी आदेश की अवहेलना की हो, उसके प्रति अरुचि दिखलाई हो या उसका पालन करने में आनाकानी की हो। आज्ञापालन में, अनुशासन में सदैव तत्पर रहनेवाला पुरुष ही अपने देश के लोगों को अनुशासन की शिक्षा देने में समर्थ है। यदि हम लोग उनके चरित्र से यह छोटा गुण भी सीख लेंगे तो आज चारों ओर दिखाई पड़नेवाली अनवस्था में से अपने जीवन को बटोरकर एक सुव्यवस्थित जीवन बनाने में हम यशस्वी हो सकेंगे।

कट्टर हिंदू

मुझे और भी एक बात आपके सामने रखने की इच्छा उत्पन्न हुई है। सरदार वल्लभभाई जी के अनेक अच्छे-अच्छे कार्यों का वर्णन अन्य लोगों ने किया ही है। इन सब कार्यों को करते समय उन पर एक आरोप लगाया गया कि वे हिंदू थे। और हिंदू कहने के बाद आज की पद्धति अथवा फैशन के अनुसार उसे सांप्रदायिक कहा जाता है। उनपर ऐसा आरोप लगाने का प्रयत्न भी लोग करते हैं।

सोचता हूँ कि हिंदुस्थान और हिंदू समाज में जन्म लेने के बाद यदि कोई व्यक्ति अपने देश और समाज से प्रेम करता है, तो यह उसका गुण है अथवा दोष? मेरी दृष्टि से तो यह गुण है। अपने देश में कई ऐसे महानुभाव हैं जिनका प्रेम भारत के बाहर पनपनेवाली रूस व चीन की विचारपद्धति पर है। इतना ही नहीं, वे उन देशों एवं उनके नेताओं के प्रति भक्ति भी रखते हैं। ये लोग भारत के देशभक्तों को समय-समय पर प्रतिगामी कहकर उनको समाज के सामने अपमानित करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार का जो प्रयास चलता है उसी के अंतर्गत सरदार पटेल पर लोग 'हिंदू होने का' आरोप लगाते हैं।

मैं समझता हूँ कि वे सचमुच हिंदू थे और यह उनका भूषण है। विचार करने की बात यह है कि हिंदू होने के कारण क्या सरदार ने अन्य लोगों के साथ भेदभाव बरता? यदि ऐसा उन्होंने किया होता तो कम से कम मैं तो उन्हें हिंदू नहीं कहता। क्योंकि वही कट्टर हिंदू कहलाने के योग्य है, जो संसार भर के सभी धर्मों को आदर की दृष्टि से देख सके। इसलिए

मैं तो इसमें बड़ा गौरव मानता हूँ कि सरदार को लोगों ने हिंदू कहा।

सहस्रों वर्षों के अनेक प्रकार के संकटों के उपरांत परकीय सत्ता का प्रत्यक्ष शासन यहाँ से चला गया। उसके लिए कितने लोगों को आत्मसमर्पण करना पड़ा, कितने लोगों को अपने प्राण खर्च करने पड़े, कितने परिवार उध्वस्त हो गए। यह मूल्य चुकाने के बाद ऐसी स्थिति आई कि शासन की बागडोर अपने ही देश के लोग सँभाल सके। इतने वर्षों के आघातों के पश्चात् हमने परकीय शासन हटाया है– इसका प्रत्यक्ष परिचय लोगों को मिलना चाहिए। बिना प्रत्यक्ष परिचय के लोगों के अंतःकरण में परकीय शासन की समाप्ति का आनंद उत्पन्न नहीं हो सकता। इसके लिए अपने उन राष्ट्रीय मानबिंदुओं, जिन्हें परकीय शासन ने आघात कर उध्वस्त किया है, को एक बार फिर भव्यस्वरूप में उपस्थित करना आवश्यक प्रतीत होता है। इससे सामान्य समाज में यह भाव जागृत होता है कि हम लोगों ने हजार वर्ष की गुलामी को वास्तविक रीति से अब ठोकर मारी है।

सरदार ने अपनी दूरदृष्टि से समाज की इस मनोभावना अथवा मानसिक प्रक्रिया को समझकर उस स्थान पर, जहाँ समस्त राष्ट्र की श्रद्धा केंद्रित होने के कारण शत्रुओं ने सर्वप्रथम आघात किया था, सोमनाथ के मंदिर का पुनर्निर्माण करने का संकल्प किया। मैं ऐसा समझता हूँ कि सोमनाथ के मंदिर के पुनर्निर्माण से अपने राष्ट्र की अस्मिता का पुनःसंस्थापन हुआ है। यह राष्ट्र के आत्माभिमान को जागृत करनेवाली बहुत भव्य कृति है। यह सरदार का चिरंजीवी स्मारक है, इसमें कोई संदेह नहीं।

व्यवहारकुशल तथा कठोर व्यक्तिमत्त्व

वे यह अनुभव करते थे कि देश बड़े संकटों से गुजर रहा है। अपनी संगठन-कुशलता से देश की विभिन्न शक्तियों को एक सूत्र में गूँथकर, जिस संस्था में वे कार्य करते थे उस संस्था को भी सुव्यवस्थित रखते हुए, सब संकटों का सामना करने के लिए राष्ट्र को एक सुदृढ़ शक्ति के रूप में खड़ा करने हेतु वे प्रयत्नशील थे। यह तो अपने में से कई लोग कह सकेंगे कि महात्मा जी बहुत श्रेष्ठ पुरुषों को चुन-चुन कर कांग्रेस के कार्य में आगे लाए। उनका व्यक्ति-परीक्षण निरपवाद रहा है, परंतु ऐसे सभी बड़े पुरुषों को एक सूत्र में गूँथने के लिए एक ऐसे अति व्यवहारकुशल एवं कठोर व्यक्ति की आवश्यकता रहती है, जो स्वयं अनुशासन जानता है। मैं ऐसा समझता हूँ कि यह कार्य सरदार के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता था।

महात्मा जी, पं. नेहरू और सरदार

यह बात ठीक है कि महात्मा जी एक अति श्रेष्ठ पुरुष थे। महात्मा ही जो ठहरे। यह भी सत्य है कि अभी हाल में स्वर्गवासी हुए अपने पं. जवाहरलाल नेहरू भी श्रेष्ठ थे। परंतु इस विशाल देशव्यापी संस्था की सुसंगठित अवस्था उत्पन्न करने के लिए जिन प्रयत्नों की आवश्यकता थी, उनको करने की क्षमता जन्मजात गुण के कारण इन दोनों में थी, ऐसा मैं नहीं मानता। आप लोगों का इससे मतभेद हो सकता है। मैं भिन्न मत व्यक्त कर रहा हूँ, इसके लिए आप लोग मुझे क्षमा करें, लेकिन मेरा मत यही है।

महात्मा जी साधु पुरुष थे, जो इस प्रकार की सुव्यवस्था के झंझट में पड़ने वाले नहीं थे। पंडित जी अत्यंत भावुक थे, ऐसा उनके बारे में उनके मित्र और शत्रु सभी बोलते हैं। ऐसे निरे भावुक लोग कोई सुसंगठित, सुव्यवस्थित संस्था खड़ी कर सकते हैं, संसार का ऐसा अनुभव नहीं है। उसके लिए एक अत्यंत व्यवहार दक्ष, स्वयं कठोरता से अनुशासन का पालन करनेवाला और दूसरों से भी उसी कठोरता से अनुशासन का पालन करवाने में कोई झिझक का अनुभव न करनेवाला व्यक्ति चाहिए था। सरदार ऐसे ही थे। इसलिए यह विशाल कांग्रेस संस्था अनेक प्रकार के आघात होने के पश्चात् भी टिकी हुई दिखाई देती है, अन्यथा उसमें समय-समय पर जो विभिन्न प्रकार की दुर्बलताएँ आईं, उनके कारण वह कभी की समाप्त हो गई होती।

इन दिनों सरदार होते तो.........

उन्होंने यह संगठन-चातुर्य प्रकट किया हो, इतना ही नहीं तो समग्र देश के अंदर एक महान सामर्थ्य उत्पन्न हो और देश के संरक्षण के कार्य में किसी प्रकार का विपरीत विचार उत्पन्न न हो, इसकी ओर उनका ध्यान था। आज उत्तर, पूर्व और पश्चिम की सीमा पर शत्रु खड़े हैं। उन्हें देखकर हमें लगता है कि यदि सरदार इन दिनों होते तो अपनी सूक्ष्म दृष्टि से उन्हें पहचान कर उन्होंने ऐसी व्यवस्था की होती कि इन संकटों के सामने हमारे लिए नाक रगड़ने की जो स्थिति उत्पन्न हुई है, वह न होती। दो वर्ष पूर्व बड़ा राष्ट्रीय अपमान हमें सहना पड़ा, वह शायद न होता। इस प्रकार के संकट पर चढ़ बैठने के लिए राष्ट्र की शक्ति का आह्वान करने में वे मँजे हुए व निपुण थे।

यदि अपनी ऐसी भावना हो, तो मैं सब लोगों का आह्वान करूँगा कि हम लोग उनकी अनुशासन-प्रियता और देश के अंदर उस सामर्थ्य को उत्पन्न करने की उनकी इच्छा, जो समग्र संकटों पर विजय पा सके, के बारे में सोच-समझकर अपने समस्त जीवन की शक्ति लगाकर, अपने इस देश का परम सामर्थ्यपूर्ण और विजयशाली स्वरूप निर्माण करने के लिए मिलकर कटिबद्ध हों और कंधे से कंधा मिलाकर आगे बढ़ें।

भिन्न-भिन्न प्रकार के, भिन्न-भिन्न मतों के लोगों का एक होकर सरदार की पवित्र स्मृति को अपने अंतःकरण में जागृत करने का आज का यह प्रसंग भी एक शुभ लक्षण है। यही लक्षण अधिक प्रभावी बनकर समग्र जन-जन में व्याप्त हो और यह चिरंजीव कीर्ति का पुरुष, हमेशा के लिए अपने अंतःकरण में विराजमान रहे, यही भगवान से मेरी प्रार्थना है।

१६. विशुद्ध राष्ट्रवादी डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी

(५ सितंबर १९५३ को नागपुर से भेजा शोक-संदेश)

कश्मीर का भारत में पूर्ण विलीनीकरण हो, कश्मीर भारत का अविभाज्य घटक रहे, इसके लिए चल रहे संघर्ष में धारातीर्थपर श्यामाप्रसाद मुखर्जी बलिदान हुए हैं। अपने शास्त्र कहते हैं कि शत्रु से जूझते समय जिन्हें वीरोचित मृत्यु आती है, उनको परमेश्वर का सर्वोच्च कृपाप्रसाद 'स्वर्ग' प्राप्त होता है। मेरे परमस्नेही व वंदनीय श्यामाबाबू को यह स्थान प्राप्त हुआ है। इसमें कोई संशय नहीं कि वे उस स्थान से यह आशीर्वचन देंगे कि उनके अनुयायियों को इस संघर्ष में यश प्राप्त हो।

गत बारह वर्षों से मेरे निकटस्थ रहे स्नेही श्री श्यामाबाबू का श्रीनगर में निधन हुआ– यह सुनकर आश्चर्याघात का अनुभव हुआ। उनका अंत्यदर्शन भी मैं नहीं कर सका। इस घटना से मेरे हृदय में जो घाव हुआ है, वह कभी भी भर नहीं सकता। उनका निधन मेरी वैयक्तिक क्षति तो है ही, देश का भी बड़ा भारी नुकसान हुआ है। चोटी के विद्वान, कुशल संगठक, प्रभावी वक्ता, बेजोड़ सांसद, पवित्र मातृभूमि को जीवन समर्पण किया हुआ एक लोकसेवक, विशुद्ध राष्ट्रवाद एवं नागरिक अधिकारों के लिए लड़ने वाला निर्भीक योद्धा, और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि वर्तमान

काल में अभाव में दिखने वाला निष्कलंक चारित्र्य का एक आदर्श सुसंस्कृत पुरुष अपने बीच से चला गया। उनका जीवन गणतंत्र राज्य व्यवस्था में विशेषत्व से अनुकरणीय है। दुर्दैव से आज की संकटमय परिस्थिति में यह विलक्षण आघात झेलना पड़ रहा है। इस क्षति की पूर्ति होने में बहुत समय लगेगा।

श्रीनगर में शेख अब्दुल्ला सरकार के कारागार में उनकी मृत्यु शासन पर कलंकभूत है। भारत के शासन पर भी उसका उत्तरदायित्व है। 'भारत के प्रधानमंत्री की सलाह के बिना मैं कोई भी कृति नहीं करता'— यह स्वयं शेख अब्दुल्ला ने कहा है।

'ईश्वर को जिसका कार्य पसंद आता है, उसको वह इस संसार से जल्दी ले जाता है'— इस बात का स्मरण डाक्टर मुखर्जी का ५२वें वर्ष में हुआ निधन देखकर आता है। डा. मुखर्जी की आत्मा को शांति प्राप्त हो ऐसा ही आचरण उनके अनुयायियों को करना चाहिए इस अनुरोध के साथ मैं डा. मुखर्जी की स्मृति को वंदन करता हूँ।

उनकी वृद्ध माताजी को यह आघात सहने का धैर्य दे, यही परमेश्वर से प्रार्थना करता हूँ।

डा. मुखर्जी की स्थानबद्धता, उनका कारावास में हुआ निधन, ये बातें विस्मृत होनी कठिन हैं। अन्य कुछ ना भी हो तब भी घातक दुर्लक्ष की जिम्मेदारी 'लोगों के' कहे जानेवाले शासन के नेताओं पर निश्चित रूप से है।

२०. डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी

(२६ जून १९५६ को साप्ताहिक 'पांचजन्य' में प्रकाशित लेख)

आज से लगभग १६ वर्ष पूर्व नागपुर में सौभाग्य से मेरी भेंट डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी से हुई थी। उन दिनों नागपुर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का शिक्षा-वर्ग चल रहा था और मैं उसका सर्वाधिकारी था। मुझ पर यह दायित्व प.पू. डाक्टर जी द्वारा सौंपा गया था। प.पू. डाक्टर जी पुणे से नागपुर लौटने पर बीमार पड़ गए, इसलिए उन्हें घर पर ही शय्याशायी रहना पड़ा। उसी समय मुंबई में आयोजित हिंदू महासभा की बैठक से वापस लौटते हुए डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी मुख्यतः प.पू. डाक्टरजी से

मिलने के लिए नागपुर में ठहरे थे। परंतु प.पू. डाक्टर जी की रुग्णावस्था के कारण कुशल-क्षेम पूछने के सिवा, दोनों में कोई खास बातचीत नहीं हुई।

डा. मुखर्जी ने एक विशेष प्रश्न अवश्य पूछा– 'क्या संघ हिंदू महासभा के राजनैतिक कार्यक्रमों में किसी हद तक सहयोग कर सकता है?' प.पू. डाक्टर जी ने इस संक्षिप्त प्रश्न का अति थोड़े शब्दों में उत्तर देते हुए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के राजनीति से दूर रहने का कारण स्पष्ट किया। अधिक बोलने की उनकी स्थिति नहीं थी।

आदर का कारण

डा. मुखर्जी की प्रांजलता और अपने से भिन्न मत भी सहानुभूतिपूर्वक समझने की पात्रता, इन गुणों से मैं बहुत प्रभावित हुआ। वे अपने सिद्धांतों पर चर्चा करने को तैयार रहते तथा अपने प्राणप्रिय मत के खंडन में दिए गए प्रभावी तर्कों को मान लेते थे। ये गुण महान व्यक्तियों में ही पाए जाते हैं, डा. मुखर्जी को जन्म से ही स्वभावतः प्राप्त हुए थे। मैं उनके इन गुणों के प्रति, पहली भेंट में ही मुग्ध हुआ। तब से मेरे हृदय में उनके लिए अत्यधिक आदर था।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के राजनैतिक कार्यों से दूर रहकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखने के रुख पर उनसे मेरी भी चर्चा हुई थी। क्वचित् मैंने अपनी बात उत्तेजनापूर्ण शब्दों में रखी, तब भी मैंने अनुभव किया कि वे उत्तेजित न होकर शांत ही रहे। मैं उन्हें जो कुछ समझा रहा था, वे उसके भाव ग्रहण करने के प्रति उत्सुक रहे। यह गुण प्रायः देखने को नहीं मिलता। इससे उनके प्रति मेरा आदर द्विगुणित हो गया।

मई १९४० की इस भेंट के पश्चात् उनसे कई बार भेंट हुई और जनजीवन से संबंधित विभिन्न महत्त्वपूर्ण विषयों पर हमारी चर्चा हुई। प्रामाणिकता से यह अनुभव करने पर, कि कोई भी राजनैतिक दल देश में रहनेवाले अहिंदू वर्ग की उपेक्षा तथा बहिष्कार नहीं कर सकता, उन्होंने हिंदू महासभा से त्यागपत्र दे दिया। फिर भी मैंने यह अनुभव किया कि उनके हृदय में हिंदू महासभा के प्रेरणास्रोत, अडिग देशभक्त, स्वातंत्र्यवीर बैरिस्टर वि.दा.सावरकर के प्रति प्रगाढ़ आदर है। कई अवसरों पर उन्होंने मेरे पास स्वातंत्र्यवीर का उल्लेख जिन शब्दों में किया, उनसे ज्ञात होता था कि उनके हृदय में स्वातंत्र्यवीर के प्रति कितना उत्कट आदरभाव है।

जब महात्मा गाँधी की हत्या के षड्यंत्र में हाथ होने का आरोप लगाकर श्री सावरकर पर मुकदमा चलाया जा रहा था, तब डा. मुखर्जी अत्यंत क्षुब्ध होकर कहा करते थे– 'एक श्रेष्ठतम सच्चे देशभक्त को इस तरह बदनाम करना घोर अन्याय है।' उनका यह विश्वास था कि सत्ताधारी दल बदले की भावना से उन लोगों की लोकप्रियता को समाप्त करना चाहता था, जो उससे मतभेद रखते हैं और भीगी बिल्ली बनकर उसका अनुसरण करना नहीं चाहते थे।

मंत्री पद त्याग दिया

अब यहाँ से उनके जीवन का अंतिम पर्व प्रारंभ होता है। जब अपने ही करोड़ों देशबंधु पूर्व बंगाल में अवर्णनीय अमानुष अत्याचारों से पीड़ित हुए, अपने घरों से विस्थापित हुए और उन्हें भारत में आश्रय खोजना पड़ा। तब उन्होने मंत्री पद से त्यागपत्र दे दिया। जन-सेवा ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था, सम्मान और लाभ के पदों से चिपके रहना नहीं। इस प्रकार की दृढ़ता वे कई बार प्रकट कर चुके थे। इस बार भी उन्होंने वही किया। केंद्रीय मंत्री पद का भार, जो अपने आदर्शों और दृष्टिकोण के विरुद्ध होने के कारण उन्हें अप्रिय था, से उन्होंने छुटकारा पा लिया। उसके बाद वे सोचने लगे कि आगे क्या किया जाए। जिस व्यक्ति को राजनीति में ही विशेष रुचि हो, वह ऐसे राजनैतिक दल को ढूँढेगा, जो अपने दृष्टिकोण और सामर्थ्य से उसे संतोष दे सके।

उस समय जितने भी राजनीतिक दल थे, उनमें से कोई भी उन्हें पसंद नहीं आया। कांग्रेस राष्ट्रवाद के मार्ग से भटक कर सांप्रदायिक तुष्टीकरण की ओर बढ़ रही थी। उनकी दृष्टि से कांग्रेस देश के दुर्भाग्य और अपमान का कारण बन गई थी। उन्होंने हिंदू महासभा क्यों छोड़ी, यह ऊपर कहा जा चुका है। सिद्धांतों और कार्यक्रमों की कसौटी पर समाजवादी पार्टी और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी किसी ठोस नींव पर खड़ी दिखाई नहीं दीं। साम्यवादी दल में जाने का विचार उनके मन में आना असंभव था, क्योंकि वह दल अराष्ट्रीय, देशबाह्य, राष्ट्र-बाह्य और राज्य-बाह्य निष्ठा रखनेवाला, रूसी आकांक्षाओं का पिछलग्गू, अभारतीय विचारधारा और हिंसा पर विश्वास करनेवाला था। उस समय जितने भी राजनैतिक दल थे उनमें से कोई भी उन्हें अपनी प्रतिभा के अनुकूल दिखाई नहीं दिया। इसलिए देश-विदेश की परिस्थितियों के अनुरूप संपूर्णतः एक नए दल की स्थापना करने की क्या संभावना है, इस दृष्टि से उन्होंने अपने चारों ओर निरीक्षण किया।

भारतीय जनसंघ की स्थापना

उन्हीं दिनों एक सज्जन, जो मेरे पुराने सहयोगी थे और जिनकी विशेष रुचि राजनैतिक कार्यों में दिनों-दिन बढ़ रही थी, उनके निकट संपर्क में आए संभवतः इसी कारण डा. मुखर्जी को इस विषय में मेरा सहयोग और सहायता प्राप्त करने की इच्छा हुई हो। फलस्वरूप हम दोनों की मुलाकात कई बार हुई और इस विषय पर चर्चा हुई। स्वाभाविकतया मैंने उन्हें सचेत किया कि संघ को राजनीति में न घसीटा जाए। संघ किसी भी राजनैतिक दल का पिछलग्गू नहीं बनेगा।

राष्ट्र के सर्वांगीण सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन के कार्य में लगा हुआ कोई भी संगठन, तभी सफलता प्राप्त कर सकता है, जब तक वह राजनैतिक दलों की दासी बनकर काम न करे। यह भूमिका उन्हें सही लगी और उससे उन्होंने अपनी सहमति प्रकट की। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि नए दल को अपनी वृद्धि और विकास के लिए यह महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी कि वह किसी का गुलाम नहीं होगा।

हिंदू राष्ट्र पर दृढ़ निष्ठा

इन आधारभूत मान्यताओं पर संघ और प्रस्तावित नए दल के परस्पर संबंध तय होने के उपरांत यह विचार करना था कि प्रस्तावित दल की निष्ठा किन आदर्शों पर हो। संघ का तो एक निश्चित लक्ष्य और कार्यपद्धति है। अतः यदि इस संगठन के किसी स्वयंसेवक का सहयोग चाहिए, तो वह तभी मिल सकेगा जब दिखाई देगा कि आदर्शवाद के आधार पर दल की पृथक राजनैतिक प्रतिमा है।

उनके द्वारा एक पत्रकार-परिषद् में दिए गए एक वक्तव्य कि 'हिंदू-राष्ट्र पर निष्ठा रखने के कारण हिंदू महासभा सांप्रदायिक है', की ओर डा. मुखर्जी का ध्यान खींचते हुए मैंने कहा कि 'संघ भी हिंदू महासभा से अधिक तो नहीं, परंतु उसके समान ही यह विश्वास करता है कि भारतीय राष्ट्र हिंदू राष्ट्र है। तब क्या वे संघ को भी अपने से दूर रखना चाहेंगे। ऐसी स्थिति में वे न तो मेरी सहानुभूति की अपेक्षा कर सकेंगे और न ही मेरे सहयोगियों के सहयोग की, जो हिंदू राष्ट्र पर दृढ़ निष्ठा रखनेवाले तथा उसके लिए अथक कार्य करनेवाले हैं।'

हिंदू राष्ट्र की परिभाषा

उन्होंने स्वीकार किया कि वह टिप्पणी अनवधानता से की थी।

उन्होंने हिंदू-राष्ट्र के आदर्श से अपनी संपूर्ण सहमति प्रकट करते हुए कहा– 'अपने संविधान द्वारा भारतीय राष्ट्रीयता का सही आकलन और प्रतिपादन नहीं हुआ है।' उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि 'हिंदू-राष्ट्र को उसका पूर्व गौरव प्राप्त करा देने का लक्ष्य आधुनिक जनतांत्रिक राज्य की संकल्पना का विरोधी नहीं है, क्योंकि हिंदू-राष्ट्र देश के सभी लोगों को पूर्ण नागरिक स्वतंत्रता और राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतिष्ठा का समान आश्वासन देता है। वह यह आश्वासन अहिंदू संप्रदायों को भी देता है। बशर्ते वे राष्ट्रद्रोही कार्य न करें, राष्ट्र को उसके सर्वोच्च गौरव के अधिष्ठान से षड्‌यंत्र कर हटाने तथा मात्र सत्ता हथियाने की आकांक्षा न रखें।' उन्होंने अपने नए राजनैतिक दल के उद्देश्यों व नीतियों में उक्त तथ्य को स्पष्ट करने की उत्कट इच्छा भी प्रकट की।

जब ऐसा मतैक्य हुआ, तब मैंने अपने निष्ठावान और तपे हुए सहयोगियों को चुना, जो निःस्वार्थी और दृढ़ निश्चयी थे तथा नए दल की स्थापना का भार अपने कंधों पर ले सकते थे। उनमें विस्तृत तथा दृढ़ नींव पर उस नए राजनैतिक दल को अखिल भारतीय प्रतिष्ठा और लोकप्रियता प्राप्त करा देने की योग्यता थी। इस प्रकार डा.मुखर्जी अपनी आकांक्षा को भारतीय जनसंघ की स्थापना के रूप में साकार कर सके।

संघ-जनसंघ संबंध

डा. मुखर्जी को उत्कृष्ट कार्यकर्ताओं का समूह सौंपने के बाद हमारी अपनी निष्ठा के अनुसार मैंने स्वयं को जनसंघ की आगे की गतिविधियों से पूर्णतः दूर रखा और हमारे अपने हिंदुओं को संगठित करने के सांस्कृतिक दैनिक कार्य की ओर ध्यान केंद्रित किया। फिर भी समय-समय पर जब कभी हम दोनों मिलते थे, तब वे जनसंघ की प्रगति और उसके आगामी कार्यक्रम या आंदोलन की जानकारी देते थे। मैं भी संघकार्य में उनकी सहायता और सहयोग लेता था और वे भी जहाँ आवश्यक हो वहाँ हमारे कार्यकर्ताओं को खुलकर पूर्ण सहयोग देते थे।

उनके ही कारण कश्मीर संपूर्ण नहीं तो भी उसका वह भाग जो अपनी ओर है, अपनी मातृभूमि में ही रह सका और जनसंघ को अक्षय कीर्ति प्राप्त हुई।

सार्वजनिक कार्यों में निकट आनेवालों में केवल औपचारिक मित्रता रहती है, परंतु हम दोनों इस औपचारिकता को लाँघकर, दिनों-दिन

स्नेह-रज्जु के बंधन में दृढ़ता से बँधते गए। हम अपने-अपने संगठन और कार्यक्षेत्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कदम परस्पर विचार-विनिमय के बिना नहीं उठाते थे। ऐसा करते समय हम इस बात का भी ध्यान रखते थे कि एक-दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप न हो, दोनों संगठनों के परस्पर संबंध के विषय में भ्रम उत्पन्न न हो तथा एक दूसरे पर हावी होने का प्रयत्न न हो।

उन्होनें एक निकटवर्ती मित्र के नाते मुझसे परामर्श किए बिना, सिर्फ एक बार अपने स्वयं के बारे में महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया। दुर्भाग्य से वह उनके लिए प्राणघातक सिद्ध हुआ।

न जाने क्यों उस समय मुझे आशंका हुई कि डा. मुखर्जी वहाँ (जम्मू-कश्मीर) न जाएँ। यदि वे जाएँगे तो वापस नहीं आएँगे। वे वहाँ न जाएँ ऐसा संदेश भिजवाने का प्रयत्न भी मैंने किया, परंतु विधि का विधान कुछ और था। परिणाम यह हुआ कि मेरा एक आधार चल बसा और डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी के रूप में जो भविष्य की महान आकांक्षाएँ साकार हो उठी थीं, चकनाचूर हो गईं।

प्रखर विरोध के बीच एक नया दल गढ़ना कोई सरल काम नहीं है। अज्ञानियों ने खिल्ली उड़ाई, दुष्टों ने सब प्रकार के लांछन लगाए, फिर भी वह दिव्यात्मा महामानव निंदा-स्तुति की अवहेलना करता हुआ, अपने कंधों पर नए दल की ध्वजा लिए उत्तरोत्तर विजय-दर-विजय और लोकप्रियता-दर-लोकप्रियता की ओर दृढ़ता से बढ़ता गया। अब हम देखते हैं कि जनसंघ कठिनाइयों के बावजूद दृढ़ता से आगे बढ़ रहा है।

डा. मुखर्जी के आकर्षक प्रभावी व्यक्तिमत्व, नेतृत्व के गुण; देश की राजनैतिक समस्याओं को संतुलित, ठंडे दिमाग से समझने की विरली अंतर्दृष्टि के कारण, भ्रातृभाव, एक ध्येय और एक दल के सूत्र में बँधे हुए सैंकड़ों कार्यकर्ता काम करने के लिए आगे बढ़े। अब उन्हें साकार करना उनके अनुयायियों का काम है।

वे हमें छोड़कर चले गए। उनका अभाव मुझे बहुत ही दुःखद लगता है। अपना सांत्वन करने के लिए मैंने उस अति आदरणीय और प्रिय महान मित्र के संबंध में कुछ संस्मरण लिखे हैं। उनका शरीर अब नहीं रहा, परंतु उनकी कीर्ति कालजयी है।

२१. क्रांतिकारियों को वंदन

(१० और ११ मई १९५६ को पुणे में अभिनव भारत संस्था का विसर्जन समारोह स्वातंत्र्यवीर सावरकर जी द्वारा आयोजित किया गया था। उस समारोह में श्री गुरुजी द्वारा क्रांतिकारियों को दी गई श्रद्धांजलि)

क्रांतिकारियों को पागल, सिरफिरा आदि कहकर स्वयं बड़े बुद्धिमान बनने का नाट्य कुछ लोगों द्वारा किया जाता है। लेकिन सत्य यह है कि उनको क्रांतिकारियों की राष्ट्रभक्ति की उग्रता सहन नहीं होती। क्रांति की अग्नि में आत्मसमर्पण करके उस क्रांति की ज्वाला तरुणों के अंतःकरण में धधका देने के लिए जीवित रहनेवाले, पूजनीय डा. हेडगेवार के पदचिह्नों का अनुसरण करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। इस दृष्टि से, क्रांतिकारियों की आदरपूर्वक वंदना करना और उनकी स्मृति में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करना मेरा कर्तव्य ही है।

क्रांति का मनमाना अर्थ लगाने से अब काम नहीं चलेगा। स्थायी स्वरूप की क्रांति करने के लिए दिन-रात कष्ट सहन करना और शांतिपूर्वक उत्कृष्ट प्रयास करना आवश्यक है। अपने अंतःकरण में क्रांति की ज्योति सदा जागृत रखना और जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ उसे प्रज्ज्वलित करने का निश्चय हृदय में रखना आवश्यक है। इसके लिए उग्र तपस्या करनी ही होगी।

दारिद्र्यग्रस्त लोकजीवन को समाप्त कर सच्चे अर्थों में सुखी एवं समृद्ध भारत निर्माण करने के लिए, राष्ट्रभक्तिशून्य अराष्ट्रीय भावनाओं पर आघात करने के लिए, भारत अर्थात् हिंदू-राष्ट्र का राष्ट्रीय जीवन सब दृष्टियों से पूर्ण करने के लिए और इस राष्ट्र के राष्ट्रध्वज 'भगवाध्वज' को यावच्चंद्रदिवाकरौ फहराता रखने के लिए, समारोह के इस शुभावसर पर हमें संकल्प करना चाहिए।

卐卐卐

२२. श्री अप्पासाहब जिगजिन्नी

(१८ मई १९५६ को कर्नाटक के प्रांत संघचालक श्री जिगजिन्नी के निधन पर प्रकट शोकोद्‌गार)

माननीय श्री अप्पासाहब जिगजिन्नी ने अकस्मात ही इहलोक जीवन-यात्रा समाप्त कर ली। उनका परिवार तो शोकमग्न है ही, परंतु उनके चारों ओर उनके चाहनेवालों का जो विशाल परिवार था, उनके अंतःकरण पर हुआ आघात भी असह्य है। विशेषतः उनके राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्य में पदार्पण करने के पश्चात् उनके बारे मे स्वयंसेवक बंधुओं के अंतःकरण में ऐसी भावनाओं का उदय हुआ था। इसी कारण अगणित स्वयंसेवकों के अंतःकरण में शोक का जो आवेग उत्पन्न हुआ, उसका वर्णन करना संभव नहीं है।

मैं उनसे वर्ष में कम से कम एक बार और अनेक बार जैसा कार्यक्रम निर्धारित होता था, मिलता था। उनकी चिरप्रसन्न स्नेहपूर्ण मुद्रा, सदैव हँसमुख, सहज विनोद द्वारा शुद्ध सात्विक स्नेह निर्माण करनेवाली उनकी मधुर वाणी आदि की स्मृति मन में सदैव अंकित रहेगी। स्वयं को कितना भी कष्ट हो, तब भी सदैव प्रसन्नचित्त रहते थे। अपने कारण किसी को कष्ट न हो, इसलिए सहनशीलता से असह्य शारीरिक व मानसिक क्लेश भी पीकर मन का आनंद व समतोल सतत बनाए रखने की उनकी अद्वितीय कला स्मरण में ताजा है।

बंगलौर में प्रांतिक बैठक थी, वर्षा, हवा व ठंड बढ़ने के परिणामस्वरूप उनका पुराना दमा उमड़ आया। दमा उमड़ने पर उन्हें जो कष्ट होता था, वह देखनेवाले को भी बड़ा कष्टकारक होता था। उन्हें लगातार बैठे रहना पड़ता था। जिस औषधि से आराम मिलता था, वह उस समय उनके पास नहीं थी। डाक्टर के लिए दौड़-धूप मची। इधर उनका कष्ट बढ़ रहा था। मेरे समक्ष कठिन प्रश्न उपस्थित था। मुझे तुरन्त ही रात्रि की गाड़ी से चेन्नै की ओर जाना था। उन्हें ऐसी स्थिति में छोड़ जाने को मन नहीं कर रहा था। परंतु सारे क्लेश पीकर उन्होंने मुझे जाने के लिए विदाई देते हुए कहा– 'यह सदैव की ही बात हो जाने से इसका अब अभ्यास हो गया है। कुछ उपचार होने के बाद सब ठीक हो जाएगा। अतएव आपको अपना पूर्व नियोजित कार्यक्रम स्थगित करने की आवश्यकता नहीं है।' उनकी

प्रसन्न मुखमुद्रा से आश्वासित होकर मैं चला गया।

मैं अपने मन में एक विचार लेकर गया कि कर्नाटक प्रांत के संघकार्य के महद्भाग्य के फलस्वरूप एक असामान्य निग्रही पुरुष प्रांत संघचालक के कठिन दायित्व को सँभालने के लिए प्राप्त हुआ है। संघकार्य ईश्वरीय कार्य है। यह श्रद्धा मन में सौगुनी बढ़ गई, अन्यथा इतना बुद्धिमान, गुणवान, चारित्र्यवान, दातृत्वसंपन्न, विनयशील पुरुष, अनेकविध सामाजिक, सांप्रदायिक, राजनैतिक आंदोलनों के होते हुए, अपने जीवन की पचास वर्ष की अवधि से भी ऊपर तक उन सबसे अलिप्त कैसे रह पाता।

अन्य किसी की दृष्टि उनपर न गई हो, ऐसी बात नहीं है। परंतु मानो ईश्वर ने उन्हें संघकार्य के लिए ही नियोजित कर रखा हो, इस कारण वे अन्य सभी कार्यों से अलिप्त रहे। प्रचलित राजकीय आंदोलनों से अनेक सुशिक्षित लोग कारावास के कष्टों के भय से दूर रहे। यह बात कुछ लोगों के बारे में सही है। परंतु माननीय श्री अप्पासाहब के बारे में ऐसा आक्षेप करने के लिए कोई निर्लज्ज निंदक भी तैयार नहीं होगा।

संघकार्य पर झूठे आरोप लगाकर एवं उसे प्रतिबंधित कर पास-पड़ोस के भावनाशील, परंतु अज्ञानी जनसाधारण में प्रक्षोभ निर्माण करने का प्रयास बड़े-बड़े उच्चपदीय व्यक्तियों ने भी किया। महात्मा गाँधी की हत्या का निमित्त लेकर उसका उत्तरदायित्व संघ पर थोप कर केवल उसकी लोकप्रियता नष्ट करने का ही नहीं, अपितु जड़-मूल से संपूर्ण संघकार्य को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया गया। इसके परिणामस्वरूप अज्ञानवश क्षुब्ध समाज ने विवेकभ्रष्ट होकर स्वयंसेवक और उनके अधिकारियों पर आक्रमण किया, उनका सामान लूट लिया अथवा आग लगा कर भस्म कर दिया।

प्राणों पर बीती थी, परंतु आत्मसंरक्षण के लिए भी अज्ञानवश क्षुब्ध होकर एवं अकरणीय अत्याचार करने के लिए प्रवृत्त हुए अपने बंधुओं पर हाथ न उठाकर सब कुछ सहन करना, आघात-अपमान सब पीकर समाज की एकता का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करने का, सरसंघचालक के नाते देश भर के समस्त स्वयंसेवक बंधुओं को दिए गए मेरे आदेश का अक्षरशः पालन कर, अपने अंतःकरण में मूलबद्ध समाजप्रेम की भावना का उन्होंने परिचय दिया।

उक्त अवसर पर माननीय श्री अप्पासाहब पर जो आपत्ति आई तथा उन पर जिस प्रकार के भीषण आघात हुए, उसके सामने कभी-कभी

अमानवीय क्रूरता करने के लिए अभ्यस्त असंस्कृत आक्रामकों के अत्याचार भी फीके पड़ेंगे। चारों ओर से मानो आसमान ही फट पड़ा हो। ऐसे समय में स्वयंसेवकों की एक-दूसरे पर श्रद्धा, अधिकारियों पर निष्ठा और उनकी रक्षा में स्वशरीर की ढाल बनाकर अपने चिथड़े करा लेने की भी सिद्धता ही एकमात्र आशा की किरण थी। उन्हें कारावास भी भुगतना पड़ा, परंतु उनके चेहरे पर कभी भय, चिंता व दुःख की रेखा भी दिखाई नहीं दी। उन्होंने सब प्रसन्नवदनता से सहन किया। संघ से प्रतिबंध उठने पर अपने संपूर्ण समाज से पूर्ववत् स्नेहयुक्त एवं खिलाड़ी की मनोवृत्ति से हमेशा सहायक के नाते व्यवहार कर, अपने स्वतः की अभिजात सात्विकवृत्ति व संघरूप में किए उसके आविष्कार का परिचय बार-बार सबको दिया।

संघ पर से प्रतिबंध उठने के पश्चात् मैं उनके पास बेलगाँव गया था। उनके हृदय का समाजस्नेहामृत पूर्ण रूप से आविष्कृत देखकर मेरा हृदय भर आया। उनके संरक्षणार्थ अपूर्व निष्ठा प्रकट कर स्वयंसेवकों ने असहनीय आघात सहन किए। इसमें संघ के तत्त्वज्ञान, व्यवहार और संस्कारों का जितना भाग है, निःशंक उतना ही माननीय श्री अप्पासाहब के श्रेष्ठ एवं मधुर व्यक्तित्व के आकर्षण से उत्पन्न भक्ति का भी है।

ऐसा पुरुष, अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित अद्वेष्टादि या अमानित्वादि गुणों से युक्त, अनासक्त, ज्ञानी महान ही है। ऐसे पुरुषों को ही निर्भय कर्मयोगी, तत्त्वज्ञ, वास्तविक आप्त, निरहंकारी कार्यकर्ता कहना उपयुक्त होगा। ऐसा यह रागद्वेषरहित, मोह-लोभ-भयविहीन, मानव समाज के लिए भूषणभूत पुरुष श्री परमेश्वर ने चारों ओर के वातावरण व आंदोलन से अलिप्त रखा व संघकार्य के लिए प्रदान किया। यह उसकी ही कृपा और संघकार्य उसी का ईश्वरीय धर्मकार्य होने का असंदिग्ध प्रमाण है।

अभी अपने समाज की अधोगति रुकी नहीं है। अभी हम समाज-बंधुओं को कठिन तपस्या कर भाग्योदय खींच लाने के लिए परिश्रम करना है। हमारी तपस्या की अपूर्णता के परिणामस्वरूप ही उनका वियोग सहन करने का दुर्घट प्रसंग हम सब स्वयंसेवक बंधुओं पर आ पड़ा है। परंतु देह नष्ट होनेपर भी तत्त्व अमर है। स्मृति चिरंजीवी है। उस स्नेहिल कर्तव्यनिष्ठ जीवन की स्मृति से निरंतर स्फूर्ति ग्रहण कर हम सब ध्येयपूर्ति के अपने मार्ग पर सतत आगे बढ़ने का दृढ़ निश्चय कर उनके प्रति अपनी श्रद्धा योग्यतम रूप से व्यक्त करें।

२३. लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

(श्री तिलक जी के प्रति लिखा यह लेख २२ जुलाई १९५६ को पुणे से प्रकाशित होनेवाले सुप्रसिद्ध मराठी दैनिक 'केसरी' के तिलक जन्म-शताब्दी विशेषांक में प्रकाशित हुआ है)

भारत के दीर्घकालीन इतिहास में उन्नति-अवनति, स्वातंत्र्य-पारतंत्र्य, ज्ञान-अज्ञान आदि का चढ़ाव-उतार अनेक बार दिखाई देता है। अनेक अवसरों पर राष्ट्र-जीवन में विस्मृति, अपने जीवनादर्शों से स्खलन, परंपरा से विच्छिन्नता दिखाई दी है। परंतु चारों ओर घना अंधकार भयावह होकर तथा बुद्धिमान लोगों के मन में राष्ट्र का विनाशकाल समीप आने की आशंका पैदा होकर, जब सब ओर व्याकुलता और निराशा छा जाती है, तब ऐसी आपात् स्थिति में किसी न किसी अलौकिक महापुरुष का आविर्भाव होता है, जो जीवनादर्शों की स्थापना कर खंडित हुई परंपरा के प्रवाह का, भूतकाल से भविष्यकाल की आकांक्षाओं का योग वर्तमान के माध्यम से कर तथा राष्ट्र-विस्मरण को दूरकर, उन्नति के पथ पर समाज को ला खड़ा करता है। वह ज्ञान प्रकाशित करता है, अंधकार में प्रकाश की किरणें फैलाता है तथा सर्वंकष उन्नति की अदम्य आशा का निर्माण कर, समाज का मार्ग प्रशस्त करता है। कुमारिल भट्ट, शंकराचार्य इसी कोटि के अति मानवी महापुरुष थे, जिन्होंने बौद्ध मत के कुहरे में आत्मविस्मृत तथा उसके कारण अनीति, भ्रष्टाचार, इतना ही नहीं तो राष्ट्रद्रोह में भी प्रवृत्त होनेवाले समाज को पुनर्जागृत कर, उसमें राष्ट्रज्ञान और परंपरा की पुनर्स्थापना की।

स्वराज्य-संस्थापक, हिंदूपदपादशाही के निर्माता छत्रपति श्री शिवाजी महाराज इसी कोटि की विभूति थे, जिन्होंने विदेशी शासन के चंगुल में फँसे, अपना स्वत्व भूले हुए तथा दासता में ही आनंद माननेवाले समाज का पतन रोका तथा उसमें निर्भय, शौर्ययुक्त राष्ट्रभक्ति जागृत की।

दासता का विष

शिवाजी द्वारा स्थापित स्वराज्य नष्ट होकर देश अंग्रेजी साम्राज्य की बेड़ी में जकड़ा गया। सन् १८५७ का स्वातंत्र्य-युद्ध विफल हुआ। भिन्न-भिन्न विद्रोह, क्रांति-प्रयत्न इस विदेशी साम्राज्य की नींव को हिलाने में

असमर्थ दिखाई दिए। विख्यात विचारक विदेशी सत्ता की मुसाहिबी कर विनम्रता से अधिकाधिक अधिकार-प्राप्ति के लिए आवेदन करने तथा विदेशी शासन का कामकाज चलाकर उसे अधिकाधिक दृढ़ बनाने में मग्न रहे। दासता का विष राष्ट्र-शरीर में फैलने लगा। स्वत्वाभिमान नष्ट होकर विदेशी आचार-विचार, जीवनप्रणाली, राज्यव्यवस्था, समाजरचना, इतना ही नहीं उनका (ईसाई) उपासना पंथ भी स्वीकार करना, गौरवास्पद प्रतीत होने लगा।

उस समय अपनी सारी बातों के बारे में घृणा और तुच्छता लगने लगी। प्राचीन परंपरा से चिपके रहनेवाले कतिपय लोगों के हृदय में अंधश्रद्धा, पूर्वाचार्यों द्वारा बताए गए ज्ञान का विकृत संस्कार, वेद-वेदांत आदि राष्ट्र के चैतन्यमय ज्ञान का अज्ञान और विपरीत ज्ञान, भीरुता तथा अकर्मण्यता के कारण 'ना विष्णुः पृथ्वीपतिः' जैसे पवित्र विचारों को अपवित्र अर्थ देकर विदेशी राज्यकर्ताओं को विष्णु मानकर उनके सामने घुटने टेकने की जघन्य वृत्ति का संचार हुआ। तात्पर्य यह कि सभी क्षेत्रों में से स्वत्व नष्ट होने की भीषण अवस्था उत्पन्न हो गई। इस भयावह अंधकार में, तमोमय जीवन में आशा की किरण दिखाई नहीं देती थी। ऐसा लगने लगा कि सर्वनाश की घड़ी आ गई है।

ऐसी परिस्थिति में भारत की परंपरा के अनुरूप एक तेजस्वी ज्योति मानव-देह धारण कर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के रूप में अवतरित हुई।

महामंत्र का उद्घोष

अनेक ज्ञान-शाखाओं में लीलया संचार कर सकनेवाली प्रखर बुद्धिमत्ता उन्हें जन्म से ही प्राप्त हुई थी। ज्ञान-संपादन और ज्ञान-वितरण की मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति होते हुए भी राष्ट्र की मुख्य समस्या सामने होने से, रुचि की उस सहज प्रवृत्ति की ओर से उन्होंने जान-बूझकर मुँह फेर लिया और राष्ट्रोत्थान का कठोर व्रत स्वीकार किया। दासता के कर्दम में डूबे और उसी में सुख मानकर केवल आवेदन-प्रार्थना में ही जीवन की सार्थकता व राष्ट्र की परमोच्च सेवा माननेवाले समाज को झकझोर कर जागृत करने और विदेशी सत्ता से जूझते-जूझते दृढ़ता, निर्भयता, राष्ट्रार्थ सर्वस्वार्पण करने की वृत्ति-निर्माण करने का कठिन कार्य उन्होंने स्वीकार किया।

'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है'— यह घन-गंभीर गर्जना कर उन्होंने दासता के पंक में डूबे हुए देश-बांधवों को स्वतंत्रता-प्राप्ति के कर्तव्य का तीव्रता से बोध कराया। उन्होंने इस तेजस्वी महामंत्र का उद्घोष किया कि 'सुराज्य से स्वराज्य श्रेष्ठ', 'स्वतंत्रता से प्राप्त होनेवाली नमक-रोटी दासता के पंच-पकवानों से अधिक मधुर और कल्याणकारी है।'

स्वराज्य-प्राप्ति का लक्ष्य अपने सामने रखनेवाले उनके पूर्व भी हुए थे। श्री दादाभाई नौरोजी प्रभृति नेताओं ने भी इस लक्ष्य की घोषणा की थी। लोकमान्य तथा उनके पूर्व हुए और समकालीन अनेक लोगों का लक्ष्य (स्वराज्यप्राप्ति) समान ही था, यद्यपि उनके मार्ग भिन्न थे। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या लोकमान्य का अलौकिक विभूतिमत्व केवल इस बात में है कि उन्होंने प्रखर संघर्ष-मार्ग अपनाया। उग्र पंथ की बात सोचें तो शस्त्राचारी क्रांतिकारकों के मार्ग की तुलना में उनका रास्ता भी सौम्य लग सकता है, अर्थात् इस मार्ग में ही उनकी विशेषता या अलौकिकता समाई है— ऐसा नहीं कह सकते। फिर उन्हें असामान्य मानने का कारण क्या है?

इस प्रश्न का उत्तर इस महनीय बात में दिखाई देता है कि तत्कालीन छोटे-बड़े नेताओं की स्वराज्य और स्वराष्ट्र विषयक धारणा के अनैतिहासिक संभ्रम में उन्होंने स्पष्ट रूप से भारतीय राष्ट्र का स्वरूप दिग्दर्शित किया।

राष्ट्र संबंधी विकृत धारणाओं का निराकरण

हमारा अपना कोई राष्ट्रजीवन कभी नहीं था देश की अखंडता, एकता अपने हृदयपटल पर पहले कभी बिंबित नहीं थी, अपना समाज बहुविध भेदों से छिन्न-विच्छिन्न रहने से एकसंघ और एकरस नहीं था; अपने समाज के अतिरिक्त मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि भिन्न पंथ के लोग इसी देश में एक ही अंग्रेजी शासन के नीचे रहने से उनके-अपने हित-संबंध और भविष्यकालीन लक्ष्य-दृष्टिकोण समान ही हैं और इन सबका मिलकर एक नवीन राष्ट्र बना है या बन रहा है। आसेतु-हिमाचल अंग्रेजों के शासन-छत्र के नीचे आने के बाद से ही सर्वप्रथम हम लोग मानने लगे कि यह अपना देश एक है, अर्थात् यह देश 'उपमहाद्वीप' होकर अनेक भिन्न-भिन्न देशों का समूह है, परंतु एक साम्राज्य के नीचे आने से एकता का नया बोध अब होने लगा है। भिन्न भाषा, भिन्न पंथ तथा भिन्न-भिन्न

प्रादेशिक राज्यों के कारण यूरोप जैसा अपना भी बहुराष्ट्रीय जीवन था, जो एक राष्ट्र के नाते प्रथम बार ही प्रस्फुरित होने लगा है और यह नव-राष्ट्रनिर्मिति का उदय अंग्रेजी राज के विरोध में से हुआ है। पाश्चात्य राजनीतिशास्त्र से यह झूठी धारणा बनाकर कि राष्ट्र-संकल्पना प्रादेशिक, राजनैतिक, आर्थिक हित-संबंधों से निगड़ित है और अब हमें इस प्रकार का नया प्रादेशिक राष्ट्र बनाना है आदि धारणाएँ उस समय प्रचलित थीं।

इस कल्पना के कारण कि अपने पास राष्ट्रीय परंपरा, धर्म, संस्कृति, तत्त्वज्ञान आदि कुछ भी नहीं है, नए राष्ट्र में भिन्न-भिन्न पंथों का संघर्ष टालने के लिए धर्मरहित राष्ट्रभाव, सम्मिश्र संस्कृति की भ्रामक धारणाएँ जड़ जमाने लगी थीं। इसका अर्थ यह था कि अपना अत्यंत प्राचीन तथा श्रेष्ठ धर्म, तत्त्वज्ञान और संस्कृतियुक्त राष्ट्रजीवन नकार कर, इसके विपरीत नया निर्माण करने की लालसा में अपनी राष्ट्रपरंपरा खंडित हुई और प्रामाणिक राष्ट्रभक्ति और देशभक्ति का निर्माण होना असंभव-सा हो गया। इस स्थिति में सचमुच राष्ट्रोत्थान होना तथा उसके लिए सब प्रकार के संकट कष्ट झेलने की सामर्थ्य देनेवाली, राष्ट्र के लिए सर्वस्वार्पण की दिव्य भावना सर्वसाधारण व्यक्ति में पैदा होना सर्वथा असंभव था।

हिंदू-राष्ट्र का प्रतिपादन

लोकमान्य तिलक ने इस दुरवस्था में से राष्ट्र को उबारने के लिए, कभी स्पष्ट शब्दों में, तो कभी पर्याय से विशुद्ध हिंदू राष्ट्र का प्रतिपादन कर संभ्रम-संकुल नव-शिक्षितों का अचूक मार्गदर्शन किया। राष्ट्र-ज्ञान का संभ्रम इसी वर्ग में था और यही वर्ग सार्वजनिक जीवन में नेतृत्व प्राप्त कर बैठा था। इन लोगों को नेतृत्व प्राप्त करा देने में अंग्रेजों की कूटनीति ही कारणीभूत थी।

पुरानी परंपरा में पले लोगों की संकुचित और अकर्मण्य वृत्ति और उदासीनता का भी इसमें बहुत बड़ा हिस्सा था। इस प्रकार नेतृत्व प्राप्त आँग्ल-विद्याविभूषित लोगों का भ्रम-निवारण करना नितांत आवश्यक था, अर्थात् हिंदुओं का पुनरुत्थान; उनके धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक सब प्रकार के जीवन का सर्वांगीण पुनरुत्थान— यह अटल सिद्धांत उन्होंने व्यक्त किया। इसके लिए उन्होंने सार्वजनिक गणेशोत्सव व श्री छत्रपति शिवाजी महाराज का जन्मोत्सव प्रारंभ कर राष्ट्रजीवन के प्रवाह को प्राचीनकाल से चलते आए और निकटतम भूतकाल में श्री शिव छत्रपति के

रूप में उत्कटता से अभिव्यक्त हुए हिंदू राष्ट्र के पवित्र गंगौघ से जोड़ा। कोई केवल अनुमानों से संतुष्ट नहीं होगा, इसलिए अपने लेखों और भाषणों द्वारा असंदिग्ध रूप से हिंदू-राष्ट्र शब्द का प्रयोगकर भ्रांत धारणा के लिए कोई गुंजाइश नहीं रखी।

लोकमान्य तिलक के अल्पजीवी होने से और बाद में 'एक वर्ष में स्वराज्य' आदि जैसी मोहक, परंतु निराधार घोषणाओं से भ्रमित होने से हिंदू-मुस्लिम एकता की मृग-मरीचिका के पीछे पड़ कर नवशिक्षित संप्रदाय आज भी भ्रमसागर में किस तरह गोते लगा रहा है, यह सद्यःस्थिति का अवलोकन करनेवालों को स्पष्ट होगा।

इस भ्रांति के कारण भारत-विभाजन का अपमान, कश्मीर का विभाजन (प्रधानमंत्री पं. नेहरू के वक्तव्य से तो यही दिखाई देता है कि अब यह विभाजन पत्थर की लकीर बन गया है), लाखों देश-बांधवों का निर्वासन, उनकी व्यथा व यातनाएँ; असम, झारखंड, त्रावणकोर, कोचीन, मलबार आदि क्षेत्रों में सुलगनेवाला विद्रोह, पृथक होने की उनकी बढ़ती हुई माँग आदि असंख्य प्रक्षोभदायक घटनाएँ तथा अनेक लज्जास्पद शरणागति की योजनाएँ करने को वर्तमान शासनकर्ता और उनका कांग्रेस दल उद्युक्त होने का, पराकाष्ठा का दुःखदायी दृश्य निर्मित हुआ। आज भी वैसा ही होता हुआ भी दिख रहा है।

इस प्रकार की अनेक परंपराओं को समय पर ही रोक लगाकर उनका बीज ही नष्ट करने और हिंदू-राष्ट्र के इतिहास-पुनीत सत्य सिद्धांत का दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन करने में उनकी दूरदृष्टि अनुभूत होती है।

हिंदू-राष्ट्र का साक्षात्कार

लोकमान्य तिलक का प्रदीर्घ कारावास, उस अवधि में उनके विरुद्ध हुए षड्यंत्र, मुसलमानों का सौतेला-सूबा निर्माण करने की अंग्रेज और उनके चमचों की कुटिलता आदि उनके अपने वश के बाहर के कारणों के कारण राष्ट्र के सत्य स्वरूप के आविष्करण का उनका कार्य सब दूर पहुँच नहीं सका और बाद में उनके जैसी निर्भीक दृढ़ता से वहाँ तक पहुँचाने के लिए अदम्य उत्साह एवं तत्त्वनिष्ठा से कोई आगे आया नहीं, इसलिए हमें वर्तमान दुरवस्था तथा उसमें मत-मतांतर का कोलाहल देखने का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ है। परंतु तिलक जी ने अपने जीवन में इस सिद्धांत को संपूर्ण समाज में दृढ़मूल करने में कोई कसर नहीं रखी।

'भारत धर्म महामंडल' जैसी धार्मिक संस्था के अधिवेशन में भी, सभी पंथों के मठाधिप-महंतादिकों की एकता का प्रतिपादन करते समय हिंदूराष्ट्र' के पुनरुस्थान के लिए सारे मतभेदों को हजम कर एक धर्म, एक संस्कृति के ध्वज के नीचे सबको एकत्र होने का अंतःकरणपूर्वक आह्वान किया। यह स्पष्ट है कि उनके राजनैतिक जीवन, कार्य, नीति, योजनाओं के प्रेरणास्रोत का उद्गम हिंदू-राष्ट्र के साक्षात्कार में से हुआ था।

देशभक्ति का अधिष्ठान अध्यात्म

जिस प्रकार उनकी असाधारण विशेषता नवशिक्षितों को जागृत करने के लिए व्यावहारिक क्षेत्र में हिंदू-राष्ट्र के उद्घोष में प्रकट हुई, उसी प्रकार दर्शन की आड़ में कर्तृत्वहीन बने उदासीन अन्य जनों को कर्मयोग का अमृत पिलाकर उनके आलस्यादि दुर्गुणों का निर्मूलन करने के लिए 'गीतारहस्य' लिखने से उनकी लोकोत्तर प्रतिभा प्रकट हुई।

भक्ति, ज्ञान, संन्यास-धर्म के नाम पर निवृत्तिपरक शब्दों का जाल फैलाकर वृत्तिहीन बने शब्दज्ञानी व उनपर विश्वास रखकर चलनेवाली कोटि-कोटि भोली जनता की भ्रांत धारणा का निर्मूलन करनेवाले तथा निःस्वार्थ कर्मशीलता और राष्ट्रसेवा में जीवनार्पण का भक्ति व ज्ञान से विरोध नहीं है। इतना ही नहीं तो ये कर्तव्य ईश्वरार्पण बुद्धि से करना भी मोक्ष का एक स्वतंत्र तथा श्रेष्ठ मार्ग है, इसका तर्कशुद्ध सप्रमाण मंडन करना नितांत आवश्यक था। व्यावहारिक जीवन को भी शुद्ध तत्त्वज्ञान का आधार आवश्यक है, तभी वह व्यवस्थित और पवित्र हो सकता है। अध्यात्म-ज्ञान ही सत्य तत्त्वज्ञान है। ऐसी भारतीय परंपरा की धारणा है, इसलिए श्री समर्थ रामदास ने यह अनुशासन बताया कि 'आंदोलन में सामर्थ्य है और जो-जो आंदोलन करेगा उसे सामर्थ्य प्राप्त होगा, परंतु वहाँ ईश्वर का अधिष्ठान होना चाहिए'-

सामर्थ्य आहे चळवळीचे। जो जो करील तयाचे।
परि तेथे भगवंताचे अधिष्ठान पाहिजे।।

अधिष्ठान विरहित किया गया कर्म और उसका परिणाम आसुरीप्रवृत्ति का परिचायक है। उनसे राष्ट्र का सही कल्याण असंभव है। इसीलिए तिलकजी ने विश्ववंद्य श्रीमद्भगवद्गीता को आधारभूत मानकर इसका साधार विवेचन किया कि कर्मयोग के त्रिकालाबाधित सिद्धांत का उसमें किस प्रकार मंडन हुआ है, किंबहुना गीता का वही तात्पर्य कैसे है, अन्य

सभी भारतीय और अभारतीय मतों का संतुलित बुद्धि से विवेचन कर उनके गुणावगुणों का अध्ययन कर, दृढ़ता से प्रतिपादन किया कि गीता का वही तात्पर्य ग्राह्य है। ऐसा करके उन्होंने निःस्वार्थ, निरपेक्ष, निरलस, राष्ट्र-सेवा के कार्य में शुद्ध अध्यात्मज्ञान की मजबूत नींव डाली।

अध्यात्म की नींव न रहने पर संतुलन बिगड़कर स्वार्थ, अत्याचार, अनाचार, भ्रष्टाचार कैसे बढ़ते हैं और श्रेष्ठ कहे जानेवाले भी कैसे अधःपतित होते हैं, इसका असंदिग्ध प्रमाण है अपने निधर्मी राज्य का अत्यंत दुःखदायक वर्तमान राजनैतिक और अन्य सार्वजनिक जीवन। इस परिस्थिति को देखने के बाद इस बात का बोध होता है कि तिलकजी ने कितनी गंभीरता से विचार कर मानवी मन का अध्ययन किया था और क्यों जीवन के शाश्वत अधिष्ठान और आदर्श का कर्मयोग रूपी सिद्धांत अपने राष्ट्र-स्वातंत्र्य-प्राप्ति के कार्य में आधारभूत माना।

गीता पर लिखे गए और लिखे जा रहे अनेक भाष्यों का खंडन और स्वमत प्रतिपादन करते समय उनकी सत्यान्वेषण की निराग्रही विनम्रप्रवृत्ति सहजता से प्रकट हुई, वह तो उनके शुद्ध सुवर्णमय जीवन में अप्रतिम सुगंध के समान हृद्य है।

आजकल कोई भी संप्रदाय-प्रवर्तक या संप्रदाय-समर्थक बनकर अन्य मतों के श्रेष्ठ पुरुषों की अवमानना करने को उद्युक्त होता है। उसमें उसे न कोई संकोच होता है, न लज्जा होती है। उल्टे अधिक सांप्रदायिक कट्टरपन, उसमें से निर्माण होनेवाली संकुचितता, दूसरों की निंदा और द्वेष में ही गौरव समझने की प्रवृत्ति बढ़ती है। बड़े-बड़े विचारक भी इसके अपवाद दिखाई नहीं देते।

तिलकजी की विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता, विवेचनशक्ति, गहन विचार, धारणाशक्ति आदि गुणों के परमोत्कर्ष के साथ अन्य मतों का समुचित समादर करने की, उतनी ही उत्कृष्टता से प्रकट होनेवाली विनयशीलता देखने पर उनके अलौकिक दिव्यत्व पर विश्वास होता है और उनके सामने मस्तक अपने आप नम्र होता है ।

पवित्र स्मृति को प्रणाम

तिलकजी की निकट से जानकारी रखनेवाले अनेक सहृदय विद्वान् विचारकों ने उनपर स्तुति-सुमनों की मनःपूर्वक वर्षा की है। स्थल और काल– दोनों दृष्टि से उनसे सुदूर अंतर पर रहनेवाला मुझ जैसा अल्पज्ञ,

उनके अल्प प्रकाश से मार्गक्रमण करने की इच्छा रखनेवाला पर-प्रकाशित व्यक्ति उनकी श्रेष्ठता का यथार्थ आकलन कैसे कर सकेगा? परंतु उनकी जन्म-शताब्दी के पुण्यपर्व पर उनकी कीर्ति का गान अनेक सुविख्यात लोग करेंगे और उनके साथ, मैं भी 'वेडे वाकडे गाईन। परी तुझा म्हणवीन।।' (बिना सुर ताल मैं गाऊँ, फिर भी तेरा कहलाऊँ)- इस नाते से इन शब्दों की निर्गुण, निर्गंध पुष्पराशि उनके चरणों में समर्पित कर रहा हूँ।

हिंदू-राष्ट्र का घन-गंभीर उद्घोष, राष्ट्रकार्य को दृढ़ आध्यात्मिक अधिष्ठान देनेवाले ग्रंथराज गीता-रहस्य और उनकी सांप्रदायिकता शून्य निराग्रही, निरहंकारी वृत्ति के कारण वर्तमान अंधकारमय, भ्रमपूर्ण तमिस्र का भेद करनेवाला अमर तेजोमय ज्योतिरूप उनका जीवन अमर है। उनकी स्मृति को कोटि-कोटि प्रणाम कर, उनके दिव्य जीवन से आबालवृद्ध संपूर्ण भारतीय हिंदू-राष्ट्र की प्रेरणा ग्रहण करें और परमोच्च वैभव, श्रेष्ठतम गौरव तथा जगद्गुरुत्व प्राप्त कराने के लिए कटिबद्ध होकर प्रगतिपथ पर बढ़ें, यही इस पुण्यपर्व पर जगन्नियंता के चरणों में प्रार्थना करता हूँ।

२४. महामना पंडित मालवीय जी

(राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा महामना पंडित मदनमोहन मालवीय जी की जन्मशताब्दी के उपलक्ष्य में काशी के टाउन हाल मैदान में आयोजित समारोह)

मैं काशी हिंदू विश्वविद्यालय का छात्र रह चुका हूँ। जब मैं यहाँ पढ़ता था तब हिंदू विश्वविद्यालय के संस्थापक मालवीय जी ही उसके कुलपति थे। उनके पास कोई भी व्यक्ति, चाहे वह छोटा क्यों न हो, पहुँच सकता था। अपनी छात्रावस्था में मैंने उनके दर्शन किए हैं। बाद में विश्वविद्यालय में प्राध्यापक होने पर मैं उनके निकट संपर्क में आया।

जब महामना ७० वर्ष के हुए थे, तब उनके जन्म-दिवस समारोह में बड़े-बड़े भाषण हुए। मालवीय जी उत्तर देने के लिए खड़े हुए तब ऐसा लगता था कि वे किए गए स्तुतिगान से व्यथित हैं। उनका वह भाषण मननीय ही नहीं, स्मरणीय भी है। उन्होंने अपने भाषण में कहा- 'जो थोड़ा-बहुत जीवन बचा है, उसमें अनजाने में भी ऐसा कोई कार्य न हो,

जिससे भारतमाता का अपमान हो अथवा उसे हानि पहुँचे।' वे चाहते थे कि संपूर्ण जीवन देशसेवा में लगा दें। उस समय संपूर्ण शिक्षा-दीक्षा अधिकांशतः ईसाइयों के हाथ में थी। इन ईसाइयों के विद्यालयों से पढ़कर जो विद्यार्थी आते थे, वे अपनी संस्कृति को बेकार और अपनी भाषा को मृत समझते थे। यह स्थिति महामना को असहनीय लगी और इसी दृष्टि से उन्होंने विश्वविद्यालय की प्रस्थापना की।

विश्वविद्यालय का नाम 'हिंदू विश्वविद्यालय' रखा गया। आज तो हिंदू के नाम से ही लोगों को चिढ़ है। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में हुए उपद्रव के पश्चात् 'हिंदू और मुस्लिम' शब्द हटाने की बात उठाई गई है, किंतु क्या केवल 'मुस्लिम' शब्द को हटाने मात्र से भारतमाता का विभाजन कराने वालों की देशद्रोहिता समाप्त हो जाएगी? क्या यह सत्य नहीं कि आज भी धोती पहनकर जानेवाले व्यक्ति का मान-सम्मान अलीगढ़ विश्वविद्यालय में सुरक्षित नहीं रह पाता?

जहाँ तक काशी हिंदू विश्वविद्यालय का संबंध है, उसके जन्मकाल से लेकर आज तक क्या कोई यह कह सकता है कि यहाँ कभी वैसा उपद्रव हुआ है? हिंदू विश्वविद्यालय के निर्माता कभी किसी जाति का विरोध नहीं करते थे। शुद्ध राष्ट्रवाद की भावना से प्रेरित होकर ही हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना की गई थी। हमें स्मरण रखना चाहिए कि हिंदू विश्वविद्यालय किसी के विरोध में उत्पन्न हुई संस्था नहीं है।

महामना ने आग्रहपूर्वक 'हिंदू' शब्द को रखा था। जरा चुनाव से दूर रहकर विचार करें कि प्राचीनकाल से चला आनेवाला राष्ट्र कौन-सा है? वेदों के द्वारा जगत् में ज्ञान प्रसृत करनेवाले धर्म की जड़ें कहाँ हैं? इसकी जड़ें जहाँ हैं, वही हिंदू जीवन है।

प्रधानमंत्री ने कुछ दिनों पूर्व कहा था कि राजपूत पूर्व के हूण हैं। यदि ऐसा है, तब तो जिस प्रकार हूण आदि भारतीय समाज में घुल-मिल गए हैं, उसी प्रकार अन्य समाजों को इस राष्ट्रीय समाज में घुल-मिल जाना चाहिए। डेढ़ चावल की अलग खिचड़ी बनाने से काम नहीं चलेगा। राष्ट्र-गंगा में सभी धाराओं को समरस होना पड़ेगा, तभी भारत की एकात्मता कायम रह सकती है। महामना ने इसी दर्शन के आधार पर विश्वविद्यालय का नाम 'हिंदू विश्वविद्यालय' रखा था।

महामना की शताब्दी आज बहुत लोग मना रहे हैं। महामना की जन्म शताब्दी यदि इसलिए मनाई जा रही हो कि इससे उनको माननेवालों

के मत (वोट) प्राप्त हो सकेंगे, तब यह उचित नहीं है। यदि हम महामना का सचमुच सम्मान करते हैं तो उनके द्वारा स्थापित विश्वविद्यालय से 'हिंदू' शब्द हटाए जाने की कल्पना भी असह्य होनी चाहिए, अन्यथा महामना के प्रति प्रकट की गई श्रद्धा केवल शाब्दिक ही रह जाएगी।

२५. वंदनीय डा. बाबासाहब अंबेडकर

('गौरव विशेषांक' में ६ अगस्त १९६३ को माननीय बाबासाहब अंबेडकर की ७३वीं जयंती पर प्रकाशित)

आपकी इच्छा है कि मैं कुछ लिखूँ। आपने मेरा अत्यंत सम्मान किया है। इस सम्मान के लिए मैं पात्र नही हूँ, क्योंकि लेख लिखने का मुझे अभ्यास नहीं है, तथापि वंदनीय डा. अंबेडकर की पवित्र स्मृति को अभिवादन करना मेरा स्वाभाविक कर्तव्य है। भारत के दिव्य संदेश की गर्जना से संपूर्ण विश्व को हिला देनेवाले श्रीमत् स्वामी विवेकानंद ने 'दीन, दुर्बल, दरिद्र पीड़ित, अज्ञानग्रस्त भारतवासी मेरे ईश्वर हैं, उनकी सेवा करना तथा उनका सुप्त चैतन्य जगाकर उनका ऐहिक जीवन सुखपूर्ण तथा उन्नत करना सच्ची ईश्वरसेवा है,'– ऐसा कहकर अपने समाज की 'छुओ मत' की अनिष्ट प्रवृत्ति तथा उस प्रवृत्ति से संलग्न सब रूढ़ियों पर कठोर प्रहार कर संपूर्ण समाज को पुनः नई रचना करने का आह्वान किया था।

अन्य मार्गों तथा राजनैतिक और सामाजिक अवेहलना से क्षुब्ध होकर उसी आह्वान का प्रत्यक्ष पुरस्कार अन्य शब्दों में डा. बाबासाहब अंबेडकर ने आवेश से किया तथा अज्ञान-दुःख में पड़े हुए तथा अपमानित अपने समाज के एक बड़े और महत्त्वपूर्ण हिस्से को आत्मसम्मानपूर्वक खड़ा किया। उनका यह कार्य असाधारण है। उन्होंने अपने राष्ट्र पर जो श्रेष्ठ तथा अपार उपकार किया है, उससे उऋण होना कठिन है।

श्रीमत् स्वामी विवेकानंद ने श्रीमत् शंकराचार्य की कुशाग्र बुद्धि तथा भगवान बुद्ध के परम कारुणिक विशाल हृदय का समन्वय कर भारत का सच्चा उद्धार हो सकेगा, ऐसा मार्गदर्शन किया है। कहना चाहिए कि बौद्ध मत को स्वीकार तथा पुरस्कार कर इस मार्गदर्शन का महत्त्वपूर्ण

हिस्सा पूरा करने के कार्य को डा. अंबेडकर द्वारा तेज गति दी गई है।

उनकी विवेचक तथा कुशाग्र बुद्धि को तत्त्वज्ञान की दृष्टि से बौद्ध मत की त्रुटियाँ दिखती थीं, इसका उन्होंने उल्लेख भी किया है। परंतु व्यवहार की समानता, शुचिता तथा परस्पर संबंध की कारुण्यपूर्ण स्नेहमयता, इन सारे गुणों से प्राप्त होनेवाली मानवसेवा की विशुद्ध प्रेरणा, ये बौद्ध मत की श्रद्धा में से उत्पन्न होनेवाले लाभ, राष्ट्र तथा मानवता की उन्नति के लिए अनिवार्य हैं, यह जानकर हो सकता है कि उन्होंने आग्रह से ऐसे मत का पुरस्कार किया हो।

पूर्वकाल में समाजसुधार के लिए तथा धर्म का स्वरूप विशुद्ध करने के लिए, न कि पृथक होने के लिए, भगवान बुद्ध ने तात्कालिक समाज-धारणाओं की आलोचना की तथा सद्यःस्थिति में भी डा. बाबासाहब अंबेडकर जी ने समाज की भलाई के लिए, धर्म के हित के लिए, चिरंजीवी समाज निर्दोष तथा सुदृढ़ होने के लिए कार्य किया। उनका यह कार्य समाज से पृथक होकर भिन्न पंथ-निर्माण करने के लिए नहीं है, ऐसी मेरी श्रद्धा है। इसलिए भगवान बुद्ध के इस युग के उत्तराधिकारी के नाते उनकी पवित्र स्मृति का मैं अंतःकरणपूर्वक अभिवादन करता हूँ।

२६. पं. जवाहरलाल नेहरू

(मासिक पत्रिका अमृतलता हेतु जून १९६४ में लिखा गया लेख)

अपनी यह मातृभूमि बहुरत्नप्रसवा है। अनादिकाल से अनेक असामान्य महानुभावों ने इसकी कोख से जन्म लिया है, जिन्होंने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में दिशांत कीर्ति प्राप्त की, कुछ अलौकिक कार्य कर दिखाए और अपनी गरिमा से सारे विश्व को विस्मित कर, भारतमाता के चरणों पर नम्रता से नतमस्तक किया। ऐसे अलौकिक व्यक्तित्व की परंपरा अक्षुण्ण चली आ रही है। आधुनिक काल में अंग्रेजों के शिकंजे से भारत माँ को मुक्त कराने हेतु राजनितिक क्षेत्र में जिन महापुरुषों ने अथक प्रयत्न किए, असह्य कष्ट सहे, उनके स्मरण से, उनके प्रखर निष्ठामय त्यागमय जीवन से स्फूर्ति एवं प्रेरणा लेना प्रत्येक भारतीय का देशहितैषी परम कर्त्तव्य है।

इसी मालिका में हाल ही में दिवंगत, अत्यंत प्रभावी व्यक्तित्व के धनी आधुनिक स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री माननीय पंडित जवाहरलाल नेहरू का नाम उभरकर आता है। शायद उनके सभी विचारों से हरेक व्यक्ति सहमत हो। यह आवश्यक नहीं कि हर व्यक्ति, हरेक के हर विचार से सहमत ही हो। यह संभव भी नहीं है और न अपेक्षित ही है। जितने व्यक्ति, उतने विचार। पिछले करीब ३५ वर्ष से भारतीय राजनैतिक जीवन पर उनकी छाप थी। १८-१६ वर्षों तक महात्मा गाँधी के विश्वस्त सहयोगी और महात्मा जी के पश्चात् उनके स्वयं के तेज एवं स्वतंत्र कर्तृत्व का प्रभाव जनमानस पर अंकित हुआ, इसमें कोई संदेह नहीं। इसकी अनुभूति आज उनके अनंत में विलीन होने के पश्चात् भी देश के अनेकविध क्षेत्रों में होती है, इसी से उनके विभूतिमत्व को नकारा नहीं जा सकता।

मेरा उनका साक्षात्कार सन् १६४७ के भीषण कांड के समय हुआ। दिल्ली में अराजकता फैली थी, जिसका भयावह परिणाम हो सकता था, किंतु हिंदू जनता ने संयम तथा धैर्य से उसका प्रतिकार किया। महात्मा जी, वल्लभभाई पटेल तथा प्रधानमंत्री नेहरू ने दृढ़ता व संयम से काम लिया। इस कारण वह संकट टल सका। इसी समय मेरी उनसे भेंट हुई थी।

सदैव उदात्त विशाल-कल्पना विश्व में खोकर, उज्ज्वल भविष्य का चित्र रचनेवाले पंडित जी द्वारा समय की आपाधापी में इस सच्चाई को समझकर कि भारतीय जीवन में हिंदू धर्म, संस्कृति व इतिहास ही हमारा सत्त्व एवं रक्षणीय है यह सत्य प्रतिपादन करते देख मन प्रसन्न हुआ।

बाद में कई बार उनसे भेंट हुई, किंतु उस संकटपूर्ण वातावरण में भारत की, हिंदुत्व की अनुभूति जिस असंदिग्धता, स्पष्टता एवं अभिमान से उन्होंने व्यक्त की, उस प्रकार पुनः प्रगटीकरण का संयोग एवं अनुकूल परिस्थिति फिर नहीं आई। शायद उन्हें उसकी आवश्यकता नहीं लगी। संभवतः वातावरण थोड़ा शांत होने पर राज्यशकट तथा स्वयं का पक्ष (कांग्रेस) दोनों को सँभालने की जिम्मेदारी उनपर होने के कारण, अपनी उन भावनाओं को प्रगट करने से रोका होगा, अथवा उन्हें अन्य योग्य समय की प्रतीक्षा होगी।

उनके जीवन के एक गुण का मेरे मन पर गहरा प्रभाव हुआ। उनसे मिलने जाने के हर समय देखा कि उनके पीछे कार्य का अंबार, अभ्यागतों का ताँता, व्यस्त कार्यक्रमों का भंडार लगा रहता था। इन सब व्यस्तताओं के होते हुए भी हँसते हुए सोत्साह कार्यमग्न रहने की प्रवृत्ति

और एक व्यक्ति द्वारा इतनी व्यस्तता झेलते हुए अनेक विविध व्यक्तियों एवं प्रवृत्तियों को सँभालते हुए पूरे संयम से अपनी जोखिम भरी हर जिम्मेदारी निभाते हुए देखकर मैं आश्चर्यचकित हो गया। 'आराम हराम है' का घोषवाक्य उन्होंने जनता को दिया तथा स्वयं भी कार्य के बोझ में दबे रहकर बिना टालमटोल के, न थकते, न रुकते, अविश्रांत श्रम कर उपर्युक्त घोषवाक्य को स्वयं के उदाहरण से सार्थक किया। मन में विचार आया कि इस प्रकार अपने सुख, विश्रांति की चिंता किए बिना राष्ट्र की सेवा में अहर्निश लग जाना चाहिए।

मेरे अंतःकरण में उनकी यह स्मृति सदैव जागृत है। देश के लिए, राष्ट्र के लिए, जनता के लिए विकल होकर दिन रात कष्ट करने की प्रेरणा सभी देशवासियों को उनके चरित्र से मिलती है। यह प्रेरणा सदैव जागृत रहे इस हेतु आदरणीय पंडित जवाहरलाल नेहरू जी का स्मरण करना चाहिए। इसी की प्रेरणा देने के लिए उनकी स्मृति चिरकाल तक हम सब के अंतःकरण में अक्षुण्ण रहे।

२७. सहजमित्र श्री काशीनाथपंत लिमये

(महाराष्ट्र के पूर्व प्रांत संघचालक माननीय श्री का.भा.लिमये जी की ७०वीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में ६ सितंबर १९६४ को सांगली में हुए सत्कार समारोह में दिया गया श्रीगुरुजी का भाषण)

आदरणीय भाऊसाहब मोडक ने अपनी स्वाभाविक मर्मभेदी शब्द-प्रणाली का प्रयोग कर बताया है कि 'जो सिक्के खोटे होते हैं, वे ही चलते हैं। खरा सिक्का तो गंगाजली में जाता है।' यह वाक्य अपने काशीनाथपंत के जीवन के बारे में इतना सार्थक है कि उनके समग्र अंतर्भूत अर्थ को समझने का यदि हम प्रयास करें, तो अपना भी लाभ होगा।

अपने देश में राष्ट्रीय समाज के रूप में रहनेवाला अपना हिंदू समाज है। उसके राष्ट्र-जीवन की गंगा अनेक प्रकार के संकटों से घिरी है और इतस्ततः शाखा-उपशाखाओं में विभक्त होकर भटकती हुई दिखाई देती है। जिस प्रकार स्वर्ग से अवतीर्ण गंगा भगवान शंकर की जटा में लुप्त

होकर बाहर निकलने का मार्ग खोज न पाने के कारण शतशः विदीर्ण होकर मार्ग ढूँढने का प्रयास कर रही थी, उसी प्रकार अपने राष्ट्रजीवन की गंगा की अवस्था हुई है। उस शतधा विदीर्ण हुई गंगा के असंख्य प्रवाहों को पुनः एक प्रबल एवं विशाल प्रवाह के रूप में एकत्र कर, समग्र जगत् को आलिंगन देनेवाले महासागर में परिणत करने के लिए, आधुनिक काल में जो अत्यंत अथक प्रयास हुआ, उसका श्रेय अपने संघ के संस्थापक परम पूजनीय डाक्टर हेडगेवार जी को है।

गंगाजल के खरे सिक्के

सभी पंथ, जाति-उपजाति, संप्रदाय, बोलियाँ तथा भाषा बोलने वाले लोग अपने इस स्वत्व को भूलकर इस भ्रम में थे कि वे गंगा का प्रवाह नहीं हैं, उनका अलग अस्तित्व है। इन सारे प्रवाहों को एकत्र कर पुनः प्रबल राष्ट्र-गंगा को प्रवाहित करने के लिए भगीरथ परिश्रम करने का श्रेय डा. हेगडेवार जी को है। यह गंगाजल राष्ट्रीय स्वयंसेवक के रूप में अपने सामने अवतरित हुआ है। उस गंगाजली में काशीनाथपंत, खरे सिक्के जैसे समा गए, जबकि बाकी भटक रहे हैं। इसकी आवश्यकता नहीं है कि मैं उनके विषय में अधिक कुछ कहूँ। मैं इतना ही कहूँगा कि उनकी आयु के ७० वर्ष पूरे हुए हैं, इसका अर्थ यह नहीं कि उनकी आयु बहुत हो गई है। अभी तो बहुत आयु शेष है। परिपक्व जीवन का कालखंड अभी आगे आनेवाला है।

बचपन में मैंने एक अंग्रेजी कविता पढ़ी थी। अब वह पूरी स्मरण नहीं है, फिर भी उसकी दो-तीन पंक्तियाँ याद आती हैं। वे इस प्रकार हैं-

'ग्रो ओल्ड विद मी,
द बेस्ट ऑफ लाइफ इज यट टू बी,
द बेस्ट ऑफ लाइफ फॉर विच द फर्स्ट वाज मेड,
सी ऑल, नाट बी अफ्रेड'

(मेरे साथ वृद्ध बनो! जीवन का सर्वोत्तम काल अभी आनेवाला है। जीवन के इस सर्वोत्तम काल के लिए पूर्वार्ध का निर्माण हुआ है। बिना डरे समग्र जीवन की ओर देखो।)

इस प्रकार जो, 'द बेस्ट ऑफ लाइफ फॉर विच द फर्स्ट वाज मेड' और जिसे 'द बेस्ट लाइफ' कहा गया है, वह जीवन का परिपक्वकाल तो आगे ही है। इसलिए ऐसा समझना चाहिए कि जो जीवन बीत चुका है, वह

इस परिपक्व जीवन को सुव्यवस्थित बनाने की दिशा में संपूर्ण प्रयास के रूप में व्यतीत हुआ। पंत के जीवन में अब ऐसी अवस्था उत्पन्न हुई है कि सबको अमृतफल चखने को मिलने वाला है। इसलिए केवल आयु के ७० वर्ष पूर्ण करने के लिए उनका अभिनंदन किया जाए– ऐसी बात नहीं है। मैं भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि हममें से हर एक सत्तर वर्ष की आयु उत्तम रीति से सुदृढ़ रहकर पूर्ण करे तथा आगे के परिपक्व जीवन का उपभोग ले सके। वास्तव में जीवन की सार्थकता, उसकी उपयोगिता में है। इसलिए पंत के जीवन के इन ७० वर्षों में जो-जो घटनाएँ हमें दिखाई देंगी, उनसे हमें विदित होगा कि उनमें उनका कृतित्व प्रकट हुआ है। ऐसा एक अत्यंत उपयोगी जीवन और उससे परिपक्व बना हुआ अधिक उपयोगी कालखंड अब हम लोगों के सामने आनेवाला है।

सहज मैत्री का सूत्र

मुझे एक घटना का स्मरण होता है। नागपुर में रहनेवाले मेरे एक विद्वान मित्र ने अनेक वर्ष पूर्व मुझसे कहा था, 'मैं आपके लिए एक उत्तम अंग्रेजी ग्रंथ लाया हूँ। जिसका विषय है– मित्र कैसे प्राप्त किए जाएँ।' मुझे नहीं लगता कि काशीनाथपंत ने वह पुस्तक पढ़ी होगी। यहाँ हम लोग उनके प्रति अकृत्रिम स्नेह के कारण एकत्र हुए हैं। वस्तुतः मुझे लगता है कि 'मित्र कैसे प्राप्त किए जाएँ' जैसी पुस्तकें नहीं पढ़नी चाहिए। बड़े लोगों के अनुभवों से मार्गदर्शन हो इस हेतु किसी ने कुछ लिखा हो, तो केवल वही पढ़ा जाए, अन्य कुछ नहीं। घिसे-पिटे नुस्खों तथा स्थूल नियमों का जीवन में कुछ उपयोग नहीं होता। उनसे कृत्रिमता उत्पन्न होती है। मित्र भाव मन में न रहने पर भी होठों पर दिखावटी मुस्कान प्रकट करने की कला अवगत होगी, परंतु वह श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त नहीं होगा जिससे हृदय में अकृत्रिम मित्र-प्रेम का उदय होता है। वह ज्ञान अपने स्वयं के अनुभवों से तथा जीवन में प्रत्यक्ष आचरण करके प्राप्त करना पड़ता है। उसके लिए कष्ट सहने होंगे, गाँठ का पैसा खर्च करना पड़ेगा, परिश्रम करना पड़ेगा, अनेक प्रकार की पीड़ाएँ सहनी पड़ेंगी। इस सब के बावजूद अंतःकरण प्रसन्न रखना होगा।

यद्यपि अनेक अवसरों पर अनेक लोगों से वार्तालाप करते समय अपने काशीनाथपंत की वाणी में मधुरता प्रकट होती है, तथापि कई बार उनकी वाणी में तीखापन भी प्रकट हुआ है। अनेक लोगों ने प्रमाण दिया

है कि उनकी वाणी में माधुर्य भरा हुआ है। मैं भी वह प्रमाण दे सकता हूँ। मैं दूसरा प्रमाण भी दे सकता हूँ कि उनकी वाणी में इतना तीखापन भी है, जो साधारण मनुष्य को असहनीय है। इसलिए मुझे उनके प्रति अधिक आकर्षण है, क्योंकि उस बात में मैं भी उनसे कुछ कम नहीं हूँ। हम देखते हैं कि इतनी तीखी वाणी होते हुए भी उन्होंने बहुत बड़ा मित्र-परिवार और व्यापक आत्मीयता के संबंध निर्माण किए हैं। मुझे लगता है कि मित्रता के विषय में इधर-उधर के अपरिपक्व विचार ग्रहण करने की अपेक्षा उनके जीवन का अभ्यास ही क्यों न किया जाए?

मन में उत्कट आत्मीयता, समय पड़ने पर सब प्रकार के परिश्रम और सब प्रकार की हानि उठाकर दूसरों के अभाव को दूर करने की तत्परता के कारण ही अकृत्रिम, विशुद्ध अंतःकरण के मित्र अपने चारों ओर एकत्र होते हैं। मित्रत्व का नाता जोड़ने के लिए, पंथ, भाषा और जाति की समानता की आवश्यकता नहीं होती, वहाँ तो विशुद्ध आत्मीयता के प्रेमपाश में बाँधने की आवश्यकता है। मुझे लगता है कि यह जो बात श्री काशीनाथपंत के जीवन में प्रकट होती है, उसे हमें ग्रहण करना चाहिए।

मेरा दायित्व और अनुरोध

जिस एक राष्ट्रगंगा के प्रवाह को प्रबल करने का संकल्प लेकर अपना राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ कार्य कर रहा है, उसके लिए और कुछ नहीं तो कम से कम किनारे पर बैठकर, इधर-उधर भटकते दिखाई देनेवाले प्रवाह के पानी को इधर-उधर बिखरने से रोकने के लिए मिट्टी के दो-चार ढेले डालने का दायित्व मुझपर आ पड़ा है। मैं उस कर्तव्य में लगा हूँ। उस कर्तव्य के अनुसार मैं आप सबसे अनुरोध करता हूँ कि आप सब लोग यदि इस प्रकार मित्र-परिवार बढ़ाने के कार्य में अपने प्रत्यक्ष आचरण, अंतःकरण की प्रामाणिकता तथा शुद्ध हेतु से प्रयत्नशील हुए तथा अपने प्रयत्नों में पंथ, जाति, संप्रदाय, भाषा, पक्षोपक्ष आदि किसी प्रकार की दुर्गंध का स्पर्श नहीं होने दिया, तब सिद्ध होगा कि इस सत्कार-समारोह से हम लोगों ने अपना बहुत बड़ा लाभ कर लिया है।

अपने काशीनाथपंत को सब लोग 'मास्टर साहब' से संबोधित करते हैं। उनके प्रति मेरी आत्मीयता रहने का एक कारण यह भी है कि मैं भी परंपरा से अध्यापक रहा हूँ। आजकल मास्टरों के संबंध में सर्वसाधारण लोगों की यह धारणा है कि वह गरीब, बेचारा जीव है। इस

प्रकार का 'बेचारा' मास्टर आज अपने इस बड़े प्रांत के संघ-कार्य जैसे प्रबल संगठन के प्रमुख के नाते कार्य कर रहा है और अपनी वाणी से सहस्रों लोगों को मंत्रमुग्ध कर अपने साथ कार्य करने की प्रेरणा दे रहा है। 'हाऊ टू बिकम ए लीडर' ग्रंथ भी उन्होंने नहीं पढ़ा होगा। मैंने सुना है कि इंग्लैंड, अमरीका में चुने हुए लड़कों को विशेष प्रणाली द्वारा प्रशिक्षित कर उन्हें वक्ता अथवा नेता बनाया जाता है। ऐसा नहीं लगता कि ऐसी किसी प्रणाली द्वारा लिमये जी प्रशिक्षित हुए होंगे। तब यह नेतृत्व उन्हें कैसे प्राप्त हुआ? क्या केवल संयोग से ही?

मुझे स्वयं संयोग से नेतृत्व प्राप्त हुआ है। मुझमें न योग्यता है, न पात्रता और न ही मैं उस राह पर चल रहा था। परंतु पता नहीं कहाँ से एक धक्का लगा और मैं इस मार्ग पर आ पड़ा। संयोग की बात मुझपर लागू होती है। परंतु लिमये जी के संबंध में वैसा नहीं है। उन्होंने पेट काटकर, सब प्रकार के कष्ट सहकर, परिश्रमपूर्वक जनसेवा की है। जनता ने कभी उनका अभिनंदन किया हो, कभी कृतघ्न होकर उन्हें पीड़ा पहुँचाई हो। किंतु दोनों के सुख-दुःख को हजम कर वे कार्यरत रहे, जैसा अपने यहाँ गाए जानेवाले एक गीत में कहा गया है– 'अल्प जन अनुकूल हैं, पर सैंकड़ों प्रतिकूल भी हैं, किंतु सुख-दुख में सदा ही एक सी अभिनंदना ले बढ़ रहे हैं हम निरंतर'। उन्होंने समाज के साथ एकात्मता का अनुभव प्रत्यक्ष आचरण से प्रकट किया तथा समाज के लिए शारीरिक, मानसिक और आर्थिक कठिनाइयाँ सहीं, तब कहीं उन्हें यह नेतृत्व प्राप्त हुआ है।

हम लोग हिंदू-समाज को एकसूत्र में गूँथना चाहते हैं। कश्मीर से कन्याकुमारी तक नगरों, ग्रामों, वनों, गिरि-कंदराओं में रहनेवाले समस्त हिंदू-समाज को स्नेह के सूत्र में गूँथने का संकल्प जिसने किया हो, क्या वह अपने समाज के किसी बंधु से क्रोध कर सकता है? समाजसेवा एक महान तपस्या है और संघकार्य में उसका अत्यंत महत्त्व है। यह तपस्या जो कर सकता है, वह सहजरीति से जनता के सामने एक प्रामाणिक, निःस्वार्थ पथप्रदर्शक, अर्थात् सच्चे नेता के रूप में खड़ा होता है। काशीनाथपंत ने ऐसा ही नेतृत्व प्राप्त किया है।

सत्कार के शिकार

मैं समझता हूँ कि हमें उनसे समाज-सेवा का गुण ग्रहण करना चाहिए। हममें भी अनेक गुण सुप्तावस्था में होंगे। अतः हम परिश्रमपूर्वक सेवा भाव से अपने जीवन में समाज के साथ एकरूपता लाएँ। प्रत्येक की

भलाई के लिए सहजता से कष्ट उठाने की नित्य तत्परता रखकर और उसमें आनंद का अनुभव कर यदि हम आगे बढ़ेंगे, तो हमारे जीवन में भी बड़प्पन आएगा, भले ही कोई हमारा औपचारिक सत्कार करे या न करे।

मुझे लगता है कि किसी को यह अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए कि उसका सत्कार किया जाए। लोगों ने लिमये जी पर यह कार्यक्रम बलपूर्वक थोपा है और उसके वे 'शिकार' हुए हैं। सब लोगों के स्नेह के सामने वे 'ना' नहीं कह सके।

सम्मान की अपेक्षा न रखते हुए हम यह निश्चय अवश्य करें कि अपना जीवन उपयोगी, सर्वगुणों से युक्त, संपूर्ण समाज के साथ तादात्म्य की भावना से ओतप्रोत, सेवाभावी, कठोर परिश्रमी बने। ऐसे जीवन में से स्वयंभू नेतृत्व हममें प्रकट होगा। उसके परिणामस्वरूप एक अत्यंत उत्तम समाज-हितैषी के नाते निःस्वार्थ, निष्कपटता से समाज का मार्गदर्शन करनेवाला अपना जीवन बनेगा।

इस दृष्टि से प्रत्यक्ष रूप में एक कृतार्थ, यशस्वी और मार्गदर्शक जीवन अपनी आँखों के सामने है। इस जीवन का अवलोकन जितने अधिक दिनों तक, जितने अधिक समय तक हमें होता रहेगा, उतने अधिक काल तक उसका निकट से दर्शन करते हुए उनका मार्गदर्शन प्राप्त कर राष्ट्र की अनगिनत समस्याओं के समाधान तथा अपने समाज में असंख्य कार्यकर्ता निर्माण करने का हम प्रयत्न करें। जैसा पं. सातवलेकर जी ने कहा है– 'मनुष्य १२० वर्ष की आयु तक जीवन व्यतीत करे।' मैं भगवान के चरणों में प्रार्थना करता हूँ कि हम लोगों के मार्गदर्शन के लिए काशीनाथ पंत सुदीर्घ काल तक जिएँ।

२८. सत्य और धर्म के प्रतीक श्री लालबहादुर शास्त्री

(१३ जनवरी १९६६ को प्रधानमंत्री स्व. लालबहादुर शास्त्री जी को दिल्ली में दी गई श्रद्धांजलि)

मैं उस समय तेजपुर (असम) में था और नौगाँव के लिए प्रस्थान करने ही वाला था, तभी मेरे एक मित्र ने प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री जी

के देहांत का समाचार मुझे फोन पर सुनाया। थोड़ी ही देर बाद मैंने रेडियो पर सुना कि शास्त्री जी ने ताशकंद में शांति वार्ता के उपरांत दोपहर में एक समझौते पर हस्ताक्षर किए थे। रात्रि में सोने के समय तक वे स्वस्थ थे, किंतु मध्यरात्रि के पश्चात् उनको इतना जबरदस्त हृदयाघात हुआ कि कुछ ही मिनटों में उनका देहांत हो गया। यह घटना इतनी आकस्मिक और अनपेक्षित थी कि उसपर विश्वास करना कठिन था। किंतु ऐसी अवांछित घटनाएँ शायद ही झूठी साबित होती हैं। शास्त्री जी का देहांत हुआ, यह सच था। हैरानी इस बात की थी कि वह अपने देश से बहुत दूर, पराई भूमि में और अपने सब सगे-संबंधी, मित्र-परिवार, सहयोगी, सलाहकार और हिंतचिंतकों से काफी दूर रहते हुए दूर चले गए।

समाचार सुनकर मैं बहुत ही मर्माहत हुआ और आगे का प्रवास रद्द कर जिनपर हमने प्रेम किया, ऐसी मृतात्मा के अंतिम दर्शन हेतु दिल्ली जाने के लिए पहला हवाई जहाज पकड़ा। ईश्वर की कृपा है कि मैं यह कर सका।

व्यक्तित्व की ऊँचाई

जब उन्होंने देश के प्रधानमंत्री का पद सँभाला, उसके बाद उनसे मेरी भेंट पहली बार हुई थी। अपनी सादगी, विनम्रता और प्रामाणिकता से उन्होंने मुझे प्रभावित किया था। सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर खुले दिल से चर्चा करने का, अपने से अलग विचार को शांति से ध्यानपूर्वक, समझदारी से, सहानुभूतिपूर्वक सुनने का अलौकिक गुण उनमें था। अपने देशबंधुओं के कल्याण के संबंध में अनेक विषयों पर उन्होंने जिस तरह से बात की, उसे सुनकर मैं बहुत आनंदित था।

किंतु उसके बाद उनसे मिलने का मौका मुझे नहीं मिला। उनका व्यस्त होना तो स्वाभाविक ही था। वास्तव में उनका नाजुक स्वास्थ्य देखते हुए उनपर काम का अत्यधिक बोझा था। मैं भी उनके व्यस्त कार्यक्रमों में बाधा डालना नहीं चाहता था।

जिस संघटन का मैं एक नम्र कार्यकर्ता हूँ, उसके कार्य के लिए मुझे भी देश-भ्रमण करना पड़ता है। यह बड़ी ही दुर्भाग्य की बात है कि गत बार उनसे हुई मेरी भेंट, अंतिम भेंट सिद्ध हुई। मुझे लगा कि वे बहुत थके हुए हैं। दुबले तो थे ही। मैंने उनसे उनके बारे में कहा भी, किंतु स्वाभावानुसार उन्होंने स्मित हास्य करते हुए बात टाल दी और स्वास्थ्य

अच्छा होने का भरोसा मुझे दिलाया। अब वह दुर्घटना होने के पश्चात् मुझे ऐसा लगता है कि मेरे और अन्य लोगों के मन में चिंता निर्माण न हो, इसलिए उन्होंने वह बात कही थी।

उन्हें बहुत थोड़े समय के लिए प्रधानमंत्री पद का दायित्व सँभालने का मौका मिला। उनको अपने कार्यकाल की शुरुआत ही प्रतिकूल परिस्थिति में करनी पड़ी। उस समय नेहरू जी का देहांत हुआ था। उनकी लोकप्रियता की पार्श्वभूमि पर कुछ लोग ऐसा भी कहते थे कि नेहरू जी के बाद उनका स्थान लेनेवाला, देश की समस्याओं का निवारण करनेवाला कोई सक्षम नेता नहीं है, परंतु वह वास्तकिता नहीं थी। कुछ लोगों को ऐसा भी लगता था कि चीनी आक्रमण के पश्चात् निर्मित हुई कठिन स्थिति को शास्त्री जी सँभाल नहीं सकेंगे। किंतु उन्होंने वह सभी भविष्यवाणियाँ गलत सिद्ध कीं।

मतभिन्नता दूर करने की उनकी कुशलता, प्रामाणिकता, चरित्र, मातृभूमि को पुनर्वैभव प्राप्त करा देने की दृढ़ भावना के आधार पर उन्होंने अपने छोटे शरीर के बावजूद अपने लिए स्थान बनाया। भारत पर पाकिस्तान के आक्रमण के रूप में नियति ने उनको मौका दिया। उन्होंने जनता की नब्ज योग्य रीति से पहचानी और पाकिस्तान के सशक्त आक्रमण को परास्त करने के लिए कड़े निर्णय लिए और यश प्राप्त करने के पश्चात् भी विभिन्न देशों की इच्छा को सम्मान देते हुए शांति का रास्ता चुनकर सम्मान्य समझौता करने का भी प्रयास किया। यद्यपि हमारा शक्ति प्रदर्शन जायज था, फिर भी उन्होंने उसका मोह टाला।

पूरे देश को अनुभव हुआ कि चीनी आक्रमण के कारण हमारे स्वाभिमान को लगा धक्का निरस्त हुआ और विश्व में हमारे देश का सम्मान और प्रतिष्ठा बढ़ी। इसी वातावरण में श्री लालबहादुर शास्त्री जी की भी प्रतिष्ठा बढ़ी और देशवासियों के हृदय में उनको सदा के लिए प्रेम और आदर का स्थान मिला।

उन्हें शांति ही प्रिय थी। उसके लिए कार्य करने की उनकी इच्छा थी। पाकिस्तान जैसे पड़ोसी के साथ भी सौहार्द बना रहे यह उनकी इच्छा थी। शस्त्रसंधि के पश्चात् मेरी उनसे आखिरी मुलाकात हुई, तब उन्होंने मुझे शांति के संबंध में ही कहा। उनकी वही इच्छा थी और वह इच्छा ही उन्हें ताशकंद ले गई। हालांकि उन्हें मालूम था कि इन शांति-प्रयत्नों में से

कुछ निकलने की उम्मीद नहीं है। मुझे ऐसा लगा कि उन्हें वहाँ नहीं जाना चाहिए। प्रकट रीति से मैंने मेरे विचार व्यक्त भी किए। मुझे ऐसा भी लगा कि निमंत्रण टालने के लिए उन्हें कोई कारण मिलेगा। किंतु शांति-समाधान की उत्सुकता के कारण वे वहाँ गए। वह हमारी परंपरा के अनुसार ही था। सत्य और धर्म के प्रतीक युधिष्ठिर ने पूरे राज्य पर अधिकार होते हुए भी पाँच गाँव की अपमानास्पद पेशकश की थी।

सत्य और धर्म के प्रतीक

ऐसा लगता है कि ताशकंद समझौते के संबंध में भी ऐसा ही हुआ। विवाद सुलझाने के लिए युद्ध का मार्ग त्यागकर शांति स्थापित करने के लिए उन्हें कुछ कदम पीछे आना पड़ा होगा। उनके दुर्बल शरीर के लिए एक सप्ताह की ये सघन चर्चाएँ तनावपूर्ण थीं। मन पर भी उसका असर हुआ होगा और वह टूट गया। उन्होंने शांति के लिए अपने प्राण न्योछावर कर दिए। हम आशा और प्रार्थना करें कि वह शांति देवता अपने चंचल स्वभाव के अनुसार छिपा-छिपी के खेल इसके बाद न खेले।

शास्त्री जी का नाम इतिहास में लिखा जाएगा। इस महापुरुष ने युद्ध के समय अपरिमित धैर्य का परिचय दिया और देश ही नहीं पूरे विश्व में शांति और सदिच्छा के लिए मानवता का दर्शन दिया। उनका यह योगदान भी भूला नहीं जाएगा।

एक बड़ा ही प्यारा व्यक्तित्व चला गया। जो कभी एक साथ नहीं रह सकते, उनको भी जोड़नेवाली एक शक्ति समाप्त हो गई। उन्होंने अपने लिए इतिहास में जगह तो बना ली, किंतु एक रिक्तता निर्माण हो गई है। उसे भरने का प्रयत्न करना हम सभी का कर्तव्य है। हम आशा करें कि हमारी भावी पीढ़ियों को लालबहादुर शास्त्री जी की स्मृति प्रेरणा दे और ऐसे नररत्न निर्माण हों, जो उनके भी आगे जाएँ। वे गुणी व्यक्ति थे, जो योग्य जगह पर तब स्थानापन्न हुए थे, जब हमारे देश के सामने परीक्षा की घड़ी खड़ी थी।

जब वे जीवित थे, तब मैंने उनको अपना स्नेह और आदर अर्पित किया। अब, जब उनका वियोग हुआ है, मैं उनकी स्मृति के सामने विनम्रतापूर्वक नतमस्तक होता हूँ।

२६. हिंदू-राष्ट्र के उद्गाता सावरकर

(स्वातंत्र्यवीर विनायक दामोदर सावरकर जी के निधन के बाद ५ मार्च १६६६ को मुंबई में उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करने हेतु आयोजित सभा में दिया गया भाषण)

कुछ वर्ष पूर्व स्वातंत्र्यवीर सावरकर जी के जन्मोत्सव-प्रसंग पर उपस्थित होकर उनके सुदीर्घ जीवन की कामना करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। उन्हीं के जीवन की परिसमाप्ति पर उपस्थित होने का विचित्र प्रसंग आज मेरे समक्ष आया है।

महापुरुषों की अखंड परंपरा

अपने प्राचीन समाज की चेतना इतनी प्रबल है, इसमें इतनी श्रेष्ठता भरी हुई है कि ऐसा कोई कालखंड नहीं, जिसमें असामान्य और अलौकिक महापुरुषों ने जन्म लेकर अपने राष्ट्र का नाम उज्ज्वल न किया हो। यह अटूट परंपरा अतिप्राचीन काल से चलती आई है और आगे भी चलती रहेगी।

हिंदू सिद्धांत के अनुसार यह कहना ठीक नहीं कि कोई व्यक्ति श्रेष्ठता के अंतिम आविष्कार के रूप में उत्पन्न होता है, क्योंकि उसका अर्थ यही होगा कि अपने समाज की नए-नए श्रेष्ठ नररत्नों के प्रसव की शक्ति समाप्त हो गई है। अपने यहाँ के सभी जानकार लोगों ने कहा है कि अखंड रूप से महापुरुष हुए हैं, हो रहे हैं और आगे भी होंगे। श्री समर्थ रामदास ने कहा है– 'धर्मस्थापनेचे नर। तेचि ईश्वराचे अवतार। मागे झाले, पुढ़े ही होणार।।' (धर्मस्थापना करनेवाले पुरुष ही ईश्वर के अवतार हैं। वे पहले भी हो चुके हैं और आगे भी होंगे)। भूतकाल से लेकर वर्तमानकाल तक की जानकारी तो सभी को रह सकती है, परंतु भविष्य के अंधकार को चीरकर, अपने भाग्य में क्या लिखा है, यह देखने की शक्ति सामान्य मनुष्य में नहीं रहती। इसलिए उस विषय में तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता नहीं।

अपने सामने जो परंपरा है, उसमें यह दिखाई देता है कि समाज की प्रबल चेतना से देह का रूप लेकर एक विभूतिमत्व प्रकट हुआ और बाद में उसी चेतना में विलीन हो गया।

आना-जाना तो सभी का चलता है, परंतु कुछ लोगों का जन्म सभी के आनंद का विषय रहता है। उनके तिरोधान से अत्यंत दुःख तो होता है, परंतु समाज के लिए उनका जीवन गौरव का विषय बन जाता है। ऐसी ही एक असामान्य विभूति का स्मरण करने के लिए हम आज यहाँ एकत्र हुए हैं। अब केवल स्मरण करना और स्मरण के साथ ही उनके द्वारा दिग्दर्शित कर्तव्यपथ अपनाना ही अपने हाथ में है। उस श्रेष्ठ व्यक्ति के जीवन का पूरा चित्र आज यहाँ बताना आवश्यक नहीं, केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि वे बाल्यादारभ्य उग्र राष्ट्रभक्त थे। केवल राष्ट्रभक्त ही नहीं, उग्र राष्ट्रभक्त थे। चारों ओर दिखाई देनेवाले पारतंत्र्य के विषाक्त वायुमंडल के प्रति उनके हृदय को अत्यंत प्रखर चिढ़ और उसे समाप्त करने के उनके अतिप्रबल निश्चय से हम सब परिचित ही हैं। जो व्यक्ति राष्ट्र की ऐसी भक्ति करता है और जिसे किसी प्रकार का भय स्पर्श नहीं करता, वह उग्र और भीषण मार्गों का अवलंबन करने में कभी हिचकिचाता नहीं।

अपने इतिहास में पारतंत्र्य के विरुद्ध निरंतर संघर्ष कर, अंततोगत्वा विजय प्राप्त कर स्वातंत्र्यसूर्य का उदय देखनेवाले जो महापुरुष भूतकाल में हुए हैं, उनके मुकुटमणि के रूप में शिवाजी महाराज के संघर्षमय, निर्भय, पराक्रम आदि से भरे हुए जीवन का आदर्श सामने रखने के बाद निर्भय और उग्र राष्ट्रभक्त यह सोचता है कि शिवाजी महाराज के समान ही शस्त्रधारी विप्लव कर परकीय शासन को डुबो देना, नष्टभ्रष्ट कर देना अपना कर्तव्य है।

मातृभूमि के चरणों में समर्पण

स्वातंत्र्यवीर सावरकर जी ने इसी कर्तव्य को ध्यान में रखकर अपने संपूर्ण कार्य चलाए। अपनी वाणी, अपनी लेखनकला, सभी कुछ इसके उपयोग में लाना उन्होंने अपना कर्तव्य समझा। उन्होंने कहा था कि 'मैंने अपना वक्तृत्व, वाग्विभव आदि सब मातृभूमि के चरणों में समर्पित कर दिया है।' हम लोग जानते हैं कि उन्होंने अपने जीवन के प्रारंभ की अवस्था में जो बातें कहीं, वह उनके जीवन के अंतिम श्वास तक कायम रहीं।

हमारे देश में कुटिल नीति से भरे हुए अति चतुर परकीय लोगों का शासन था। उसमें उग्र मार्ग का अवलंबन करनेवाले लोगों के लिए सुख-शांति तो संभव ही नहीं थी। वैसे, सावरकर जी को प्रारंभ से ही कष्ट

भोगने पड़े थे। आगे चलकर तो उन्हें इन कष्टों की अग्निपरीक्षा से ही गुजरना पड़ा। उन्हें कालेपानी की सजा दी गई थी। कालेपानी के एकांतवास में भिन्न-भिन्न प्रकार के कष्ट सहते हुए, उनके कुछ सहयोगी इहलोक की यात्रा समाप्त कर बैठे, तो कुछ अन्य साथियों को उन्माद हो गया, अर्थात् वे पागल हो गए। स्वयं श्री सावरकर जी गंभीर रूप से अस्वस्थ हो गए थे।

आश्चर्य इस बात का होता है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के कष्टों में, रुग्णावस्था में, मातृभूमि के दर्शन का अवसर पुनः प्राप्त होता है या नहीं, इस प्रकार की घोर सशंक मनःस्थिति में भी मातृभूमि के प्रति समर्पित उनकी काव्यप्रतिभा, वाग्विभव वहाँ मंद नहीं पड़ा। इसके विपरीत वह अधिक मुखरित व अभिव्यक्त हुआ। सब प्रकार के कष्टों ने उन्हें दबाने का प्रयत्न भले ही किया हो, परंतु उनकी प्रखर तेजस्विता के सामने सब कष्ट फीके पड़ गए। उन कष्टों को चीरकर उनकी प्रतिभा फूट पड़ी। कोई साधन न होते हुए भी पत्थर की सहायता और स्मरणशक्ति, इन्हीं दो बातों के भरोसे, ऐसा स्फूर्तिप्रद, तेजस्वी काव्यपूर्ण साहित्य वहाँ सृजित हुआ, जो सारस्वत में, साहित्य में अमर बन गया।

भीषण कष्टों में भी अंतःकरण की स्फूर्ति केवल स्मरणशक्ति के बल पर मुखरित करना, प्रस्फुटित करना और आगे चलकर उन सब लोगों के लिए उसे समर्पित करना एक असामान्य बात है। अपने कष्टों को कोई भी व्यक्ति बड़ी तत्परता से कह सकता है परंतु स्वातंत्र्यवीर सावरकर जी के साहित्य में स्वतः के दुःखों का, कष्टों का कहीं भी वर्णन नहीं है। केवल एक ही विषय उसमें दिखाई देता है, कि अपने राष्ट्र का गौरवपूर्ण चित्र सबके सामने आए और उसकी चेतना जगकर स्वातंत्र्यसूर्य का उदय हो। आसन्नमरण अवस्था का आह्वान उन्होंने भय से नहीं, अपितु प्रेम से किया, जैसे वह मित्र हो, सहयोगी हो।

निद्रित समाज को जगाया

स्थानबद्ध जीवन में अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का अपहरण हो जाता है, अपने कर्तृत्व का कोई स्थान नहीं रहता। इससे मनुष्य का दुःखी होना स्वाभाविक ही है, परंतु दुःख करते बैठना कर्तृत्ववान व्यक्ति का लक्षण नहीं। स्वातंत्र्यवीर सावरकर भी दुःख करते बैठे नहीं रहे। उन्होंने समाज-जागरण के लिए लोगों को तंद्रा से, निद्रा से झकझोरकर जगाने का उद्योग प्रारंभ किया। संभव है कि वह झकझोरना समाज के कई लोगों को अच्छा न लगा

हो, कोई तिलमिला उठा हो, कई को त्वेष भी आया हो, परंतु जब कोई समाज मृतवत् पड़ा होता है, तब उसे मधुर संगीत से नहीं, झकझोरकर ही जगाया जा सकता है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके मन में समाज के प्रति भक्ति नहीं थी। समाज के प्रति प्रेम और भक्ति न होती तो इतना उद्योग करने की उन्हें आवश्यकता ही क्या थी? उन्होंने समाज को जगाने का जो प्रयत्न किया, वह समाज के प्रति भक्तिभावना के कारण ही किया।

अप्रतिम तेजस्विता

स्थानबद्धता से मुक्त होने के बाद संपूर्ण देश में उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। उस समय अगणित लोगों ने उनके विचार सुने। मैंने प्रवास करते समय अनेक स्थानों पर उनके उस समय के विचारों का वर्णन सुना है। लोग कहते थे 'इतने वर्षों तक अंदमान में कष्टदायक जीवन बिताने के बाद भी उनकी वाणी की तेजस्विता, विचारों की सुस्पष्टता में कोई अंतर नहीं आया। किंबहुना वाणी अधिक तेजस्वी हो उठी है। जैसे स्वर्ण अग्नि में गिरने के बाद मंद नहीं पड़ता, अपितु उसका तेज अत्यधिक निखरता है उसी प्रकार उनका तेज निखर उठा है।'

सावरकर जी के जीवन के अनेक आश्चर्यकारक पहलू दिखाई देते हैं। वे अनेक विषयों पर विचार किया करते थे। उन्होंने केवल राजनीति ही नहीं; साहित्य, इतिहास आदि के बारे में भी नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने इतिहास के तेजस्वी, ओजस्वी प्रसंगों को खोजकर लोगों के सामने रखा और चेतना जागृत करने का प्रयत्न किया। अपनी प्रतिभा का उपयोग उन्होंने प्रत्येक क्षेत्र में स्वाभिमान के पोषण की दृष्टि से ही किया।

हमें मालूम है कि राज्य स्थापना के बाद छत्रपति शिवाजी ने सामान्य व्यवहार में घुसे फारसी, अरबी शब्दों को निकालने का काम किया। उस समय की स्थिति का विचार करने पर दिखाई देगा कि फारसी, अरबी के बिना काम ही नहीं चलता था। छत्रपति शिवाजी महाराज ने मिलावट की प्रवृत्ति को दूर करने और अपनी भाषा को शुद्ध रूप में लाने का प्रयत्न किया। उनके काल का 'राज्य व्यवहार-कोश' प्रसिद्ध है। पंरतु उनके बाद यह प्रयत्न छोड़ दिया गया। इतना ही नहीं तो नित्य के व्यवहार में इतने अधिक फारसी शब्द घुस गए कि मराठी को मराठी कहना कठिन हो गया। इतना होने पर भी लोगों को इसका भान नहीं था। कई लोग तो

इसका समर्थन भी करते थे। कहते थे कि कैफियत, फैसला आदि शब्दों में काफी शक्ति है। एक मराठी नाटककार ने इसका उपहास करते हुए लिखा है कि 'वाह, काय जोर आहे या शब्दात।'

हाल की बात है। अपनी पत्नी का परिचय कराते हुए एक सज्जन ने मुझसे कहा, 'यह मेरी वाइफ' है। मैंने उनसे पूछा, 'आप कौन सी भाषा बोलते हैं?' तब वे सचेत हुए और बोले 'यह मेरी पत्नी है।' मैंने कहा, 'अब मेरी समझ में आया।'

स्वातंत्र्यवीर सावरकर जी ने यह आवश्यक समझा कि मराठी भाषा उपहास का विषय न बन जाए– इसलिए इतनी मात्रा में उसमें घुसे हुए अनिष्ट व अनावश्यक शब्दों को हटाकर अपनी भाषा को परिमार्जित स्वरूप में लाया जाए। भाषा की अशुद्धि के बारे में लोग कैसी-कैसी ऊटपटाँग बातें करते हैं, इसके अनेक उदाहरण उन्होंने दिए हैं, जिन्हें देखकर आश्चर्य होता है। इतना सूक्ष्म अवलोकन उन्होंने कब, कहाँ और कैसे किया? लोग समझते थे कि देश में चलनेवाले राजनैतिक अखाड़े और परकीय शासन से युद्ध करने में अपनी शक्ति का उपयोग करना ही पर्याप्त है। भाषा-शुद्धि जैसी बातों की क्या आवश्यकता है, वह तो आसानी से ही किया जा सकता है।

राष्ट्रजीवन के शुद्ध स्वरूप का इतना विचार किसी ने नहीं किया। किसी ने यह नहीं सोचा कि इन बातों की ओर ध्यान न देने पर मन राष्ट्र की विशुद्ध कल्पना से दूर चला जाता है। इसलिए यह आवश्यक होता है कि उसके विशुद्ध रूप को सामने लाकर यह देखा जाए कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वाभिमान अभिव्यक्त हो। जब यह होता है तभी स्वातंत्र्य का कोई मूल्य होता है। केवल राजनैतिक दास्य दूर होने से राष्ट्रजीवन का वास्तविक स्वरूप प्रकट नहीं होता। वास्तविक स्वातंत्र्य का अर्थ ही यह होता है कि राष्ट्रजीवन के अनुरूप मानसिक, बौद्धिक, रहन-सहन, बोलचाल आदि सभी पहलुओं में आमूलाग्र परिवर्तन हो, जिससे स्वाभिमान और स्वत्व का साक्षात्कार हो।

स्वातंत्र्यवीर सावरकर जी ने इसका पूरा विचार किया। उन्होंने सोचा कि छोटे-छोटे विषयों की ओर उपेक्षा और उदासीनता की वृत्ति अंततोगत्वा राष्ट्र को संकट में डालेगी। इस विचार से उन्होंने भाषा-शुद्धि जैसे छोटे विषय का आग्रह रखकर उसके दोषों पर आघात करना आवश्यक समझा। इसी दृष्टि से उन्होंने राष्ट्रजीवन के विचारों में शुद्धिकरण

का कार्य किया। यह उचित ही था।

हिंदू-राष्ट्र के उद्‌घोष का साहस

हम जानते हैं कि अपने यहाँ ऐसा माननेवाले कई व्यक्ति हैं कि यहाँ कोई प्राचीन राष्ट्र नहीं था, केवल आदमियों की भीड़ ही थी। अपना जो इतिहास है, वह भी राजा कहलानेवाले लोगों के आपसी झगड़ों के दुःसाहस से भरा हुआ है। एक मातृभूमि की धारणा, एक समाज का साक्षात्कार, एक राष्ट्रजीवन का ज्ञान यहाँ कभी नहीं रहा। इन लोगों का कहना है कि गत एक शताब्दी में जो राजनीतिक आंदोलन हुए, उससे ही यहाँ राष्ट्र-भावना का निर्माण हुआ। संसार के विभिन्न राष्ट्रों को अपना स्वतंत्र जीवन चलाते देखकर यहाँ नए राष्ट्र की कल्पना सामने आई, वह भी अंग्रेजों के शासन में रहनेवाले सभी लोगों को मिलाकर।

ये लोग यह विचार नहीं करते कि राष्ट्र कैसे बनता है? एक भूमि पर जन्म लेने से, एक परंपरा में संवर्धित होने से राष्ट्र बनता है, या केवल समान संकट, शत्रुत्व के कारण एकत्र आए लोगों से राष्ट्र बनता है? इसका परिणाम यह हुआ कि लोग 'राष्ट्र' शब्द का संभ्रमपूर्ण उपयोग करने लगे। राष्ट्र का संभ्रमपूर्ण विचार लेकर संसार में हम अपने सब वैशिष्ट्यों के साथ कैसे खड़े हो सकते हैं? अपने वैशिष्ट्यों का ज्ञान तथा स्वाभिमान न होने पर राष्ट्र का जो स्वरूप बनेगा, वह मिलावटी ही रहेगा।

देश में चारों ओर फैले हुए भ्रामक विचार को हटाकर तथा शुद्ध राष्ट्र का चिंतन कर राष्ट्र की सेवा हेतु लोग कटिबद्ध हो सकें, इसके लिए पूर्ण मौलिक विचार सबके सामने रखने का साहस स्वातंत्र्यवीर सावरकर जी ने किया। अतीव साहसी प्रवृत्ति के होने के कारण संभवतः उन्हें इसमें कोई बड़ी बात न लगी हो, किंतु उस समय यह एक साहस ही था। राष्ट्र के विशुद्ध स्वरूप को सबके सामने रखने के दृढ़संकल्प के साथ संपूर्ण भारत में घूमकर उन्होंने जिस हिंदू-राष्ट्र का उद्‌घोष किया, वह आज यद्यपि परिपूर्ण रूप से सफल न दिखाई देता हो, परंतु आगे चलकर अत्यंत अल्पकाल में ही उसकी सर्वत्र प्रबल घोषणा होती हुई और उसके अनुरूप प्रस्थापित हुआ जीवन हमें दिखाई देगा।

संभ्रम होने पर सत्य ही असत्य और असत्य ही सत्य माना जाता है। इसी कारण आज लोग हिंदू-राष्ट्र के विचार को सत्य के रूप में ग्रहण करते दिखाई न देते हों, परंतु सत्य के अनुकूल विचारों का प्रवर्तन अत्यंत

प्रभावी व तेजस्वी जीवन के प्रत्यक्ष स्वानुभवों से भरे प्रबल शब्दों में हो चुका है। अब वह रुकेगा नहीं। सत्य को कोई रोक नहीं सकता। उन्होंने जो कुछ कहा है, वह सिद्ध होकर रहेगा। इस विषय में किसी को कोई संदेह नहीं होना चाहिए। ऐसा संदेह भी मन में लाने का कोई कारण नहीं है कि विपरीत विचारों के कोलाहल में शुद्ध विचारों को लेकर चलने वाला नेता अब इस संसार से चला गया है, अतः इस सत्य विचार प्रणाली को आगे बढ़ाकर उसे सत्य-सृष्टि में कौन उतारेगा? ऐसी शंका का कारण नहीं, क्योंकि विशुद्ध विचारों का बल दिन-प्रतिदिन बढ़ता है और उससे एक महान शक्ति उत्पन्न होती है, जिसमें विरोधी विचार व विकार नष्ट हो जाते हैं। इसलिए यह बात अल्पकाल में अपने आप होगी, आज उसके चिह्न दिखाई देने लगे हैं।

कई बार होता यह है कि मनुष्य सिद्धांत बोलता है, वह सिद्धांत सत्य भी होता है, परंतु क्या करें, क्या न करें'— इस सोच में मनुष्य उस सिद्धांत के अनुकूल मार्ग से प्रयत्न नहीं करता। सावरकर जी के विषय में यह बात नहीं थी। वे केवल सिद्धांत कहकर ही नहीं रुके। उन्होंने यह विचार भी रखा कि कोई राष्ट्र खड़ा होता है, सुख, सम्मान पाता है, निर्भय रहता है, तो केवल तत्त्वज्ञान के आधार पर नहीं।

जब प्रभु रामचंद्र का जन्म हुआ था, उस समय बड़े-बड़े ऋषि, तत्त्वज्ञानी क्या कम थे? वशिष्ठ जैसे महान ब्रह्मर्षि भी थे। उन सबके होते हुए भी राष्ट्र का रक्षण नहीं हुआ। यह सुस्पष्ट है कि उसका रक्षण कोदंडधारी रामचंद्र के कोदंड से ही हुआ।

छत्रपति शिवाजी महाराज के पूर्व वे महाराष्ट्र में साधु-संतों की परंपरा चली आ रही थी। सब लोग भजन-पूजन, पंढरपुर की यात्रा आदि में बहुत मस्त थे, परंतु धर्मरक्षण के लिए अंततोगत्वा शिवाजी महाराज के खड्ग का ही आधार लेना पड़ा।

मुझे स्मरण है कि सन् १९४७ में जब यहाँ से अंग्रेजों का राज्य चला गया और हमें राज्य चलाने का अधिकार मिला, उस समय अनेक लोगों ने कहना प्रारंभ किया था— 'रणावीण स्वातंत्र्य आम्हा मिळाले।' अर्थात् स्वतंत्रता हमें युद्ध के बिना प्राप्त हुई है। परंतु यह कथन ठीक नहीं है। इतिहास हमें बताता है कि जिन्होंने क्रांतिकार्य का धुरा अपने कंधों पर लेकर प्रत्यक्ष युद्ध की ललकार लगाई और प्राण समर्पित करने तक की

तैयारी से कार्य करते रहे, उन्हीं लोगों के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप बड़े सैनिक-विद्रोह की संभावना निर्माण हो गई थी। इसका भी विचार करना चाहिए। नेताजी सुभाषचंद्र बोस प्रबल सेना लेकर अंग्रेजों को भारत से हटाने और अपनी मातृभूमि को मुक्त करने के लिए सिद्ध हुए, वह किस बात का परिणाम था?

स्वयं अंग्रेजों ने कहा है– 'यहाँ पर छोटे-छोटे सैनिक विद्रोह उत्पन्न होने की संभावना उत्पन्न हो गई थी। तभी उन्होंने समझ लिया था कि अब भारत में रहने की गुंजाइश नहीं है। जिस सेना के भरोसे वे यहाँ का राज्य चलाते थे, वह सेना ही उनकी नहीं रही थी। उन्होंने सैनिकों को जो बंदूकें दी थीं, वे उनपर ही तानी जाने लगी थीं। उन्होंने सोचा कि ऐसी हालत में सम्मानपूर्वक यहाँ से चले जाना चाहिए। इसलिए यह कहना ठीक नही कि 'रणावीण स्वातंत्र्य आम्हा मिळाले।'

एक बात और भी है। हम लोग लड़े न हों, हमने युद्ध न किया हो, फिर भी कहीं न कहीं युद्ध तो हुआ ही। हिंदुस्थान में न हुआ हो, हिंदुस्थान के बाहर तो हुआ। जैसा विप्लव इटली में हुआ था, वैसा हमारे देश में न हुआ हो, फिर भी जो प्रयत्न हुए उनके कारण अंग्रेजों की शक्ति क्षीण हो गई थी, यह वास्तविकता है।

जो राष्ट्र अपना जीवन स्वतंत्र, निर्भय, ससम्मान, सुखपूर्वक चलाना चाहता है, उसे अंततोगत्वा अपने स्वयं के सामर्थ्य पर ही खड़े रहना पड़ता है। किसी की सहायता मिली तो ठीक ही है, परंतु उस पर सर्वथा निर्भर रहना संकट को निमंत्रण देना ही है। इसलिए यह स्पष्ट है कि सामर्थ्य के बिना काम नहीं चलता।

राष्ट्र के संघर्ष में सामर्थ्य का प्रकटीकरण दो प्रकार से होता है। एक तो राष्ट्र की सैन्य शक्ति, याने क्षात्रबल से और दूसरा समाज के अंदर की प्रखर, तेजस्वी और सर्वस्वार्पण की सिद्धता से युक्त शक्ति से। इन दो शक्तियों से ही कोई राष्ट्र अजेय और संपन्न बनता है। क्षात्रवृत्ति से भरी हुई अतीव तेजस्वी सैनिक शक्ति और प्रखर राष्ट्रभक्तियुक्त सुव्यवस्थित समाज से अजेय राष्ट्र का निर्माण होता है।

इस तत्त्व का प्रसार अपने यहाँ दो महापुरुषों द्वारा किया गया। प्रथम डा. मुंजे थे, जिन्होंने सैनिकीकरण के लिए बहुत अधिक प्रयत्न किए। इस विषय में दूसरी अत्यंत प्रखर, प्रबल आवाज उठाई थी उस महापुरुष

ने, जिसकी पुण्यस्मृति में हम आज यहाँ एकत्रित हैं। इस महापुरुष ने अपनी प्रखर, प्रबल, तेजस्वी आवाज में कहा— 'समग्र हिंदूराष्ट्र क्षात्रवृत्ति से ओतप्रोत होना चाहिए। एक-एक आबालवृद्ध अत्यंत उत्कृष्ट निर्भय सैनिकी वृत्ति से खड़ा हो। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह सेना में हो अथवा न हो, परंतु सैनिक दृष्टि से वह सब प्रकार से सुशिक्षित हो।'

यह आग्रह कितना योग्य था, इसकी अनुभूति हमें अभी-अभी हुई है। बीच के कालखंड में चीन ने हम पर हमला किया। उस समय हमारे यहाँ कितनी अफरा-तफरी मची? लोगों को मालूम हो गया कि भाईचारा आदि बातों से काम नही चलेगा। सारा भाईचारा हवा में उड़ गया। चारों ओर सैनिकीकरण, सैनिकों की संख्या में वृद्धि, शस्त्रास्त्रों आदि की धूम मच गई थी।

हमारी विस्मरणशीलता

यदि पहले से ही उस ओर ध्यान दिया जाता, सर्वसाधारण समाज में उस प्रकार की वृत्ति का पोषण किया जाता, तो कितना प्रबल राष्ट्र-सामर्थ्य खड़ा हो सकता था। यह तो भगवान की कृपा है कि बड़े-बड़े कहलानेवाले लोगों को अब यह बात सूझी है। परंतु इतनी कृपा से काम नहीं चलेगा। मनुष्य बड़ा स्खलनशील और विस्मरणशील है। संकट के समय भी अपने यहाँ के शासन चलानेवाले बड़े-बड़े लोग कर्तव्य-दृष्टि से कितने विस्मरणशील हो जाते हैं, इसका एक उदाहरण बताता हूँ।

पिछले अगस्त-सितंबर में जैसे ही युद्ध विराम हुआ, तब मैंने समाचार-पत्रों में पढ़ा कि 'एम.पीज. फील रिलीव्ड', याने सांसदों ने सोचा कि झगड़े से मुक्त हुए। ये हमारे कैसे प्रतिनिधि है, जो तीन सप्ताह की लड़ाई से ही ऊब गए है, इससे तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी युद्ध इत्यादि की बातें केवल बहाना ही थीं। जबकि वास्तव में उन्हें लगता यही था कि किसी भी प्रकार से युद्ध बंद हो जाए। मुझे तो आश्चर्य होता है कि 'व्हाय दीज एम.पीज. शुड फील रिलीव्ड' (इन सांसदों को राहत की सांस क्यों लेनी चाहिए?)। युद्ध भले ही रुक गया हो, परंतु यह संकट फिर से न आए इसके लिए सब प्रकार की सिद्धता हेतु आगे बढ़ने का विचार छोड़कर 'दीज एम.पीज. फील रिलीव्ड' कहना तो उल्टी बात है।

प्रखर वाणी

समाज की विस्मरणशीलता को ध्यान में रखकर वस्तुतः यह सोचना

आवश्यक है कि युद्ध के कारण समाज में उत्पन्न जागृति को स्थायी कैसे बनाया जाए। 'अपने अंतःकरण को केंद्रित कर विस्मरणशीलता को नष्ट करो और आगे बढ़ो'– यह बतानेवाली सावरकर जी की अत्यंत प्रबल और शक्तिसंपन्न आवाज अब अपने पास नहीं रही। शारीरिक क्षीणता के बावजूद वह आवाज अत्यंत प्रबल थी। वह प्रबलता हममें से किसी की आवाज में भले ही न हो, परंतु सहस्रों आवाजों से हम वह प्रबलता अवश्य ही निर्माण कर सकते हैं। इसलिए हमारा दायित्व बढ़ गया है।

समाज की विस्मरणशीलता देखकर मुझे अनेक बातों की चिंता होती है। मैंने देखा है कि युद्धविराम के पहले जहाँ सैनिक भरती-केंद्रों पर सौ-सौ, दो-दो सौ युवकों की भीड़ लगी रहती थी, वहीं युद्धविराम के बाद बड़े-बड़े श्रेष्ठ नेताओं की बातों के कारण वायुमंडल ऐसा बदल गया कि इन भरती-केंद्रों पर १०-२० व्यक्ति दिखाई देना भी कठिन हो गया। लोग तो यहाँ तक बोलने लगे हैं कि सेना को वापस घर जाने के लिए कह देना चाहिए। मानो लोगों की सोचने की यह प्रवृत्ति ही बन गई है कि हरि-हरि करते हुए घर बैठो या फिर सत्यनारायण की पूजा करो। फिर कभी जब मार खाने की नौबत आएगी, तब देखेंगे।

यह शैथिल्य ठीक नहीं है। इस प्रकार की भावना अत्यंत हानिकारक है। सन् १८५७ के स्वातंत्र्य युद्ध में अपने सैनिकों ने सब प्रकार का शौर्य प्रकट कर ग्वालियर का किला जीत लिया। उन्हें किले में शस्त्रसंभार भी प्राप्त हुआ था। इसके बाद आवश्यकता इस बात की थी कि अपनी बढ़ी हुई ताकत से अंग्रेजों की सेना को नष्ट किया जाता। परंतु इसके विपरीत प्रत्यक्ष में हुआ यह कि विजय से अपने सैनिकों को इतना आनंद हुआ कि वे खानपान, रंगरेलियों में मस्त हो गए। परिणाम यह हुआ कि वे हार गए। इतना श्रेष्ठ, बड़ी दूरदर्शिता से तैयार किए गए स्वातंत्र्य-युद्ध का संपूर्ण आयोजन अपनी ही रंगरेलियों के कारण ध्वस्त हो गया। तात्पर्य यह कि शैथिल्य की भावना कभी लाभदायी नहीं हुआ करती। राष्ट्र के लिए वह अत्यंत हानिकारक होती है।

आज लोग कहते हैं कि हम तैयारी कर रहे हैं। सवाल उठता है कि हम कितनी तैयारी कर रहे हैं? इस तैयारी में दूरदर्शिता, कुशलता तथा सुरक्षा की जो दृष्टि रहनी चाहिए वह है क्या? अपने जो कारखाने हैं, वे सब सुरक्षित हैं क्या? इसमें कोई अवांछित व्यक्ति तो नहीं? समय-समय पर चोरी, विस्फोट आदि की जो घटनाएँ सुनाई देती हैं, उनसे तो ऐसा लगता

है कि अवांछित व्यक्ति बड़ी संख्या में हैं। ऐसे लोगों पर सूक्ष्म ध्यान है क्या? इसके साथ ही आधुनिक जगत् में जिस प्रकार की शस्त्र सामग्री चाहिए, उसका निर्माण करने के प्रति शासन के अधिकारी उत्सुक हैं क्या?

झूठा युक्तिवाद

सुना है कि आज के हमारे रक्षा मंत्री कहते हैं कि आधुनिक शस्त्रों की कोई आवश्यकता नहीं है, परंपरागत शस्त्रों से ही काम करेंगे। इस कथन के समर्थन में वे काफी युक्तिवाद भी करते हैं। वे तर्क देते हैं कि चीन अपने भारी टैंकों के साथ पहाड़ों को लाँघकर कैसे आएगा? बर्फीले मार्ग में तोपें, टैंक आदि वहीं के वहीं रह जाएँगे, उनको बंदूक से लड़ना पड़ेगा और वह तो अपने पास है ही, इसलिए परंपरागत शस्त्र ही पर्याप्त हैं आदि।

यह युक्तिवाद समझ में नहीं आता। मुझे स्मरण है कि नेपोलियन ने जब इटली को जीतने की इच्छा व्यक्त की थी, तब उसके सेनापति ने पूछा, 'मार्ग में आल्प्स पर्वत खड़ा है, उसको पार कैसे करेंगे?'

नेपोलियन ने कहा, 'देअर शैल बी नो आल्प्स।' अर्थात् मेरी सेना की गति को कोई रोक नहीं सकता।

शत्रु यही समझता रहा कि नेपोलियन इस दुर्गम मार्ग से आ नहीं सकता, जबकि उसकी पूरी की पूरी सेना शस्त्रों के साथ आल्प्स लाँघकर उनके सामने आ खड़ी हुई। शत्रु को विचार करने के लिए समय ही नहीं मिला। हारना ही उसकी नियति थी। हुआ भी वही। नेपोलियन को पूर्ण विजय प्राप्त हुई और उसने उस प्रांत को अपने साम्राज्य के साथ जोड़ लिया। जो आक्रमण करना चाहता है, वह सभी बाधाओं को पार कर लेता है।

चीन भी यदि चाहेगा तो वह अपने टैंकों को अवश्य उतारेगा। चीन के साथ मुकाबले में हमने देखा भी है कि अपने पास परंपरागत शस्त्र, याने बंदूकें थीं। एक प्रकार की बंदूक और दूसरी किस्म के कारतूस हो जाने के कारण अपने बहादुर सैनिकों के लिए शत्रु के सामने केवल मरने के लिए ही खड़ा होना पड़ा।

परंपरागत शस्त्र का अर्थ

विज्ञान के युग में, प्रगत संसार में परंपरागत शस्त्रों का अर्थ बदलता रहता है। प्राचीन काल में नख, दाँत आदि रूढ़ शस्त्र थे। बाद में

लाठी, धनुष-बाण, खड्ग जैसे संहारक शस्त्र रूढ़ हो गए। आजकल विमानों से विस्फोटक बम बरसाना रूढ़ हो रहा है। अपने लिए 'परमाणु अस्त्र' रूढ़ शस्त्र नहीं हो सकते, क्योंकि उन्हें बनाने की अनुकूलता या प्रवृत्ति अभी अपने यहाँ नहीं है। या फिर वे हमने बनाए ही नहीं। फिर भी आज नहीं तो कल वे रूढ़ हो सकते हैं।

इसके अतिरिक्त हम जिन्हें रूढ़ शस्त्र नहीं मानते, उन शस्त्रों के जिनके पास ढेर हैं, उनके लिए तो वे रूढ़ शस्त्र ही हैं। किसी भी क्षण वे उसका उपयोग कर देशों को भयभीत कर दास बनाएँगे, जिनके पास आज के ये रूढ़ शस्त्र नहीं हैं। अतः इन रूढ़ शस्त्रों की आवश्यकता को नहीं मानना अथवा अपने साथ कोई लड़ेगा नहीं, यह मानकर चलना शिथिलता का शिकार बनना है। इस प्रकार का विचार वास्तविकता के विपरीत है।

उसी प्रकार शस्त्रसंधि हुई, समझौता हो गया, याने सब कुछ हो गया, यह विचार भी राष्ट्र की सुरक्षा के लिए अत्यंत भयप्रद है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि संसार में कोई भी राजनैतिक समझौता 'यावच्चंद्रदिवाकरौ' कायम नहीं रहता।

श्रद्धा की अभिव्यक्ति कर्तव्य से

अपने अंदर घुसा हुआ यह शैथिल्य अत्यंत भयप्रद है। ऐसी परिस्थिति में हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि 'समग्र हिंदू समाज सैनिक शक्ति से संपन्न होकर खड़ा हो'— यह कहनेवाली उद्दीप्त वाणी आज अपने बीच नहीं है। ऐसी स्थिति में रोते बैठना ठीक नहीं। वह अपना काम भी नहीं। आज शोकसभा का अवसर होने पर भी मैंने रोने के विषय में एक अक्षर भी नहीं कहा। मेरे सौभाग्य से, अत्यंत निकटवर्ती लोगों के देहांत पर भी आँखों से अश्रु की एक बूँद तक मैंने गिरने नहीं दी।

रोने से श्रद्धा व्यक्त नहीं होती। वह तो कर्तव्य करने से व्यक्त होती है, योग्य मार्ग से, निरलसता से कर्तव्य करने से व्यक्त होती है। यह सोचकर भगवान से प्रार्थना है कि वह हमें केवल रोते बैठने की बुद्धि न दे, कर्तव्य करने का सामर्थ्य दे। ईश्वर की यह कृपा रहेगी भी।

आज उस समर्थ वाणी की प्रखरता अपने में न हो, पर यदि कोटि-कोटि वाणी को एक कर उसी तेजस्विता का आविष्कार करने के लिए कटिबद्ध हों, तो फिर कभी अपना महान राष्ट्र शत्रु के सामने सोया हुआ नहीं दिखाई देगा। अतः श्रद्धा व्यक्त करने का उचित मार्ग यही है कि

अपने समाज को जागृत, नित्यसिद्ध, शक्तिसंपन्न, शस्त्रों-अस्त्रों से युक्त व आवश्यक मनोवृत्ति के साथ खड़ा करने का निश्चय कर, तदनुरूप वायुमंडल बनाएँ और उस तेजस्वी वातावरण का चारों ओर विस्तार करें।

अपने सामर्थ्य के भरोसे खड़े होना राष्ट्र का स्थायी भाव होने के कारण, राष्ट्रजीवन के सभी पहलुओं का तेजस्विता के साथ आविष्कार और सामर्थ्य का अधिकाधिक मात्रा में निर्माण आवश्यक है। यह अपनी श्रद्धा है, यही वास्तविक श्रद्धांजलि है। इस श्रद्धा को हृदय में धारण कर कर्तव्यपथ पर आगे बढ़ें।

महापुरुषों का जीवन कष्ट से ओतप्रत

एक बात और ध्यान में रखें। अपना मार्ग सुगम है, जबकि स्वातंत्र्यवीर सावरकर जी का जीवन जन्म से अंत तक दुःख से भरा हुआ था। मानो भगवान ने उनका निर्माण कष्ट व दुःख भोगने के लिए ही किया था। भगवान रामचंद्र का निर्माण भी ऐसे ही किया गया था। उनको तो हम भगवान का अवतार मानते हैं। उनके जीवन की ओर देखें तो दिखाई देता है कि बिल्कुल बाल्यकाल में ही उन्हें विश्वामित्र की सेवा में जंगल जाना पड़ा। विवाह के बाद सौतेली माँ की इच्छापूर्ति और पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए राज्य को त्यजकर वनवास हेतु जाना पड़ा। वनवास में रावण ने उनकी पत्नी का अपहरण कर लिया। उसका दुःख और अपमान सहना पड़ा। रावण को मारकर और वनवास पूर्ण होने के पश्चात् राज्य-कर्तव्य में कोई आक्षेप न लगे, इसलिए आसन्नप्रसवा पत्नी का त्याग करना पड़ा। अंत में कालपुरुष से बात करते समय नियम का उल्लंघन हो जाने के कारण अतीव प्रिय बंधु लक्ष्मण का भी त्याग करने का भीषण दुःख उन्हें सहना पड़ा। जन्म से लेकर शरीर-त्याग तक संपूर्ण जीवन में सुख का कोई अनुभव ही नहीं। महापुरुषों का जीवन ऐसा ही रहता है। मुझे स्मरण हैं, ऐसे प्रसंगों पर होनेवाले विषाद के विषय में मैंने जब एक साधु से पूछा तो उसने कहा – इसमें दुःख काहे का? दुःख तो होता ही है, उसकी चिंता क्यों? रामचंद्र जैसे बड़े-बड़े महापुरुषों के जीवन भी दुःख से भरे हुए हैं तो फिर अपने दुःखों की चिंता, विषाद क्यों? आनंद से, दुःख-सुख से बने रहो।' यह बात जँचती भी है।

अगली पीढ़ी का मार्ग सुगम करें

सावरकर जी के ८० वर्ष के प्रदीर्घ जीवन में, उसे आज की तुलना

में प्रदीर्घ ही कहना चाहिए, प्रारंभ से अंत तक सुख का एक क्षण नहीं था। उनकी तुलना में अपना मार्ग सुगम ही कहा जाना चाहिए। हमें अनुकूलता बहुत है। अनेक प्रकार के दुःख भोगकर उन्होंने हमारा मार्ग सुगम बनाया है। लेकिन, सुगमता हो गई इसलिए घर में चुपचाप बैठना अच्छा नहीं। सुगमता है तो आगे बढ़ें। आगे का मार्ग सुगम बनाएँ, ताकि अगली पीढ़ी सुगमता से पदक्रमण कर सके। इसके लिए हमें श्रद्धा के साथ प्रयत्न करना चाहिए।

उस महाविभूति की प्रेरणा से राष्ट्र की सुस्पष्ट कल्पना, राष्ट्र के अधिष्ठान-स्वरूप सामर्थ्य का बोध प्राप्त कर, जीवन के सभी पहलुओं में विशुद्ध राष्ट्रजीवन अभिव्यक्त हो, इस भावना को हृदय में धारण कर हम अविरत प्रयत्नशील रहें। उस महापुरुष के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने की दृष्टि से अपने लिए यही उचित होगा कि हम इस प्रकार का दृढ़ निश्चय करके चलें कि अपने जीवन में सुख मिले या न मिले, राष्ट्र के सामर्थ्य का असामान्य और सर्वव्यापी स्वरूप प्रकट करने के लिए जीवन भर अपने प्रयत्नों में खंड नहीं पड़ने देंगे। उस महापुरुष के प्रति यही अपनी विनम्र श्रद्धांजलि हो सकती है।

श्रद्धांजलि के बड़े-बड़े वाक्य लिखना, शब्द कहना, काव्य लिखना उनके प्रति निष्ठा, प्रेम या आदर व्यक्त करने का पारंपरिक तरीका है। कुछ लिखना अच्छा ही है। यह उनके प्रति महान श्रद्धांजलि हो सकती है। आगे जानेवाली पीढ़ी जब उसे पढ़ेगी तो समझेगी। फिर भी आज उनके प्रति श्रद्धांजलि यह हो सकती है कि हम उनके प्रति श्रद्धा, आदर रखते हुए यह विचार करें कि उनके द्वारा चलाए गए कार्य को आगे बढ़ाना अपना काम है। राष्ट्र को जिस प्रबल अजेय शक्ति की आवश्यकता है, उसके निर्माण के लिए जीवन के अंत तक हम निरंतर प्रयत्नशील रहें।

जिस महान स्वप्न को देखते-देखते सावरकर जी ने शरीरत्याग किया, उसे साकार रूप में देखने का दिव्य क्षण नजदीक आया है, वह समीप दिख रहा है। अतः अपने प्रयत्नों के द्वारा हम इस प्रकार की स्थिति निर्माण करे कि जगत् उसका सम्मान करे। वह जीव इस पृथ्वी को छोड़कर अनंत से हमें आशीर्वाद देता दिखाई देता है। अधिक तेजस्विता के साथ हमें आगे बढ़ते हुए देखकर वह आनंदित होगा, पुलकित होगा। इसलिए इस दिशा में प्रयत्नशील रहना तथा परिश्रम करना ही उस महापुरुष के प्रति कृतज्ञतापूर्ण श्रद्धांजलि हो सकती है।

{१५९}

३०. श्री गोपाल कृष्ण गोखले

(स्वनामधन्य स्व. गोपाल कृष्ण गोखले की जन्मशताब्दी पर सन् १९६६ में लिखा गया लेख)

मानव समाज के इतिहास में बीच-बीच में ऐसे कालखंड अनुभव में आते हैं, जब किसी देश विशेष में अकस्मात् असामान्य श्रेष्ठ पुरुषों की मालिका प्रकट होती है। विशेषतः जब राष्ट्र संकटग्रस्त रहता है, यह अनुभव तीव्रता से आता है। जिस प्रकार भूगर्भ की धधकती ऊष्णता तथा दबाव के परिणामस्वरूप सामान्य कोयले या मूल्यहीन धातुओं में परिवर्तन होकर अमूल्य तेजःपुंज रत्नों का निर्माण होता है, उसी प्रकार पारतंत्र्य या अन्य संकटों के दुःख तथा अपमान की अग्नि से संतप्त सामान्य मानव-मन अलौकिक विभूतिमत्व में परिवर्तित होता है। सुखी जीवन में सुप्तावस्था में रहनेवाले समाज का गुणसमुच्चय संकटों के आह्वान से जागृत होकर, अनेक महापुरुषों के आविर्भाव के रूप में अभिव्यक्त होता है। संकटों की विभीषिका जितनी भीषण होती है, उतना यह असामान्यत्व निखर उठता है।

धर्मशक्ति एवं राष्ट्रशक्ति का जागरण

अपने राष्ट्र के इतिहास में ऐसे अवसर अनेक बार आए हैं, जब परकीय लोगों के धार्मिक, सांस्कृतिक तथा राजकीय आक्रमण से निराशाग्रस्त समाज की पददलित धर्मशक्ति एवं राष्ट्रशक्ति के जागरण का अनुभव देश के विभिन्न क्षेत्रों में एक साथ ही उत्पन्न हुए अतुल भगवद् भक्तों तथा उनकी प्रेरणा से उत्स्फूर्त वीरों के रूप में समय-समय पर हुआ है।

श्री चैतन्यमहाप्रभु के आविर्भाव के लगभग समकालीन संतों की मालिका उत्तरप्रदेश, पंजाब, महाराष्ट्र, तमिलनाडु आदि सब क्षेत्रों में उत्पन्न हुई। तत्पश्चात् महाराष्ट्र, पंजाब आदि में आक्रमणकारियों को परास्त कर स्वराज की गौरवमयी पताका को गगनमंडल में अभिमान से फहरानेवाले राष्ट्र-वीरों के पराक्रम का जो निर्माण हुआ, वह निकटवर्ती इतिहास में उपर्युक्त तथ्य का सुस्पष्ट असंदिग्ध प्रमाण है।

सन् १८५७ के महान स्वातंत्र्य-समर की विफलता; परकीय शासकों के द्वारा राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आदि जीवन के सभी क्षेत्रों पर आक्रमण; दासता के दृढ़ पाशों की जकड़ में श्वासोच्छवासावरोध

से राष्ट्रजीवन की आसन्नमरण जैसी कठिन परिस्थिति अपने देश में विगत एक शताब्दी के प्रारंभ से उत्पन्न हुई थी। आशा की कोई किरण दृग्गोचर नहीं होती थी। ऐसी घोर निराशा की तमिस्रा, सर्वदूर फैला हुआ वैफल्य, पराभूतता की दास-मनोवृत्ति, आत्मग्लानि, तदुद्भूत स्वत्व का निषेध एवं परकीय विजेताओं की जीवन-प्रणाली का अभिनंदन तथा उसके निकृष्ट अनुकरण के भयावह वायुमंडल से राष्ट्रजीवन व्याप्त था। ऐसा लगता था, मानो राष्ट्र के जीवन का अंतिम क्षण आ चुका है, विजेताओं का प्रभुत्व यावच्चंद्रदिवाकरौ रहेगा और भारत के अनादिकाल से चलते आ रहे पुनीत जीवनादर्श तथा जीवन-मूल्य सदा के लिए मिट जाएँगे और इस दुःस्थिति से छुटकारा पाने का कोई मार्ग नहीं है।

भारत का राष्ट्रचैतन्य मृत्युंजयी है

परंतु भारत का राष्ट्र-चैतन्य मृत्युंजयी है और चारों ओर अंधकार से आवृत्त वायुमंडल को आलोकित करनेवाली देदीप्यमान किरणों का प्रादुर्भाव करने की शक्ति से युक्त है। मृत्यु की विभीषिका की घोर निशा को चीरकर, चिरंजीव स्वातंत्र्य के प्रकाशपुंज भगवान सूर्य के उदय का आश्वासन देनेवाली तेजोमय किरणें सब क्षेत्रों में प्रकट होने लगीं। धर्म के क्षेत्र में श्रीरामकृष्ण-विवेकानंद, स्वामी दयानंद सरस्वती आदि; सामाजिक क्षेत्र में राजा राममोहन राय, महात्मा फुले प्रभृति भगवदंशसंभूत विभूतियाँ राष्ट्र में नवजागरण की सुखद लहरें उत्पन्न कर, आगामी स्वातंत्र्यसूर्य के आविर्भाव का आश्वासन दे रही थीं। फलतः प्रत्यक्ष राजनैतिक क्षेत्र में प्रारंभ में दबी आवाज से, परंतु क्रमशः पांचजन्य सदृश शत्रुहृदयों को भयकंपित करनेवाली प्रचंड गर्जना से राष्ट्रसत्त्व उद्घोषित होने लगा।

जिन महापुरुषों ने परिस्थिति की प्रतिकूलता की अवहेलना कर निर्भयता से यह पवित्र उद्घोष किया था, उनमें स्वनामधन्य श्री गोपाल कृष्ण गोखले जी का स्थान बहुत ऊँचा है। उनके जीवन में जो गुणसमुच्चय प्रकट हुआ, वैसा थोड़े ही लोगों में देखने को मिलता है। प्रकांड विद्वत्ता, उसके बल पर धनोपार्जन की क्षमता होते हुए भी और प्रभूत वेतन के रूप में धनप्राप्ति होने पर भी, स्वयंस्वीकृत अल्पसंपत्ति मात्र ग्रहण करने के नियम को जीवन में उतार कर, उसके परिपालनरूप त्याग, राष्ट्र की उत्कट भक्ति, विशुद्ध चारित्र्य आदि अनेकविध गुणों के निधान के रूप में वे आगामी पीढ़ियों के पथप्रदर्शक के रूप में उपस्थित हैं। उन्होंने यह सप्रमाण

सिद्ध किया कि परकीय शासन आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक– सभी पहलुओं से विनाशकारी होता है। सप्रमाण सिद्ध करने की उनकी कुशलता अनुकरणीय है। उन्हें जिस किसी प्रश्न पर अपना मत प्रकट करने की आवश्यकता प्रतीत होती थी, उसका सांगोपांग अध्ययन कर, पूर्ण प्रमाण यथार्थ आँकड़ों सहित समुपस्थित कर, अकाट्य युक्तियों से अपने मत का समर्थन करने की तथा स्वातंत्र्य की अनिवार्य आवश्यकता का प्रतिपादन करने की उनकी शैली अनुपम थी। आज बड़े-बड़े नेता, मंत्री अपने विषयों पर उद्भूत प्रश्नों का सीधा सप्रमाण उत्तर न देते हुए टालमटोल करते हुए दिखाई देते हैं। इस दुःखदायी, लज्जास्पद दृश्य से सब परिचित हैं ही। इस अवस्था में श्री गोपाल कृष्ण गोखले जी के चरित्र से आज के देश के नेता, शासक तथा विरोधी दलवाले भी यदि यह शिक्षा ग्रहण कर अपने-अपने विषयों का पूर्ण अध्ययन करें और समाज को गोलमाल उत्तरों से भ्रमित न करते हुए सच्चा चित्र उपस्थित करने का निश्चय करें, तो उनकी प्रतिष्ठा तो बढ़ेगी ही, राष्ट्र का भी बहुत कल्याण होगा।

चारित्र्यहीनता का संकट

आज सर्वत्र भ्रष्टाचार, अवैध मार्गों से धनसंचय आदि के आरोप बड़ों-बड़ों पर किए जा रहे हैं। ऐसे आरोपों को सर्वथा मिथ्या सिद्ध कर सकने योग्य निष्पक्ष जाँच भी कई बार टाल दी जाती है, जिससे आरोप सत्य हो सकने की धारणा जनसाधारण में फैलती है। 'यथा राजा तथा प्रजा'– इस न्याय से नेताओं के चारित्र्य के प्रति साशंक समाज में सद्गुणों के प्रति अनादर, अनीति, भ्रष्टाचार आदि मानो जीवन के स्थायी भाव हैं, उनका अनुसरण करने में कोई दोष नहीं है– ऐसी अत्यंत अनिष्ट और राष्ट्रविघातक भावना, दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। नेतागण अपने आदर्श के रूप में नाम तो पुनीत चरित्र महात्मा गाँधी, भगवान बुद्ध का पुकारते हैं, भाषण-उपदेश भी श्रेष्ठ करते हैं, चरित्र्यहीनता का संकट होने की चेतावनी भी देते हैं, किंतु प्रत्यक्ष व्यवहार स्वयं के भाषणों और उन श्रेष्ठ व्यक्तियों के अनुरूप होता है, कहना कठिन है।

यदि महात्मा गाँधीजी को अपना गुरु मानकर उनके चरित्र का अनुसरण करना उचित है, तो प्रत्यक्ष महात्मा जी ने जिन्हें अपना गुरु माना, उन श्री गोपाल कृष्ण गोखले महाशय के चरित्र को नित्य स्मरण में रखकर, उनके अनेकविध गुणों को चरितार्थ करने का प्रयास करना सबका परम कर्तव्य है।

राष्ट्र-समर्पित जीवन

श्री गोपाल कृष्ण गोखले जी ने 'सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसायटी' के आधार-स्तंभ के रूप में अपना जीवन लगाकर, अपनी विपुल आय में से कुटुंब के जीवन-धारण मात्र के लिए आवश्यक न्यूनतम मर्यादा निर्धारित कर, शेष धन उक्त सोसायटी के द्वारा राष्ट्रहित में समर्पित करने का जो उज्ज्वल उदाहरण उपस्थित किया है, क्या वह अनुकरणीय नहीं है?

अंग्रेजों के राज्य के विरोध में जिन महानुभावों ने सर्वस्व का होम करने का निश्चय व्यवहृत किया, क्या अंग्रेज-राज्य के जाते ही उस निश्चय का परित्याग उचित या विहित है? क्या त्याग की महिमा को त्यागकर, भोगप्रवणता तथा निकृष्ट स्वार्थ का स्वीकार राष्ट्र-हितकारी प्रगति का लक्षण है? यदि नहीं, तो श्री गोपालकृष्ण गोखले जैसे गुरु के शुचि, त्यागमय, राष्ट्रसेवी जीवन को आदर्श के रूप में समुपस्थित कर अपना जीवन सच्चे अर्थ में राष्ट्र-समर्पित बनाने का अविरत प्रयत्न आवश्यक है।

राष्ट्र को दास्यमुक्त करने के लक्ष्य के रूप में ब्रिटिश साम्राज्यांतर्गत स्वराज्य का ध्येय श्री गोपालकृष्ण गोखले जी ने रखा था, जिसे 'नरम दल' कहकर कुछ उपहास भी किया जाता था। उनके इस लक्ष्य को अमान्य कर पूर्ण स्वातंत्र्य का उद्घोष करनेवालों और तत्प्राप्त्यर्थ उग्र आंदोलनों का आह्वान करनेवाला 'गरम दल' अधिक प्रभावी तथा लोकप्रिय बनकर द्रुत गति से संपूर्ण राजनैतिक क्षेत्र पर प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हुआ। 'गरम दल' के इन आंदोलनों का स्वरूप देशव्यापी बनाने का श्रेय महात्मा जी को है। उन आंदोलनों की परिणिति देश की अंतर्गत परिस्थिति तथा जागतिक परिस्थिति (जो द्वितीय महायुद्ध के उपरांत उत्पन्न हुई थी) के प्रभाव स्वरूप भारत से अंग्रेजी राज्य के अस्त होने में हुई।

किंतु तब तक विचारों में इतना परिवर्तन हो चुका था कि जिन महानुभावों ने संपूर्ण स्वराज्य की घोषणा की थी, उन्होंने ही साम्राज्यांतर्गत स्वराज के ही एक रूप को स्वीकार किया। इतना ही नहीं, इस प्रकार ब्रिटिश राष्ट्रकुल के घटक राष्ट्र के नाते गौणता प्राप्त होती है– ऐसा कहने वालों के मतों की अवहेलना कर, ब्रिटिश राष्ट्रकुल के घटक के रूप में रहना ही लाभदायी एवं सुरक्षाप्रद होने का दावा कर, इस व्यवस्था का समर्थन भी उन्हीं महानुभावों ने किया। यह श्री गोपाल कृष्ण गोखले जी के मत का समर्थन ही है।

आज जब नेतृत्व सामान्य श्रेणी के, सामान्य बुद्धि, न्यूनतम विशुद्धता एवं अल्प त्यागभाव के लोगों के हाथों में आया है, तब श्री गोपाल कृष्ण गोखले की असामान्य प्रतिभा, ज्ञान, उद्योगशीलता, अध्यवसाय, विशुद्ध चारित्र्य एवं स्वेच्छा से अंगीकृत दारिद्र्यरूप त्याग का नम्रतापूर्वक अभिनंदन कर, उनके पदचिह्नों पर चलने के लिए सब देशवासी कृतसंकल्प हों, यह नितांत आवश्यक है।

परम मंगल श्री परमेश्वर के चरणों में मेरी यही प्रार्थना है कि श्री गोपाल कृष्ण गोखले जी की स्मृति चिरंतन रहे और हम सबको उससे मार्गदर्शन प्राप्त होता रहे। साथ ही हम सब देशवासियों को उनके भव्य उदात्त चरित्र का अनुसरण कर सुयोग्य राष्ट्रभक्त बनने की प्रेरणा तथा शक्ति प्राप्त हो। इति शम्।

३१. वेदाचार्य गोविंदशास्त्री फाटक 'गुरुजी'

(वेदाचार्य गोविंदशास्त्री फाटक 'गुरुजी' की प्रतिमा पुणे विद्यापीठ को अर्पित की गई। उक्त अवसर पर आयोजित समारोह में २२ अगस्त १९६६ को दिया गया भाषण)

अपने समाज में आज तक अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए हैं। उसके परिणामस्वरूप आज अपने समाज की रचना बहुविध प्रमाण में टूटी-फूटी दिखाई देती है। प्राचीनकाल की शिक्षा नष्ट हो गई। स्वाभिमान नष्ट हो गया और उसके स्थान पर 'भिक्षां देहि' की प्रवृत्ति दिखाई देती है। अपना यह देश हजारों वर्षों से अत्यंत समृद्ध व कृषिप्रधान रहा है, परंतु आज वह अनाज के लिए भीख माँगने की निकृष्टावस्था में आ पड़ा है। कामधेनु समझी जानेवाली इस पुरातन भूमि को अनाज के लिए भीख माँगने के समान लज्जास्पद अन्य कोई बात नहीं। वैसे ही जिस देश में हजारों वर्षों से ऋषि-मुनि एवं ज्ञानी तत्त्ववेत्ताओं ने अथाह ज्ञानराशि संचित कर रखी थी, वह ज्ञान के लिए दर-दर भटक रहा है।

इन अत्यंत प्रतिकूल परिस्थितियों में से हमें अपनी ऊर्जितावस्था प्राप्त करनी है। इसके लिए स्वत्व का अभिमान जागृत करना होगा। समाज के विद्वान पुरुषों का आदर कर उनके ज्ञान का उपयोग करना होगा। ऐसा

करने पर ही हमारा उत्कर्ष संभव है।

अपनी परंपरा में अनेक असामान्य महत्त्व की बातें हैं। सब का मूलाधार 'वेद' प्रचंड ज्ञान का भंडार है। अनेक वर्षों तक वेदाध्ययन की परंपरा हमारे यहाँ बनी रही। उसके पश्चात् भिन्न-भिन्न संप्रदायों का निर्माण हुआ, किंतु उनके प्रवर्तकों ने अपने उत्तरदायित्व का अनुभव नहीं किया।

'मैं (प्रवर्तक) जो कहता हूँ वही सत्य है, अन्य कुछ देखने की आवश्यकता नहीं'– इस प्रवृत्ति में से वेदों के बारे में अनास्था का निर्माण हुआ। अपने यहाँ जैन, बौद्ध इत्यादि पंथ व संप्रदायों की उत्पत्ति हुई। इन सबने वेदों को प्रमाण नहीं माना। इन संप्रदायों ने केवल अपने संप्रदाय के लिए प्रसिद्धि एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करने का प्रयास किया। शेष अन्य लोगों ने भी वेदों का अभ्यास नहीं किया। यह अत्यंत क्लेशकारक घटना है।

अपने धर्मशास्त्र के अनुसार धर्म, विद्या एवं सदगुणों के संवर्धन का उत्तरदायित्व ब्राह्मणों पर सौंपा गया है। ब्राह्मण, यह ब्राह्मणपद जन्म से नहीं तो पांडित्य, संस्कार और ग्रंथ प्रामाण्य से प्राप्त करता है। आज सर्वसंगपरित्याग कर ब्राह्मण यह पद प्राप्त न कर सके हों, तब भी ज्ञान की उपासना करनेवाले ब्राह्मण को ऐहिक सुख एवं ऐश्वर्य की अपेक्षा करना योग्य नहीं।

इस देश में अनेक लोग विभिन्न मार्गों से धनवान हुए। धन प्राप्त करने के लिए अनेक लोगों ने प्रचंड परिश्रम किए हैं, परंतु उन्होंने ज्ञान की उपासना के स्थान पर भोग की उपासना की। उनमें केवल उपभोगपूर्ण जीवन व्यतीत करने की लालसा दिखाई देती है। ऐसा कर्ता कर्म से ब्राह्मण नहीं होता। ज्ञानप्राप्ति के लिए आवश्यक प्रचंड उपासना, अर्थात् कष्ट सहन करने का अभ्यास उनमें दिखाई नहीं देता। समाज की धारणा करनेवाले ही कर्तव्यच्युत हो गए– यही समाज की अधोगति का मुख्य कारण है। जिनकी दृष्टि सुख-संपत्ति तथा वैयक्तिक लाभालाभ तक ही सीमित हो, उन्हें वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति हुई है, यह कैसे कहा जा सकता है?

परमेश्वरकृपा से ऐसे समय में भी ज्ञान के सच्चे उपासक, तत्त्वचिन्तक, वेदविद्या की सांगोपांग ज्ञानोपासना करनेवाले कुछ लोग अपने बीच में दिखाई देते हैं। इनके सम्मुख हमें नतमस्तक होना पड़ेगा। ऐसे ही लोग वास्तव में निःस्वार्थी, वास्तविक ज्ञानी, सच्चे तपस्वी तथा सच्चे ब्राह्मण हैं।

गोविन्द भट्ट फाटक 'गुरुजी' ऐसे व्यक्तियों में अग्रगण्य थे। उनका सत्कार कर उनकी प्रतिमा ग्रहण करने का निर्णय लेकर पुणे विद्यापीठ ने

अत्यंत योग्य कार्य ही किया है। इस सुअवसर पर पुणे विद्यापीठ तथा उसके कुलगुरु से मेरी एक विनम्र प्रार्थना है कि जिस प्रकार काशी विश्वविद्यालय में वेदाभ्यास की व्यवस्था हुई और वहाँ से श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, जयपुर के पं. मोतीलाल शर्मा तथा अभी निर्वतमान गुरु श्री मधुसूदन झा जैसी वेदाभ्यासी विभूतियाँ निर्माण हुईं, वैसी ही व्यवस्था यहाँ भी हो।

आज वेदों का गहराई से संपूर्ण अभ्यास किए जाने की महती आवश्यकता है। वेदमंत्रों का सामर्थ्य अगाध है। वेदमंत्रों का केवल अर्थ जान लेने से वेदों का संपूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया, ऐसा नहीं माना जा सकता। वेदों की विशिष्ट रचना, प्रत्येक मंत्र के विशिष्ट स्वर एवं उसके उच्चारण में बहुत बड़ी शक्ति संचित है। यहाँ इस क्षेत्र के विद्वान वैदिक ब्राह्मण बता सकते हैं कि यह मंत्रसामर्थ्य सामान्य नहीं है।

सुदैव से ऐसे वेदमंत्रों के सामर्थ्य का अनुभव करने का अवसर मुझे भी प्राप्त हुआ है। मेरे बचपन की एक घटना मुझे स्मरण आती है। कुछ साधु पुरुषों का सहवास मुझे प्राप्त हुआ था। एक बार अकाल की अवस्था में चारों ओर पानी के लिए त्राहि-त्राहि मचने लगी, पशु मरने लगे। ऐसे अवसर पर उन साधुओं से लोगों ने प्रार्थना की। जहाँ कुछ समय पहले बादल का एक टुकड़ा भी दिखाई नहीं देता था, वहाँ उनके मंत्रसामर्थ्य से अत्यंत काले बादल उमड़ गए और घनघोर वर्षा होने लगी। यह विलक्षण दृश्य मैंने स्वयं देखा है।

वेदों के अर्थ की ओर ऐसी विशिष्ट दृष्टि से ही देखना होगा। सृष्टिचक्र किस प्रकार चल रहा है तथा उसका लय किस प्रकार होगा, इसका अध्ययन करने की आवश्यकता है। जैसे, वेद पढ़ते समय 'गौ' शब्द का अर्थ 'दूध देनेवाली' ऐसा प्रतीत नहीं हुआ। उसमें प्रत्येक बात का गहन विचार दिखाई देगा। सोम, चंद्र, इंद्र, सूर्य आदि का विचार भी इसी प्रकार प्राप्त होगा। इसमें से इहलोक तथा परलोक में सुखी जीवन किस प्रकार होगा, इसका सांगोपांग अध्ययन किया गया है। इस ज्ञान भंडार के आधार पर हम अपने राष्ट्र का उत्थान निश्चित ही कर सकते हैं। वेदविद्या का यह महत्त्व ध्यान में लेकर उसका गहन अध्ययन होना आवश्यक है।

मेरा नम्र निवेदन है कि वेदमंत्रों का उपयोग समाज जीवन के लिए करा देनेवाले वैदिकों को यह सुयोग प्राप्त हो, इस हेतु पुणे विद्यापीठ को

एक स्वतंत्र विभाग स्थापित करना चाहिए। ऐसा होने पर ही फाटक गुरुजी के समान त्यागी, अत्यंत श्रेष्ठ एवं कर्मयोगी विद्वान पुरुष का योग्य सम्मान होगा।

३२. आधुनिक वेदोद्धारक पं. सातवलेकर

(भाद्रपद कृष्ण षष्ठी, तद्नुसार ६ अक्तूबर १९६६ को वेदमूर्ति पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी ने अपनी आयु के १००वें वर्ष में पदार्पण किया। इस अवसर पर पारडी में स्वाध्याय मंडल की ओर से आयोजित एक समारोह में दिया गया भाषण)

वेदों में 'जीवेत् शरदः शतम्' (ऋग्वेद ७-१६-६६) की इच्छा व्यक्त की गई है। यह इच्छा न केवल सौ वर्ष आयु की है, अपितु सौ वर्ष के कर्ममय जीवन की है। जीवन के प्रारंभिक २५-३० वर्ष तो यों ही व्यतीत हो जाते हैं। अतः उसके बाद १०० वर्षों का कर्मशील जीवन प्राप्त होना चाहिए। 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्' (वाजसनेयी संहिता ३६-२४) अर्थात् दीनतारहित कर्ममय जीवन हो, यही वेद के इस वाक्य का तात्पर्य है। श्रीकृष्ण, वसुदेव-देवकी के आठवें पुत्र थे। उन्होंने १२० वर्षों का कर्ममय जीवन जिया। उस समय तक उनके माता-पिता जीवित थे, उनकी आयु १४० वर्षों से भी अधिक रही होगी।

पंडित जी ने वेदों के कहे अनुसार, सौ वर्षों का कर्ममय जीवन प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प किया था। उनके दीर्घायुष्य का कारण उनके मन का दृढ़ संकल्प ही है। हम, जो उन्हें दीर्घ आयु प्राप्त होने की शुभेच्छा व्यक्त करने के लिए एकत्रित हुए हैं, मृत्यु को दूर रखनेवाले पंडित जी के आदर्श को सामने रखकर दृढ़ निश्चय करें कि जिस प्रकार उनका जीवन कर्मशील रहा, उसी प्रकार हम भी अपना जीवन कर्ममय बनाने का प्रयत्न करेंगे।

जीवन के अनेकविध क्षेत्रों में उनके कर्मशील जीवन का आदर्श हमारे सामने है। पंडित जी के क्रांतिकारी जीवन के साथ ही भिन्न-भिन्न पंथों के गहन अध्ययनपूर्ण दीर्घ ज्ञानसंपन्न जीवन देखकर मनुष्य स्तंभित रह जाता है।

आत्मीयतापूर्ण मार्गदर्शन

आबाल-वृद्ध का मार्गदर्शन करने की क्षमता पंडित जी में है। उनके सान्निध्य में आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति यही अनुभव करता है कि शारीरिक और सामाजिक दृष्टि से सभी प्रकार का मार्गदर्शन करने की क्षमता उनमें है। इसके साथ ही उनके स्वभाव में जो आत्मीयता की अनुभूति है, वह बहुत ही थोड़े लोगों में देखने को मिलती है। कोई उपदेशक की भूमिका ग्रहण करता है, तो कोई अन्य लोगों को कम दर्जे का मानकर उनकी ओर दयार्द्रता की दृष्टि से देखता है। आत्मीयतापूर्वक सबके साथ मेलजोल का व्यवहार कर, बड़ों के साथ बड़ा, छोटों के साथ छोटा बनकर कार्य करनेवाले कम ही होते हैं। पंडित जी के प्रत्येक कार्य में हम यह विशेषता देख सकते हैं। जब छोटे बच्चों को संस्कृत सिखाने का विचार उनके मन में आया, तब उन्होंने एक पाठ्यक्रम तैयार किया और यह सहजतापूर्वक समझा दिया कि क्रमिक रूप में संपूर्ण संस्कृत का ज्ञान अपने आप कैसे प्राप्त किया जाए। लोगों की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए उन्होंने आसनों की चित्रावली तैयार की। एक चित्र-सारणी तैयार कर सूर्यनमस्कार की प्रत्येक कृति का ज्ञान करा दिया। इतना ही नहीं तो कृति की योग्य जानकारी देने के लिए प्रात्यक्षिक कर दिखाने की तत्परता भी उन्होंने दिखाई।

अखंड कर्मशीलता

पंडित जी वेदों का अध्ययन करने के बाद चुप नहीं बैठे। उन्होंने तदनुसार अपना संपूर्ण जीवन व्यतीत किया। कर्म छोड़ने के कारण कभी-कभी ऐसे बंधन निर्मित होते हैं कि वे छूटते ही नहीं। कभी स्वेच्छा से, तो कभी दूसरों के लिए हमें कर्म का जो उपभोग करना पड़ता है, उसके बंधन हमसे छोड़ते नहीं बनता। ऐसा नहीं है कि कर्म छोड़ देने से मोक्ष प्राप्त होता हो। वैसे ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि जगत् का त्याग कर देने पर मोक्षप्राप्ति होगी ही।

गीता में कहा गया है – 'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।' (अध्याय ५:१९)। इसमें 'इहैव' पर जोर दिया गया है। इसलिए इसी जगत् में मन और इंद्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। प्रत्येक परिस्थिति में जिसका मन सम अवस्था में रहे, अर्थात् मन जिसके अधीन हो वही, सफल हो सकता है। 'सुख-दुःखे समेकृत्वा' (अध्याय २:३८), अर्थात् जिसने सुख-दुःख में अत्यंत निश्चल रहना साध लिया हो, उसको सफलता प्राप्त

होती है। सुख-दुःख में, संपत्ति-विपत्ति में अविचल रहने का वह गुण पंडित जी में है।

उनके जीवन में अलग-अलग कारणों से अनेक बार संकट आए एक बार जनता में क्षोभ उत्पन्न होने के कारण भीषण संकट आया, वह भी वृद्धावस्था में जीवन भर की संपूर्ण कमाई ही समाप्त हो गई। वृद्धावस्था में एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकना पड़ा। पुनः एक बार शून्य से आरंभ करने का प्रसंग आया। फिर भी उनके मन में किसी के प्रति क्रोध अथवा कटुता नहीं आई। भीषण परिस्थिति में भी अविचल रहकर उन्होंने शांत चित्त से कार्य किया और सफलता प्राप्त की। एक बार फिर से उन्होंने अपने कार्य को वर्तमान भव्य रूप प्रदान किया। पंडित जी का ऐसा कर्ममय जीवन हम सब के समक्ष है। इस जगत् में रहकर मन को साम्य अवस्था में रखने का आदर्श उनके जीवन में सार्थकता से अभिव्यक्त हुआ है।

वेद : संस्कृति के मूल

यहाँ वेदोद्धार का जो कार्य हो रहा है, उसको चिरंजीवी बनाने में सहायता करने का हम संकल्प करें। वेद भारत के प्राचीन ज्ञान का भंडार हैं। वेद ही हमारे ज्ञान का, हमारी संस्कृति का मूल हैं। अतः उनका आकलन होना चाहिए। यदि इन मूलभूत बातों का ज्ञान हो जाए और उसे ठीक स्वरूप प्रदान किया जा सके, तो अनेक बातें आसान हो जाएँगी। इसलिए पंडित जी ने अन्य सब बातों को एक ओर रखकर उस मूलभूत बात को सुदृढ़ करने की भावना से ही वेदों का अध्ययन किया।

परकीय शासन के कारण हमारी परंपरा का जो विभंजन हुआ, उससे अपने देश में निराशा और दुःख फैल गया। दुःख और निराशा में से जब श्रेष्ठ जीवन की कोई आशादायी किरण दिखाई नहीं दी, तब अपने देश में अनेक प्रकार की साधना-पद्धतियों का उगम हुआ। विगत कालखंड में अनेक परकीय आघातों से पूर्णतः संत्रस्त हुए लोगों ने परमेश्वर का गुणगान प्रारंभ किया, परंतु अलग-अलग पंथों के कारण सामाजिक अलगाव आ ही चुका था।

इसलिए पंडित जी ने सोचा कि कार्य सिद्ध करने के लिए मूलभूत सारतत्त्व की ओर ही मुड़ा जाए, अर्थात वेदों के अनुरूप, वेदों के अनुकूल कर्म मार्ग का अवलंबन किया जाए। 'जो वेदों में लिखा है, उसी के अनुसार आचरण करो' कहने की जो नम्रता पूर्वकालीन आचार्यों में थी, वह उनके

बाद के आचार्यों और उनकी शिष्य परंपरा में नहीं रही। वे कहने लगे– 'हम जो कहते हैं, उसे मानो।'

आज दिखाई देता है कि यहाँ असंख्य आचार्य हैं और उनके असंख्य संप्रदाय हैं। समाज इन अनेक संप्रदायों में विभाजित है। परिणामतः हमारा ऐहिक जीवन छिन्न-भिन्न हो गया है। शिष्य-परंपरा, मत-पंथ, जाति-उपजाति आदि अनेक प्रकारों से विभक्त यह समाज टूटा-फूटा दिखता है। इस स्थिति में ऐहिक जीवन की श्रेष्ठता संभव नहीं है।

राष्ट्रीय जीवन का लोप

आज तो अपने देश में स्वत्व के संबंध में अभिमान ही नष्ट हो गया है। जिस राष्ट्र का स्वत्व का अभिमान नष्ट हो जाता है, उसका विनाश अटल है। आज अपने बीच के नौकरी-चाकरी, शिक्षा, उद्योग, व्यापार आदि क्षेत्रों में काम करनेवाले लोगों के जीवन में वेदों की परंपरा का, शास्त्रों का कुछ प्रभाव दिखाई नहीं देता। इसके विपरीत परकीय आदर्श, परकीय संस्कृति का ही प्रभाव दिखाई देता है। जब राष्ट्र में परकीय आदर्श और परकीय संस्कृति को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और अपनी मूल सांस्कृतिक भावना नष्ट हो जाती है, तब यह समझना चाहिए कि यह राष्ट्रीय जीवन का अंत है।

आज लोग रूस, जर्मनी, अमरीका, इंग्लैंड, जापान, चीन आदि देशों के आदर्श स्वीकार करने की बातें करते हैं। वे अपने देश के आदर्शों की ओर नहीं देखते। यह राष्ट्रीय जीवन का अंत है। भूमि वही रहेगी, परंतु जिस राष्ट्रीय जीवन के लिए अपना देश प्रसिद्ध है, वह नहीं रहेगा। अपने देश के बड़े-बड़े नेता भी विदेशियों का आदर्श सामने रख रहे हैं। कोई कहता है कि रूस की परंपरा का अनुसरण किया जाए, तो कोई कहता है कि अमरीका की परंपरा का अनुसरण हो। यह पराश्रयबुद्धि केवल विचारों की या जीवन-पद्धति के अनुसरण की ही नहीं है। आज हम अपने बल पर भोजन तक नहीं कर सकते। खाद्य-सामग्री के लिए भी हमें विदेशियों के पैर पकड़ने पड़ते हैं। यह स्थिति कितनी लज्जास्पद है? कुछ लोग कहते हैं कि जो विदेश जाकर आता है, उसका आदर होता है। कभी-कभी यह भी सुनाई देता है कि वे विदेश जाकर आए हैं, मानो कोई बहुत बड़ा कार्य कर आए हों।

दूषित अन्न से बुद्धिभ्रंश

मैं सदैव सत्य की कसौटी पर परख कर ही कोई जानकारी प्राप्त करता हूँ। अपने देश में विदेशों से जो अनाज आता है, उसे वहाँ के पशु तक नहीं खाते। वह सड़ा हुआ, दुर्गंधयुक्त अनाज करोड़ों रुपए खर्च कर अपने देश में लाया जाता है। हम जैसा अन्न खाते हैं, बुद्धि वैसी ही हो जाती है। भ्रष्ट लोगों का सड़ा-गला अन्न खाने के कारण ही हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो रही है। उसी प्रकार का जीवन व्यतीत करने की वृत्ति बनती जा रही है। इस प्रकार राष्ट्रीय जीवन पर कुठाराघात होने की भयंकर स्थिति उत्पन्न हो गई है।

इस स्थिति को दूर करने के लिए मूलभूत तत्त्वों को पुनः सुदृढ़ करने की आवश्यकता है। इसके लिए 'वेदों की ओर चलो, उन्हें अपना आदर्श मानो'– यह घोषणा करनी होगी।

वेदों में जीवनदर्शन

कुछ लोगों ने वेदों को 'गडरियों का गीत' कहा है। हमें उस पर विश्वास करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह वाक्य किसी ईसाई ने कहा है। वे जो चाहें कहें। वे हमारे विषय में जान ही क्या सकते है? वेदों में भिन्न-भिन्न देवताओं की विभिन्न प्रकार से स्तुति की गई है। उनमें इंद्र, वरुण, मातरिश्वा (वायु) आदि अनेक देवताओं की स्तुति है, परंतु इसके साथ ही 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' (ऋग्वेद १-१६४-४६) कहा गया है। इंद्र, वरुण आदि देवता एक ही ब्रह्म के अलग-अलग नाम हैं। उन्हें संबोधित कर भिन्न-भिन्न प्रकार से स्तुति की गई है। स्तुति के लिए जो शब्द सूझे, वे उसमें प्रकट हुए हैं। एक ही ब्रह्म की ये भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ अलग-अलग लोगों के लिए हैं।

इसके साथ ही वेदों में जीवन की एक श्रेष्ठ पद्धति भी है। ऐसा कहा जाता है कि वेदों के उद्धार के लिए भगवान स्वयं जन्म लेते हैं। तब तो इसका अर्थ यह हुआ कि गडरियों के गीत की रक्षा के लिए या फिर अपनी स्तुति करा लेने के लिए वे अवतार लेते हैं। इन अनावश्यक बातों के लिए अवतार लेने की जरूरत ही क्या है?

वेद अनेक गहन और महत्त्वपूर्ण अर्थों से भरे हैं। उनमें जीवन के

प्रत्येक पहलू का मार्गदर्शन है। वैसे, देखा जाए तो शब्दप्रयोग सरल हैं, परंतु उनका प्रयोग ऐसी शैली में किया गया है कि उनमें गूढ़ अर्थ दिखाई देता है। पंडित जी बताते हैं कि उनमें आयुर्वेद, गणित, विज्ञान आदि सभी कुछ है। जीवन के सभी पक्षों का उनमें अप्रतिम विवेचन है। इसलिए उनका अर्थबोध योग्य ढंग से करा लेना आवश्यक है, अन्यथा हमें उनका आकलन नहीं होगा। वे स्तुतिमात्र नहीं हैं, देवताओं का गुणवर्णन मात्र नहीं हैं। उनके अर्थ समझ लें तो उनमें से अनेकविध शास्त्रों का ज्ञान होता है।

मैंने एक ऐसा ग्रंथ देखा है, जिसे एक ओर से देखा जाए तो उसमें भगवद्‌गीता लिखी हुई है, अक्षर यदि ऊपर से नीचे तक पढ़े जाएँ तो चंडी-ग्रंथ दिखाई देता है। तिरछा देखा जाए तो दूसरा ही कोई शास्त्र सामने आता है। एक-एक अक्षर छोड़कर पढ़ा जाए तो उसमें वैद्यकीय ज्ञान मिलता है। उसमें से क्या-क्या निकलेगा, इसका पता ही नहीं लगता– ऐसा चमत्कार उस हस्तलिखित ग्रंथ में मैंने देखा है।

आधुनिक वेदोद्धारक

वेदों में इस प्रकार का चमत्कार न भी हो, परंतु एक-एक शब्द के अनेक अर्थ निकलने के कारण वे निश्चित ही ज्ञान के भंडार हैं और उनसे विविध शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना संभव है। वेदों के विविध अंगों का अध्ययन कर वह ज्ञान-संपदा को जनसामान्य तक पहुँचाना एक बड़ा कार्य है। और यह महान कार्य पंडित जी विगत वर्षों से कर रहे हैं। पंडित जी वेदोद्धार का जो कार्य अविरत रूप में कर रहे हैं, वह स्वयमेव अवतार-कार्य भी है। इसका अर्थ यही है कि वेदों का जो ज्ञान आज दुर्लभ हो गया है, उसे जनसाधारण तक पहुँचाने के पंडित जी के इस कार्य के लिए हम सब उनके आदर्श की ओर देखें और आगे बढ़ें।

परमात्मा से मेरी यही प्रार्थना है कि जिस वेदोद्धार के कार्य में पंडित जी कार्यमग्न हैं, उसके विभिन्न अंगों को पूर्ण करने का जो महान कार्य वे कर रहे हैं वह पूर्ण कर, उसके आधार पर निर्मित स्वाभिमानपूर्ण राष्ट्रजीवन और पुनः अखिल जगद्‌गुरु बना भारत-राष्ट्र देखने का सुअवसर उन्हें प्राप्त हो।

३३. वेदर्षि पंडित सातवलेकर

(दिल्ली में १४ अप्रैल १९६८ को सातवलेकर जी के नागरिक अभिनंदन के अवसर पर दिया गया भाषण)

मैं आज माननीय पंडित सातवलेकर जी के शत वर्ष की उपलब्धियों के समारोह में विशेष रूप से उपस्थित हूँ। समयाभाव के कारण मैं आज ही उपस्थित हो सका तथा शीघ्र ही मुझे जाना है। किंतु मैं यह अवसर छोड़ना नहीं चाहता था। इस अवसर पर अपनी उपस्थिति पर अत्यंत प्रसन्नता एवं कृतार्थता अभिव्यक्त करता हूँ।

संघ के स्वयंसेवक

अभी श्री लाला हंसराज जी के उद्‌बोधन से आप जान गए होंगे कि पंडित जी का राष्ट्रीय स्वंयसेवक संघ से कितना घनिष्ट संबंध रहा है, किंतु कैसी विचित्र विधि है कि मैं, जो उनसे प्रायः चालीस वर्ष छोटा हूँ, इस संगठन का नेतृत्व करने हेतु मनोनीत किया गया, जबकि वे साधारण स्वयंसेवक ही रह कर संतुष्ट रहे। यह कुछ विपरीत सा लगता है, पर अभी कुछ कर नहीं सकते। भारतवर्ष का यह सौभाग्य है कि जन-जागरण हेतु समय-समय पर महापुरुष जन्म लेते आए हैं। इसी शृंखला में पंडित जी का स्थान विशेष एवं अत्युच्च है। इस आयु में भी वे तरुण हैं और यह तरुणाई बनी रहे- यह कामना है।

मुझे संघ के प्रांतीय वर्ग में उपस्थित हुए पंडित जी का स्मरण होता है। वहाँ प्रौढ़ों के लिए अलग एवं तरुणों के लिए अलग स्थान निर्धारित किए गए थे। प्रौढ़ों को संबोधित करने हेतु हमारे कार्यकर्ता पहुँचे, तब उन्होंने देखा कि पंडित जी वहाँ नहीं थे। पूछताछ करने पर पता चला कि वे तरुणों के समूह में हैं और इस समय सूर्यनमस्कार लगा रहे हैं। जब उनसे पूछा गया- 'आप यहाँ कैसे पहुँच गए?' उन्होंने कहा- 'क्या तुमने नहीं सुना कि तरुण यहाँ एकत्र हों? मैंने उसी प्रकार किया। मैं भी तो तरुण हूँ।' उस समय उनकी आयु, मेरी आज की आयु ६२ वर्ष से १५-१६ वर्ष अधिक ही थी। अतः उनका यह संदेश हम सब के लिए 'प्रदीर्घ तरुणाई' का संदेश है।

धैर्य नहीं छोड़ें

उनका दूसरा संदेश है- 'धैर्य नहीं छोड़ें'। अनगिनत आपदाओं एवं

कष्टों से उनका जीवन भरा पड़ा है। प्रखर देशभक्त एवं क्रांतिकारी होने के कारण उन्हें कई बार अपने कर्त्तव्य पथ बदलने पड़े, स्थान बदलने पड़े, अनेक विपदाओं का सामना करना पड़ा, पर वे अडिग रहकर अपने पथ पर अविरत बढ़ते ही रहे।

सन् १९४८ में देश पर आए संकट में जन-आक्रोश के कारण अपने कतिपय बंधुओं को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पंडित जी को भी यह सहना पड़ा। जिन लोगों की भलाई के लिए पंडित जी ने अपने जीवन के कई वर्ष न्योछावर कर दिए थे, उन्होंने ही उनपर आरोप लगाकर न्यायालय में घसीटा। उनकी व्यक्तिगत धरोहर को भी नुकसान पहुँचाया गया। विशेष रूप से उनकी दुर्लभ पुस्तक-संपदा एवं अनुसंधान सामग्री को भी बहुत क्षति पहुँचाई गई। यह घटना २० वर्ष पूर्व की है। उस समय वे ८० वर्ष के थे, किंतु वे निराश नही हुए। उसी समय पुराने राजघराने, जो पंडित जी के स्वाध्याय मंडल को सहायता देते थे, संघ राज्य में विलीन कर दिए गए। पंडित जी ने अपना गृह स्थान छोड़ा और गुजरात के बलसाड़ नामक एक छोटे से गाँव में कुछ जमीन लेकर, वहाँ 'स्वाध्याय मंडल' की स्थापना की, मानो शून्य से नया विश्व ही तैयार किया हो। यदि आप में से कोई वहाँ जाए, तो वह उत्तमोत्तम वैदिक अभ्यास की शिक्षा संस्था देख सकेगा।

हमारी प्रवृत्ति थोड़ी भी कठिनाई से घबराने की है। हमें यह वृत्ति छोड़नी होगी। अपने स्वयं के जीवन से एक शतायुषी व्यक्ति का उदाहरण देकर कार्य करने की प्रेरणा देना, एक अद्‌भुत बात है। आत्मविश्वास के ज्वलंत प्रतीक उस व्यक्तित्व का हमें अनुकरण करना चाहिए।

बहुआयामी व्यक्तिमत्व

पंडित जी अनेक क्षेत्रों में कार्य कर चुके हैं, एक कठोर क्रांतिकारी, राजकीय नेता, धर्म प्रचारक, संस्कृत भाषाविद्, अध्यापक से लेकर वेदज्ञाता तक। अपूर्व विविध गुणों के अधिकारी व्यक्तित्व के रूप में उन्हें जाना जा सकता है। वेद एवं शास्त्रों के प्रकांड ज्ञाता पंडित जी, अपनी युवावस्था में उत्तम चित्रकार भी थे, यह बहुत कम लोगों को ज्ञात होगा। वे चित्रकला के अध्यापक भी रह चुके हैं। उन्होंने यह कला अपने पूज्य पिताजी से सीखी थी। आज उनकी गणना मुंबई के प्रसिद्ध कलाकारों में होती है। ऐसा बहुआयामी व्यक्तित्व दुर्लभ है।

दुर्भाग्य से हमारे देश में ऐसे निपुण लोगों की उपेक्षा ही की जाती है। ऐसे बहुत कम कलाकार दिखते हैं, जिन्हें समाज को लाभान्वित करने हेतु संपन्नता एवं दीर्घायु प्राप्त हो। निश्चित ही पंडित जी उन थोड़े से लोगों में से एक हैं, जिन्हें यह सौभाग्य मिला है। वेदों के विषय में भी ऐसे बहुत कम लोग मिलेंगे जो उन्हें जानते हों, अधिकांश लोग इनसे अनभिज्ञ हैं।

पिछले २०००-२५०० वर्षों में साधारण जनता अनेक जाति व पंथों में बँटी। यद्यपि कुछ लोग वेदों को मानते हैं एवं उनका आदर भी करते हैं, उनके प्रति चिंता व्यक्त करते हैं। तथापि वेदों के अध्ययन के प्रति उदासीनता बढ़ती ही जा रही है तथा आस्था घटती हुई दिखाई देती है।

महापुरुषों द्वारा दिए गए भाषणों को ही उद्‌धृत करके संतोष मानने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। गंगा के पवित्र जलप्राशन को छोड़कर वे छोटे कुएँ या नाले के पानी से प्यास बुझाकर संतुष्ट हैं। यह प्रवृत्ति वैदिक ज्ञानप्रवाह के लिए बाधक है। वेद हमें तेजस्विता बढ़ाने का मार्ग दिखाते हैं, जिसके बिना कोई भी देश बलशाली, नीतिमान और कीर्तिमान नहीं बन सकता। हमें इसका स्मरण रखना चाहिए कि नियमबद्ध वेदाध्ययन ही चिर-स्थिरता प्रदान कर सकता है।

पंडित जी ने वेदों की शिक्षा द्वारा ऋषि-मुनियों के मार्गदर्शन को प्रशस्त किया। इस हेतु उन्हें अथक परिश्रम करने पड़े। उनका जीवन निरपेक्ष एवं त्यागमय है। वेदों के सही ज्ञान-प्रसार का ऋषि दयानंदजी का ध्येय पंडित जी ने अपने ढंग से स्वीकारा है। अपने इस प्रचार के माध्यम से वेदों का ज्ञान सामान्य लोगों तक पहुँचाने का कार्य वे कर रहे हैं। इस पुनीत एवं महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए वे अभिनंदनीय हैं।

आज का यह सत्कार-समारोह उनके जीवन के १०० वर्ष पूर्ण करने पर अभिनंदन करने मात्र के लिए ही नहीं है। केवल यही एक कारण इस समारोह की सार्थकता सिद्ध नहीं करता। न जाने कितने ही सामान्य व्यक्तियों ने जीवन के १०० वर्ष पूरे किए होंगे। पर पंडित जी ने इन अमूल्य १०० वर्षों के हर क्षण, हर पल को देश-उत्थान एवं देशवासियों की भलाई पर न्योछावर कर अपने समाज के उज्ज्वल भविष्य का विश्वास तथा अपनी परंपरा पर दृढ़ आस्था जगाई। वे वस्तुतः महर्षि पद के योग्य हैं, यही उनका सत्कार है।

अपने श्रद्धासुमन उन्हें अर्पित करते आज हुए हम उनके आशीर्वाद

लें, जिससे हम भी उनकी प्रेरणा से अधिक आयु पा सकें और उसे समाजोत्थान के कार्य में लगाकर अपना जीवन सार्थक कर सकें। इसके साथ ही 'स्वाध्याय मंडल' जैसी संस्थाएँ जो कि पुरातन ऋषि आश्रम की प्रतीक हैं, स्थापित करने तथा बढ़ाने में यथाशक्ति सहयोग दें।

३४. पूज्य श्री धुंडा महाराज देगलूरकर

(पूज्य श्री धुंडा महाराज महाराष्ट्र के 'वारकरी' संप्रदाय के विशेष अधिकारी पुरुष माने जाते थे। २० नवंबर १९६६ को पंढरपुर में उनके ६१वें जन्मदिन पर आयोजित समारोह में दिया गया भाषण)

गुरुवर्य सोनोपंत दांडेकर जी की अवज्ञा करना मेरे लिए असंभव था। उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए ही मैं यहाँ आया हूँ। आज हम सब जिनके सत्कार के निमित्त यहाँ एकत्र हुए हैं उन हरिभक्तपरायण श्री धुंडा महाराज से मेरा अनेक वर्षों से परिचय है। संतों के सहवास का सौभाग्य मानो मेरी जन्मपत्री में ही लिखा हुआ है, इसी कारण मेरा साधुसंतों से मिलना नित्य ही होता है और उनका पुण्यप्रद आशीर्वाद प्राप्त होता है। बचपन से ही मेरे साथ ऐसा होता आया है। साधु-संतों के दर्शन एवं आशीर्वाद के कारण ही मैं व्यक्तिगत सांसारिक उलझनों से दूर रहा, ऐसा मैं समझता हूँ। यह अच्छा ही हुआ, यही योग्य भी था।

कुछ वर्ष पूर्व एक बड़े प्रवचन का कार्यक्रम था। गुरुवर्य श्री सोनोपंत दांडेकर भी वहाँ थे। दैवयोग से अपने श्रद्धास्पद श्री धुंडा महाराज भी वहाँ उपस्थित थे। सहजभाव से एक कोने में बैठा मैं उनका प्रवचन सुन रहा था, तब उनके प्रथम दर्शन हुए थे। उसके बाद नागपुर में एक बार उनके प्रवचन का लाभ मिला, उस समय मुझे एक नया अनुभव प्राप्त हुआ।

मान्यता बदली

बहुत पुरानी बात है। वारकरियों के संबंध में मेरे कुछ पूर्वाग्रह थे। वारकरी देखते ही मेरे मन में विचार आता था कि यह झाँझ-मृदंग बजाने वाला साधारण व्यक्ति है, इससे अधिक अन्य कोई अर्थ नहीं है। मुख से

भिन्न-भिन्न अभंग (मराठी का एक छंदविशेष) अवश्य कहता है, परंतु उसका वास्तविक अर्थ वह जानता नहीं। अनेक संत-महंतादि महापुरुषों के श्रेष्ठ वचनों के संबंध में भी लोगों की स्थिति वैसी ही है। श्रीमत्शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत तत्त्वज्ञान का आविष्कार कंठस्थ है, परंतु उसका ज्ञानगंध किसी को प्राप्त नहीं रहता। ज्ञानेश्वरी का केवल पारायण करनेवाले भी ऐसे असंख्य व्यक्ति हैं। परंतु उस समय मैंने जो प्रवचन सुना, उससे मुझे स्पष्ट अनुभव हुआ कि मेरा यह भ्रम निरर्थक है। धुंडा महाराज के उस प्रवचन में भक्ति तो थी ही, उसके अतिरिक्त अपने जीवन के भिन्न-भिन्न राजनैतिक एवं सामाजिक प्रश्नों का भी विवेचन किया था। इस प्रकार वह एक सर्वांग सुंदर प्रवचन था। उस दिन मुझे वह सौभाग्य प्राप्त हुआ, इसका मुझे आनंद एवं समाधान था।

ज्ञान लालसा कैसे जगी?

साधारणतः 'अध्यात्म' का नाम लेते ही सर्वसाधारण मनुष्य के लिए वह एक झंझट प्रतीत होता है। परमेश्वर का दर्शन एवं कृपाप्रसाद केवल ऐहिक जीवन सुखी करने के लिए ही है, साधारणतः एक भ्रमपूर्ण धारणा सर्वत्र दिखाई देती है। वह धारणा मेरे मन में कभी न रहने के कारण उस ओर मेरा दुर्लक्ष्य ही हुआ। जिससे उस बारे में मेरे मन में कोई कल्मष उत्पन्न नहीं हुआ।

बचपन में कुछ संत-वाङ्मय पढ़ने को मिला था। कई बार माता-पिता को अनेक महात्माओं के ग्रंथ पढ़कर सुनाने का अवसर भी मिला। गायत्री मंत्र का पुरश्चरण भी किया। परंतु प्रत्यक्षतः इन शास्त्रों का योग्य ज्ञान प्राप्त करने की लालसा पर्याप्त समय तक जागृत नहीं हुई। बाद में नागपुर में रहते समय इसका अवसर आया।

विदर्भ में एक महान संत गुलाबराव महाराज हुए हैं। वे जन्मतः अंध थे। उनके शिष्य श्री बाबाजी महाराज पंडित से मेरे अच्छे संबंध हैं। उनके यहाँ अनेक बार जाना-आना हुआ, अभी भी होता रहता है। एक बार ज्ञानेश्वरी पर उनके प्रवचन सुनने का सुयोग मिला। ऐसे ही आज उस महान प्रसंग का स्मरण हो आया। चातुर्मास्य का प्रारंभ था। यथासंभव अधिकतम 'ज्ञानेश्वरी' सुनाने का उनका संकल्प था। 'ओम् नमोजी आद्या' कहकर उन्होंने प्रारंभ किया। उनका वह पांडित्यपूर्ण एवं भक्तिरसपूर्ण प्रवचन चार घंटे तक लगातार चलता रहा। वह प्रवचन मुझे अत्यंत

शास्त्रशुद्ध लगा। भिन्न-भिन्न विषयों को माध्यम बनाकर उन्होंने उक्त सूत्र को अत्यंत सुगम तथा सुस्पष्ट कर दिया। इतने पर भी दूसरी 'ओवी' (मराठी का एक छंद) तक वे पहुँच नहीं पाए थे। उसे सुनकर ऐसा लगा कि यदि पहली ही ओवी में इतना अर्थ भरा है, तब संपूर्ण ज्ञानेश्वरी न जाने कितनी अर्थपूर्ण होगी। मन में कौतूहल जागृत हुआ और मैंने अपने घर ही पर ज्ञानेश्वरी खोलकर पढ़ना प्रारंभ किया।

ज्ञानेश्वरी साहित्य की दृष्टि से मराठी भाषा का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। इसी कारण अपने सारे लोग उसका गुणगान करते हैं। श्रद्धेय धुंडा महाराज भी अपनी विद्वत्तापूर्ण आकर्षक शैली से सतत प्रवचन करते हुए उसी ग्रंथ को समझाते हैं।

साहित्य की दृष्टि से तो वह ग्रंथ उत्तम है ही, परंतु उसमें प्रतिपाद्य विषय के बारे में जानने की मुझे लालसा हुई। इस हेतु महान पुरुषों के पास बैठ कर जो कुछ अध्ययन कर समझ सका, उससे यह ध्यान में आया कि आजकल अनेक लोग वारकरियों पर 'बुवा बाजी', अर्थात् ढोंगीपन का जो आरोप करते हैं, वह निराधार है।

वस्तुतः यह संप्रदाय अद्वैत सिद्धांत पर अधिष्ठित तथा अतिश्रेष्ठ भक्ति द्वारा व्यक्ति को परमश्रेष्ठ सुख प्राप्त करा देने वाला है। यह मेरी अनुभूति है और उसमें अभी तक किसी प्रकार की भूल तो प्रतीत नहीं हुई, अपितु वह अधिकाधिक दृढ़ ही होती जा रही है।

सुखोपभोग और सच्चा सुख

अनुभव ऐसा है कि ऐहिक जीवन में मनुष्य को सब प्रकार का सुखोपभोग मिलना आवश्यक होता है। अनेक उत्तमोत्तम कार्य करने के लिए मनुष्य को सुखोपभोग आवश्यक है। भूखे पेट वेदांत नहीं सूझता। भगवद्भक्ति, भजन तथा भगवान को प्रसन्न करने के लिए पहले पेट में कुछ आधार आवश्यक है। इस प्रकार सुखोपभोग के बिना मनुष्य अन्य कुछ करने के लिए उद्योगशील नहीं होता। इसलिए सब मनुष्यों के लिए उपयुक्त ऐसी सुखोपभोग की सामग्री निर्माण करना आवश्यक है। जिस प्रमाण में वह निर्माण होगी, उसी प्रमाण में उसका वितरण होगा।

वैसे ही एक दूसरी बात यह है कि यदि सारे सुखोपभोग मिल गए तब भी क्या उतने से संतोष प्राप्त होता है? इसके उत्तर में यही कहना होगा कि सुखोपभोग मिलने से समाधान, संतोष या सुख मिलेगा ही– यह

आवश्यक नहीं है। प्राणिमात्र सुख के लिए दौड़-धूप करता है। मनुष्य तो बुद्धिमान प्राणी है। अतः उसकी दौड़-धूप सर्वाधिक है। यह स्वाभाविक भी है। फिर सुख किसमें है, इसका विचार करना आवश्यक है। सुख देनेवाली किसी एकाध वस्तु से सुख मिलता है क्या? आजकल चारों ओर ट्रान्जिस्टरों की भरमार है। लोग उसे हाथ में लेकर घूमते हैं। कितने ही युवक उसे बाजार में इस प्रकार लेकर चलते दिखाई देते हैं, जैसे महिलाएँ अपने बच्चों को लेकर चलती हैं। उन्हें उसके गीत सुनकर सुख मिलता है, परंतु मुझे उसका शोर असह्य मालूम होता है। मुझे उससे सुख के स्थान पर दुःख ही होता है। मैं अनुभव करता हूँ कि अपने देश के समक्ष अनेक गंभीर समस्याएँ मुँह फाड़े खड़ी हैं और यह गीत सुनते घूम रहा है। इस बात से मेरा मन उद्विग्न हो उठता है। एक ही वस्तु उसे सुखदायक प्रतीत होती है, लेकिन मुझे वैसी नहीं लगती है। इसका अर्थ यह है कि सुख किसी वस्तु में नहीं है।

इस समय मुझे कुत्ते की बात स्मरण आती है। कुत्ता हड्डी चूसता है। उसे हड्डी चूसने में बड़ा मधुर स्वाद आता है, जिससे उसे सुख प्राप्त होता है। वास्तविक रूप से यह मधुर स्वाद हड्डी में नहीं होता। चूसते समय हड्डी की नोक उसके मुँह में चुभती है और उसमें रक्तस्राव होने लगता है। कुत्ता अपने स्वयं के रक्त को चूसता है, मगर समझता यह है कि हड्डी ही स्वादिष्ट है।

सुख प्राप्ति की प्रक्रिया

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ ऐसे क्षण आते हैं, जब वह परमोच्च सुख का अनुभव करता है। उसको यह विचार करना चाहिए कि उसे वह कैसे प्राप्त हुआ। विचारोपरांत यह दिखाई देगा कि जिस समय हमें अपने अलग अस्तित्व का विस्मरण होता है। उसी समय यह सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार यह सुख किसी अन्य बाह्य वस्तु पर अवलंबित नहीं रहता। बाह्य वस्तुएँ केवल साधनस्वरूप हैं। यदि परमसुख प्राप्त करना है, तो उसकी अनुभूति प्राप्त करने के लिए आवश्यक सिद्धता भी चाहिए। इस हेतु अत्यंत सरल एवं सहजसाध्य मार्ग होना आवश्यक है।

बाह्य साधनों से भौतिक सुख प्राप्त होता है। परंतु यह बाह्य साधन प्रत्येक के पास न्यूनाधिक मात्रा में है। जिसके पास साधन नहीं होते वह उन्हें प्राप्त करने के लिए अन्य मार्गों का आश्रय लेगा। उसके मन में ईर्ष्या

उत्पन्न होगी। यदि अन्य मार्ग अपनाने पर भी उसे वह साधन नहीं मिले, तब वह जिसके पास हैं, उसे नष्ट करने का प्रयास करेगा। इस प्रकार अनिष्ट के प्रकार बढ़ेंगे और समाज की शांति व स्वास्थ्य नष्ट होता है। ऐसी परिस्थिति में बाह्य साधनों से मिलनेवाले सुख का उपभोग संभव नहीं होता। कम या अधिक साधनों के कारण निर्माण होनेवाले ईर्ष्या आदि दुर्गुण उत्पन्न न होकर समाज की शांति एवं स्वास्थ्य बनाए रखने से हमें सुख प्राप्त होगा। उस सुख के लिए हमें अपने अंतर के 'स्व' को जागृत करना होगा।

गुरु-शिष्य व्यवस्था की प्राचीनता

उत्तर में एक संप्रदाय है, उसमें नाम-जप को प्राधान्य है। नाम-जप करें एवं गुरु से प्रेरणा प्राप्त करें ऐसी पद्धति है। परंतु यह गुरु चलता-बोलता, जीवित होना आवश्यक है। शिष्य के मन में उसके लिए आदर होना अपरिहार्य है। गुरु और परमेश्वर दो नहीं, वास्तव में एक ही हैं, ऐसी शिष्यों की दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिए। ऐसे इस विद्यमान गुरु के मुख से नाम-जप का गुरूपदेश निकल कर अपने कर्णरंध्र में उतरेगा, तभी अपने को परमसुख प्राप्त होगा– ऐसी इस पंथ के लोगों की श्रद्धा है। वास्तव में इस प्रकार का उपदेश करने वालों की आज बहुत आवश्यकता है, परंतु वे प्राप्त कहाँ होंगे? आज उपलब्ध लोगों में कुछ केवल शब्दज्ञान दे सकते हैं, तो कुछ स्वतः अनुभूति कर सकते हैं, परंतु दूसरों को वह प्राप्त कराने में वे असमर्थ हैं तथा दूसरों को समझा भी नहीं सकते। ऐसे लोग नहीं चाहिए। स्वयं को अनुभूति होना आवश्यक है। परंतु दूसरों के अंतःकरण में भी वह उतार सके, ऐसा शक्तिशाली व्यक्ति चाहिए। ऐसा ही व्यक्ति वास्तविक सुख का उदयकर्ता है और वही सच्चा सुख प्राप्त करा सकता है।

ऐसे व्यक्ति केवल इस भूमि पर ही मिलना संभव है, क्योंकि यह भूमि अत्यंत पवित्र है। यह इतनी पवित्र है कि साक्षात् परमेश्वर भी मोक्षप्राप्ति के लिए यहाँ अवतरित होता है। उसकी तपस्या, उसका कर्म – सब यहीं संपन्न होता है। स्वर्ग में यह करना संभव नहीं। स्वर्ग भोगभूमि है– यह विचार हमें अपने पूर्वपुरुषों से प्राप्त हुआ है, आज की नई कल्पना नहीं है। हमारे पूर्वपुरुष यह बताते आए हैं कि इस भूमि पर कृमि-कीटक का जन्म पाना भी महद सौभाग्य का लक्षण है। हमें तो मानव का जन्म मिला है। यह कितने सौभाग्य की बात है। उसपर भी यदि भगवद्भक्त बनें

या भगवद्भक्तों के सहवास का लाभ मिला, तब तो हमारे भाग्य की कोई तुलना ही नहीं।

संत-मालिका से प्रेरणा

यह भूमि सदैव उत्तमोत्तम, पराक्रमी, शूरवीर, महान पुरुषों की जन्मदात्री है। इतिहास का अवलोकन करने से हमें पता चलता है कि हमारे यहाँ ऐसा कोई भी कालखंड नहीं रहा जिसमें ऐसे श्रेष्ठ महापुरुष उत्पन्न न हुए हों, अथवा जिन्होंने परमात्मा का साक्षात्कार कर उससे मित्रवत वार्तालाप न किया हो।

अपने इस समाज पर अनेक बार भिन्न-भिन्न प्रकार के संकट आए, इस कारण सारा समाज हतशौर्य होकर अधोगति की ओर जाने लगा। तब इस समाज को बार-बार स्वचैतन्य एवं स्वाभिमानयुक्त जीवन प्रस्थापित करने के लिए आवश्यक प्रेरणा ऐसे प्रबल भक्तों से ही मिली है। उत्तर में गुरु गोविंदसिंह जी ने समाज को शौर्य-वीर्य प्राप्त कराया, तो गोस्वामी तुलसीदास ने श्रीरामचरित्र-गायन के निमित्त से चैतन्य, निर्भयता, धर्मपालन, कर्तव्यपरायणता आदि का प्रतिपादन कर समाज को दृढ़निश्चयी एवं सुरक्षित बनाया। संत सूरदास, ज्ञानेश्वर तथा एकनाथ और दक्षिण में महाकवि कंब ने रामायण के द्वारा पौरुष जागृत कर धर्म, शक्ति, निष्ठा, शुद्ध आचरण की आकांक्षा समाज में जागृत की और अखिल भारतीय एकसूत्री जीवनधर्म तथा संस्कृति का जागरण किया। ऐसे भगवद्भक्तों की श्रेष्ठ मालिका ने हमारे समाज को तार दिया, उसे सन्मार्ग व श्रेष्ठ कर्त्तव्य की ओर प्रवृत्त किया। संसार को केवल निवृत्ति ही नहीं सिखाई, तो प्रथम कर्तव्यपालन और बाद में परमार्थ करना सिखाया।

स्वतंत्रता का अर्थ

ऐसा कहा जाता है कि हमें स्वतंत्रता प्राप्त हुई है। स्वातंत्र्य अर्थात् अपनी परंपरा एवं जीवन प्रवृत्ति के तंत्र से चलनेवाला राज। आज का हमारा राज सब दृष्टि से परकीयों के तंत्र से चलता है। इसलिए मैं उसे स्वतंत्र नहीं कहता। आज सबका आदर्श वह समाजवाद है, जो इस देश में नहीं जन्मा। सभी बातों में हम परकीय तंत्र का प्रयोग करते आ रहे हैं। परकीय बातें ग्रहण कीं, जो उनके देश की परिस्थिति के अनुरूप हैं। यहाँ भी वे अनुरूप सिद्ध होंगी ही, ऐसा आवश्यक नहीं। इस कारण उन सब बातों से तत्त्वशून्यता उत्पन्न होकर स्वाभिमान नष्ट हो गया। अपने जीवन

में 'अपना' कहलाने योग्य कुछ भी शेष न रहा।

परकीयों का उद्देश्य यहाँ उपभोग करना मात्र था। अपनी वासनाओं की तृप्ति के लिए आवश्यक साधन एवं संपत्ति निर्माण करना उनका उद्देश्य था। इसके कारण नित्य असंतुष्ट प्रवृत्ति निर्मित होती है। मनोभाव से ईश्वर की भक्ति करना, साधना करना, शुद्ध चारित्र्यसंपन्न जीवनयापन करना तथा जीवन में कर्तव्यदक्षता निर्माण करना उनका आदर्श ही नहीं है।

आज के भ्रष्ट आदर्श

समाज का स्वास्थ्य उसके लक्ष्य के अनुरूप होता है, उसके आदर्श पर अवलंबित होता है। आज समाज में श्रेष्ठ प्रकार से विचार नहीं होता। श्रेष्ठ विचारों के व्यक्ति भी दिखाई नही देते। जनता के कल्याण के लिए स्वयं परिश्रम करने की आवश्यकता होती है। इसके अभाव में जनता की सेवा करने का विचार समाप्त होकर उसके स्थान पर केवल स्वार्थ ही बढ़ा है, परिणामस्वरूप पापाचरण बढ़ा हुआ दिखाई देता है। अपने पद का उपयोग केवल स्वार्थ के लिए ही होता है। इस कारण सत्ताधारी एवं धनवान लोग ही समाज के पूज्य बन बैठे हैं। वही समाज के आदर्श बन जाना चाहते हैं। समाज का सच्चा उत्कर्ष-साधन करनेवाले तथा उस संबंध में विचार करनेवाले लोगों को समाज भूल रहा है तथा इसी कारण प्रगति के स्थान पर उसकी अधोगति हो रही है।

शृंगेरी पीठ के शंकराचार्य एक बार उत्तर की तीर्थयात्रा के लिए जा रहे थे। मुझे समाचार मिलते ही मैं भी उधर गया। नगर के कुछ श्रेष्ठ पुरुष उनके पुण्यप्रद एवं दुर्लभ दर्शन प्राप्त करने के लिए आए थे। वे हिंदू धर्म के सर्वोच्च श्रेणी के धर्माधिकारी हैं, परंतु उस दृष्टि से वहाँ उपस्थित संख्या बहुत ही थोड़ी थी। उसी समय एक सिनेतारिका उधर से जानेवाली थीं। उसे देखने के लिए अपार भीड़ हो रही थी। उस भीड़ को सँभालने में पुलिस असमर्थ सिद्ध हो रही थी। प्रत्येक उस तारिका के दर्शन करना चाहता था। भगवान के दर्शन से अधिक तड़पन उन्हें उस कुल-शीलभ्रष्ट स्त्री के दर्शन की थी।

यह स्थिति योग्य नहीं है। इसमें परिवर्तन अत्यावश्यक है। उस हेतु हमें श्रेष्ठ पुरुषों के मार्गदर्शन में कार्य करना चाहिए। सुदैव से आज ऐसा मार्गदर्शक हरिभक्तपरायण धुंडा महाराज के रूप में हमारे मध्य में उपस्थित है। उनका उपदेश ग्रहण कर हमें कार्यशील बनना होगा। साधु पुरुषों की

वाणी से हमें लाभ उठाना होगा। वे हमारी क्षुधापूर्ति के लिए तत्पर हैं।

उपदेश आत्मसात करें

इसके लिए हमें भी तो अपना मुँह खोलना होगा, चबाना होगा, निगलना होगा तथा उसे पचाना होगा, अर्थात् उनका दिया हुआ उपदेश हमें परिश्रमपूर्वक आत्मसात करना होगा। पंढरपुर साक्षात् वैकुंठ है। यहाँ योग्य उत्तम वातावरण है, हरिभक्तपरायण धुंडा महाराज जैसे उत्तम मार्गदर्शक हैं। उसका लाभ उठाकर हम अपना अंतर्बाह्य जीवन उज्ज्वल करें। अपने सच्चरित्र एवं भगवद्भक्ति से हमारे इस भारतवर्ष को संसारभर में सर्वश्रेष्ठ सम्मान प्राप्त हो– भगवान पांडुरंग के चरणों में यह प्रार्थना करता हुआ, मैं अपना यह अटपटा भाषण समाप्त करता हूँ।

३५. पंडित दीनदयाल उपाध्याय

(‘पॉलिटिकल डायरी’ के अंतर्गत सामयिक समस्याओं पर समय-समय पर साप्ताहिक ‘ऑर्गनायजर’ में लिखे गए पं. दीनदयाल उपाध्याय के लेखों के संग्रह का प्रकाशन १७ मई १९६८ को मुंबई में श्री गुरुजी द्वारा संपन्न हुआ। इस अवसर पर हुआ भाषण)

पं. दीनदयाल जी ने ‘पॉलिटिकल डायरी’ नाम से अंग्रेजी साप्ताहिक ‘ऑर्गनायजर’ में जो लेख लिखे हैं उसी नाम से पुस्तक के रूप में वे प्रसिद्ध हो रहे हैं। वह बहुत योग्य है, ऐसा अपने मित्रवर श्रीराम बत्रा जी ने बताया। उन्होंने ‘पर्टिनंट’ (प्रसंगोचित) शब्द का प्रयोग किया है। उसी शब्द का प्रयोग कर मैं कहता हूँ कि मेरे लिए यह काम ‘इंपर्टिनंट’ (अनधिकार) होगा। मैं उसका कारण भी बताता हूँ।

अपने देश के एक अति श्रेष्ठ पुरुष के बारे में ऐसा कहा जाता है कि एक बार एक वृद्ध सज्जन उनसे मिलने गए। वे श्रेष्ठ पुरुष देश के मान्यताप्राप्त बहुत प्रसिद्ध जननेता थे। भेंट होते ही उन्होंने उक्त वृद्ध सज्जन को अतीव नम्रतापूर्वक प्रणाम किया। जब लोगों ने पूछा, तब उन्होंने बताया कि ये वृद्ध सज्जन प्राथमिक शाला में उनके गुरु थे। उन्होंने ही पढ़ाया और आशीर्वाद दिया कि बुद्धिमान बनो। उन्हीं के आशीर्वाद से वे

बड़े बने हैं। वे अध्यापक जानते थे कि उनकी योग्यता केवल प्राथमिक शाला में पढ़ाने की थी और ये श्रेष्ठ पुरुष जितने विद्वान हुए जितनी श्रेष्ठता उन्होंने प्राप्त की, उतनी विद्वत्ता तथा श्रेष्ठता प्रदान करने की क्षमता उनके अंदर नहीं थी। मेरा भी पंडित दीनदयाल से जो कुछ संबंध आया, वह उस प्राथमिक शाला के शिक्षक के रूप में ही समझना चाहिए, उससे अधिक नहीं।

अब यह लेख-संग्रह है। डा. संपूर्णानंदजी जैसे ख्यातनाम विद्वान और देश की राजनीति के अग्रगण्य पुरुष ने प्रस्तावना लिखकर इस लेख-संग्रह की महत्ता को बहुत बढ़ाया है। मुझे इसका समाधान भी है कि डा. संपूर्णानंद जी ने एक बहुत ही अच्छी परंपरा का अनुसरण किया है। जनतंत्र का उदय इंग्लैंड में हुआ। वहाँ के जनतंत्र के एक बहुत बड़े समर्थक ने कहा है– 'मेरे विचारों से विपरीत विचार व्यक्त करने का तुम्हें अधिकार है, यह मैं मानता हूँ। केवल इतना ही नहीं, तो तुम्हारे इस अधिकार का मैं समर्थन और रक्षण भी करूँगा।' यह भाव जनतंत्र की सफलता के लिए अनिवार्य है। मैं समझता हूँ कि डा. संपूर्णानंद जी ने इसी शुद्ध भावना से प्रेरित होकर प्रस्तावना लिखने का यह उपक्रम किया है।

मैं दोषज्ञ हूँ

इस संग्रह में जितने लेख हैं, वे मैंने शायद ही पढ़े होंगे। मैं वृत्तपत्र पढ़ने में बहुत कच्चा हूँ। कभी-कभार दिखाई दे गया तो पढ़ लेता हूँ। ऐसे ही एक बार एक वृत्तपत्र पढ़ रहा था। किसी ने पूछा– 'क्या पढ़ रहे हो?' मैंने कहा– 'क्या हुआ?' उन्होंने बताया– 'यह तो तीन माह पुराना है।' इसपर भी मेरा दुर्भाग्य यह है कि देश के हित की दृष्टि से जो आवश्यक हो, देश के लिए कोई अहितकर बात हो, सावधान करनेवाली घटना हो, उसपर मेरी दृष्टि पड़ जाती है। लोग कहते हैं– 'तुम दोष देखते हो।' बात सच है। अब इस संग्रह में जो छपा है, वह देखा। बिल्कुल प्रारंभ में डा. संपूर्णानंद जी के प्राक्कथन में संस्कृत का जो उद्धरण है, उसे देखकर मेरे रोंगटे खड़े हो गए। कारण यह कि वह ठीक नहीं छपा था। ऐसा दिखाई देता है कि अंग्रेजी छापखाने का यह गुण ही है कि संस्कृत वचनों को वे अवश्यमेव गलत छापेंगे। पता नहीं ऐसा क्या विधिलिखित है?

सैद्धांतिक अधिष्ठान

आज के इस कार्यक्रम का प्रबंध करनेवाले एक महानुभाव ने इस

लेख-संग्रह की कच्ची प्रतिलिपि मुझे दी थी। यह सोचकर कि बुद्धि में अंधकार रखकर खड़े होना योग्य नहीं, मैंने यहाँ से राजकोट जाते समय और वहाँ से विमान से यहाँ आते समय पूरी पुस्तक पढ़ ली। पुस्तक में अनेक विषय तो तात्कालिक ही हैं, परंतु हमारे दीनदयाल जी की एक विशेषता यह थी की तात्कालिक विषय को भी एक स्थायी सैद्धांतिक अधिष्ठान देकर वे लिखा करते थे, बोला करते थे। केवल तात्कालिक बात कहकर उसे छोड़ देना उनका स्वभाव नहीं था। कई वर्षों तक निकट सहकारी के नाते मैं उन्हें जानता रहा हूँ। मुझे पता है कि वे मूलगामी विचारों के अभ्यासक थे। तात्कालिक समस्या पर बोलते या लिखते समय भी उसके पीछे कोई न कोई चिरंतन सिद्धांत है, इसका विचार कर उसके अधिष्ठान पर ही वे शब्द-प्रयोग किया करते थे।

यह ठीक है कि राजनीतिक विरोधी दल के नेता के नाते शासनारूढ़ दल के अनेक कार्यों पर, उनकी नीतियों पर उन्होंने टीका-टिप्पणी की है। कभी-कभार कुछ व्यक्तियों के संबंध में कोई बात न आई हो ऐसा भी नहीं, परंतु उनके लेखों को हम सहृदयता से देखेंगे, तो दिखाई देगा कि टीका-टिप्पणी करते समय उनके हृदय में किसी दल या किसी व्यक्ति के प्रति किसी प्रकार के अनादर की, दूरता की भावना नहीं थी। जो कुछ लिखा, वह आत्मीयता से लिखा है। आत्मीयता इसलिए कि कोई भी दल हो, या अपने ही यहाँ का क्यों न हो, यदि अनिष्ट मार्ग से चलता है, तब दल का जो भला-बुरा होनेवाला हो, वह तो होगा ही, परंतु अंततोगत्वा देश का ही नुकसान होता है। विभिन्न दलों में कांग्रेस, सोशलिस्ट, प्रजासोशलिस्ट, जनसंघ, हिंदूसभा या रामराज्य परिषद कहें, सभी दलों में लोग तो अपने ही हैं। अपने लोग यदि कोई त्रुटि, कोई भूल करते हैं, अनिष्ट नीतियाँ अपनाते हैं, कोई कृति करते हैं देश के लिए लाभकारी न हो, तो उसके संबंध में बोलना, सचेत करना देश की भलाई के लिए आवश्यक ही रहता है।

राष्ट्र के सम्मान की बात

जिसे आजकल 'राजनीति' कहा जाता, उसके संबंध में मैं कुछ जानता नहीं। देश, राष्ट्र और समाज की सब प्रकार की श्रेष्ठता, सुरक्षा, उसका सम्मान आदि से जिसका संबंध होता है, उसे ही लें। इसके संबंध में बोलते समय अपने प्रधानमंत्री ने कहा— 'अंग्रेज गए तब उन्होंने हमें बताया नहीं कि देश की सीमा क्या है। इसलिए हमको पता नहीं कि कच्छ का यह हिस्सा हमारा है या नहीं।' उनका यह बयान पढ़कर मुझे अतीव

दुःख हुआ। अपने देश का प्रधानमंत्री अपने देश की सीमा तक नहीं जानता। इसलिए मैंने कहा– 'जिसे अपने देश की सीमा ही मालूम नहीं, वह अपना घर-बार बसाए तो इसमें कोई प्रत्यवाय नहीं, परंतु प्रधानमंत्री के दायित्वपूर्ण पद पर उसे नहीं रहना चाहिए।' देशभक्ति की यह माँग है कि वे स्वयं त्यागपत्र दें और देशभक्ति की ही यह माँग है कि यदि वे त्यागपत्र न दें, तो मंत्रिमंडल के उनके सहयोगी उनसे अपना स्थान छोड़ने की प्रार्थना करें। यह बड़ा लाभदायक होगा। मैं जानता हूँ कि जब मैंने यह कहा, तो इससे काफी लोग नाराज हुए। कुछ लोगों ने कहा कि ये राजनीतिक बात करते हैं।

शासन कांग्रेस चलाती है या कोई और चलाता है, इससे मुझे कोई सुख-दुःख नहीं। शासन अच्छा चलता है, देश की रक्षा होती है, असाधारण सुरक्षा अनुभव करते हैं, सुख की वृद्धि होती है, आत्मविश्वास, राष्ट्रभक्ति आदि पवित्र गुणों का विकास होकर सर्वसाधारण मनुष्य चारित्र्यसंपन्न, शीलसंपन्न, आत्मसमर्पण की भावना से युक्त बनता है, इसमें मेरी रुचि है; इसमें नहीं कि वहाँ कुर्सी पर कौन बैठता है।

शिखर पर बैठने की सबकी इच्छा होती है। मैंने कहा – 'भाई, शिखर पर बैठने की इच्छा क्यों हो? बड़े-बड़े मंदिरों के शिखर पर तो कौए भी बैठते हैं। हमें तो उस नींव का पत्थर बनने की आकांक्षा करनी चाहिए जो अपने कंधों पर मंदिर को भव्य स्वरूप देता है।' इसलिए जहाँ ऐसे गुणों का विकास दिखाई देता है, वहाँ मुझे संतोष होता है। अपने स्वदेशी लोगों द्वारा चलाया हुआ राज्य जब तक रहेगा तब तक हम तुलसीदास जी के शब्दों में यही कहेंगे – 'कोउ नृप होउ हमहि का हानि।' अर्थात् विदेशी, परकीय, आक्रमणकारी, राष्ट्रविरोधी नहीं चलेंगे। स्वकीय कोई भी हों, अपने ही हैं। आनंद से बैठें। हमें उसमें क्या चिंता है?

युधिष्ठिर के अनुगामी

मन को खटकनेवाली, राष्ट्र की दृष्टि से अपमानकारक कोई बात दिखती है, तो उसका उल्लेख करना मेरा धर्म है। जब कोई ऐसा कहता है कि इसमें राजनीति वगैरह का कोई झंझट नहीं तो कहना चाहिए कि उसे राजनीति समझती ही नहीं। बेकार ही राजनीतिक दल में काम करता है।

पं. दीनदयाल जी एक विरोधी दल के प्रमुख व्यक्ति थे। उनका तो यह कर्तव्य ही था कि जो अनिष्ट दिखे, जो-जो त्रुटिपूर्ण दिखाई दे, उसके

विषय में अपने मत को असंदिग्ध शब्दों में प्रकट करें। यह उन्होंने किया भी। उनके लेखों को देखने पर हमें दिखाई देगा कि उनके हृदय के अंदर कोई कटुता नहीं थी। शब्दों में भी कटुता नहीं थी। बड़े प्रेम से बोला करते थे। मेरा तो उनसे बहुत घनिष्ठ संबंध था। कभी किसी पर जरा भी नाराज नहीं हुए। बहुत खराबी होने पर भी खराबी करनेवाले के प्रति उन्होंने अपशब्द का प्रयोग नहीं किया। वे युधिष्ठिर के समान थे, जो दुर्योधन शब्द में दुराक्षर होने के कारण उसे 'दुर्योधन' नहीं 'सुयोधन' कहा करते थे। दीनदयाल जी भी इसी परंपरा के थे। इसलिए उनमें कटुता दिखाई नहीं दी– शब्दों में नहीं, हृदय में नहीं, वाणी में भी नहीं। इस पुस्तक में हमें उसका प्रत्यय मिलेगा।

प्रजातंत्र की कठोर मर्यादा

अपना यह जनतांत्रिक ढाँचा एक विशेष प्रकार का है। अंग्रेजों के संपर्क में आने के कारण उनके द्वारा अपनाई और विकसित प्रजातंत्र की पद्धति को ही हमने ग्रहण किया, उसी का अनुसरण किया। स्वयं हमने तो यह पद्धति बनाई नहीं। लोग कहते हैं कि यही आजकल की सर्वश्रेष्ठ पद्धति है। राज्य चलाने की जो भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ हैं, उनमें से यह पद्धति अंतिम सत्य के रूप में प्रकट हुई है।

'ब्रह्म सत्यं' को अंतिम सत्य मत मानो, इस विषय में कुछ और संशोधन करो– इस प्रकार का तर्क करनेवाले लोग ही कहते हैं कि राज्य चलाने की जो भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ हैं, उनमें यह पद्धति अंतिम सत्य के रूप में प्रकट हुई है।

राज्य चलाने की और भी भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ हैं। सामान्य व्यवहार के क्षेत्र में जहाँ कोई चीज कभी भी स्थायी नहीं रहती, नित्य बदलती रहती है, वहाँ यही एक पद्धति अंतिम है, सत्य है– यह बात जँचती नहीं। इसके बारे में कोई यह नहीं कह सकता कि यही एक श्रेष्ठ है। फिर भी आज हम लोगों ने यह मान लिया है कि यह अच्छी है। अपने सामने चलनेवाली अन्य विभिन्न पद्धतियों की तुलना में इसमें दोष कम हैं। कुछ दोष तो अवश्य ही हैं। परंतु कम से कम हैं। दोष हों भी, तो उनको दुरुस्त करने की कुछ संभावना भी रहती है। इसलिए यह अच्छी है। परंतु अच्छी कब है? वह अच्छी तभी है, जब, उसके पथ्यों को समझकर तदनुसार सब व्यवहार करने के लिए कटिबद्ध हों। यदि किसी ने कहा कि

अन्य लोग पथ्यों का पालन करें, मैं नहीं करूँगा— तब कोई यह भी कह सकता है कि वह इस पद्धति को ही नहीं मानता, देश को भी नहीं मानता। तब तो यह बड़े खतरे की बात होगी।

इसी बात का विचार कर पं. दीनदयाल जी ने जनतंत्र के विषय में अपना मत प्रकट किया है, कुछ गुण बताए हैं। यह बताया है कि मताधिकार का प्रयोग कैसे करना चाहिए। उसमें कुछ अंश तो अपने दल के प्रचार का है। इसमें कोई दोष भी नहीं, क्योंकि कोई भी आदमी अपने दल का प्रचार तो करेगा ही, परंतु इसके साथ ही उन्होंने स्थायी सिद्धांत भी दिए हैं, जो सदा के लिए, सभी दलों के, सभी व्यक्तियों के लिए हैं। संपूर्ण समाज के प्रत्येक व्यक्ति को इनपर विचार करना चाहिए। सफल प्रजातंत्र के लिए यह आवश्यक है, लाभदायक है।

आर्थिक समस्या, पंचवर्षीय योजना आदि की दृष्टि से भी इसमें अनेक प्रकार के विचार दिए गए हैं। मैंने इन्हें पढ़ने का प्रयत्न किया है। इसमें राजनीति है, अर्थनीति भी है, जिनके विषय में मैं कुछ बोल नहीं सकता, परंतु इतना कह सकता हूँ कि देश का भला हो इसका हृदय से गंभीरतापूर्वक विचार करने के बाद जो मत बने वे ही इन लेखों में उन्होंने अभिव्यक्त किए हैं। सब लोग यदि थोड़ा-सा पठन करेंगे तो विचार के लिए कुछ खाद्य मिलेगा, स्वतंत्र रूप से विचार की अनुकूलता प्राप्त होगी, देश के संपूर्ण जनतांत्रिक ढाँचे में अपनी ओर से कुछ योगदान करने की अपनी क्षमता बढ़ेगी।

दीनदयाल और मैं

उनके व्यक्तिशः संबंध में मैं कुछ बोलूंगा नहीं, अभी तक मैंने कुछ कहा भी नहीं। उनके विषय में बोलते समय मुझे बहुत दुःख होता है। वे संघ के एक प्रचारक थे। मैं संघ का एक स्वयंसेवक हूँ। उसका कुछ उत्तरदायित्व लोगों ने मुझपर रखा है। इस कारण उनसे अपने एक प्रचारक के नाते मेरा संबंध था। अब तो मैं पंडित जी वगैरह कहता हूँ, क्योंकि सर्वसामान्य समाज में उन्होंने जो प्रतिष्ठा प्राप्त की उस नाते मुझे वैसा ही कहना चाहिए। परंतु वह एक बालक, एक विद्यार्थी इस नाते बढ़ा। केवल बढ़ा ही नहीं तो बड़ा हुआ। इस प्रकार का हमारा संबंध था। मेरे सामने देखते-घूमते चला गया। मैं उससे १०-१२ साल बड़ा हूँ। वह गया बिल्कुल तारुण्य में। इसी का दुःख है।

कभी-कभी मुझे ऐसा लगता है कि वह संघ का प्रचारक था तो अच्छा था। हमारे स्व. डा. श्यामाप्रसाद एक बार मेरे पास आए और उन्होंने कहा- 'मैं एक राजनीतिक दल चलाना चाहता हूँ। मुझे कुछ कार्यकर्ता दो।' इसपर हमारे सब मित्रों ने कहा- 'डा. श्यामाप्रसाद से अपना निकट संबंध है, उनको एक सहयोगी देना कठिन नहीं है। उनको एक अच्छा आदमी चाहिए। दीनदयाल अच्छा आदमी है।' इसलिए दीनदयाल को उन्हें दिया। जनसंघ की वृद्धि से हम समझ सकते हैं कि उन्हें कितना बड़ा कार्यकर्ता प्राप्त हुआ। थोड़े ही समय में उसने जो प्रतिष्ठा कमाई, उससे हम समझ सकते हैं कि उसमें कितना कर्तृत्व था। मैं जानता था कि वह कर्तृत्ववान है, गुणवान है, बुद्धिमान है। मुझे इस बात का भी प्रत्यक्ष अनुभव है कि संघ के प्रचारक के नाते वह संगठन के शास्त्र में कुशल है। मैं यह भी जानता था कि अपनी मधुर वाणी, स्नेहिल व्यवहार और सब प्रकार के मानसिक-बौद्धिक संतुलन से उस क्षेत्र में वह असामान्य स्थान प्राप्त करेगा। देश में तो उसे बहुत बड़ा स्थान प्राप्त हो चुका था, और भी बड़ा स्थान मिल सकता था। मुझे दुःख यही होता है कि जगत् में सामने आने, असामान्य स्थान प्राप्त करने के पहले ही वह चला गया।

अपने घर का लड़का बुद्धिमान हो, होशियार हो, खूब उत्तम रीति से परीक्षा उत्तीर्ण कर रहा हो, इधर-उधर नाम कमा रहा हो, ऐसा लड़का चट से चला जाए, तब माँ-बाप को कैसा दुख होता है? आपमें से बहुतांश परिवार चलानेवाले लोग हैं, इसकी कल्पना कर सकते हैं। मैं परिवार नहीं चलाता, इसलिए मेरे दुःख की भावना शतगुणित है। इसी कारण उसके वैयक्तिक संबंध में कुछ नहीं कहूँगा। इतना ही कहूँगा कि ईश्वर ने उसे ले लिया है। अंग्रेजी की एक पुरानी कहावत मैंने पढ़ी है – 'दोज हूम गॉड लव्हज डाय यंग।' भगवान को शायद उस पर अतीव प्रेम था, इसी कारण हम लोगों के प्रेम की अवहेलना कर वह उसे उठाकर ले गया।

मार्गभ्रष्ट जाँच

जिस प्रकार से वह गया, जिस प्रकार की वह घटना है, वह भी दुःखकारक है। उसका कोई पता नहीं लगा सका, यह और भी दुःखकारक और लज्जास्पद है। इस मामले में जो कुछ हुआ है, उसकी मुझे पहले ही आशंका थी। उसके शरीर का अंतिम दर्शन करने के लिए मैं वाराणसी गया था। पोस्टमार्टम के स्थान पर उसका शरीर देखा और बाहर आ गया। मित्रों से मैंने कहा – 'भाई देखो, इसका जो 'इन्वेस्टिगेशन' है 'इट विल

बी साईड ट्रेक्ड, बीवेयर, टेक केयर।' मित्रों ने कहा, ऐसा क्यों कहते हो?' परंतु चारों ओर देखकर मेरे हृदय में यह निश्चित आभास हो गया था। मुझे अनेक बातों की ऐसी पूर्वसूचना मिलती है। ऐसी ही एक पूर्वसूचना मेरे हृदय की थी। किसने किया होगा, नाम तो कहने की मेरी शक्ति नहीं है, परंतु किन क्षेत्रों से यह हुआ है – इसकी भी पूर्वसूचना मेरे अंतःकरण में है। मेरे हृदय का यह परिपूर्ण विश्वास है कि अभी जो कुछ चल रहा है, वह तो उस पर पर्दा डालने के लिए ढकोसला खड़ा किया जा रहा है। परंतु मैं तो कुछ कर नहीं सकता। मैं कोई इन्वेस्टिगेटिंग ऑफिसर तो हूँ नहीं और न कोई सरकारी अधिकारी हूँ। यह व्यथा मात्र मैं प्रकट कर देता हूँ कि जाँच-पड़ताल शुद्ध हृदय से नहीं हुई है और जाँच-पड़ताल को मार्गभ्रष्ट करने का प्रयास भी किया गया है।

मैं समझता हूँ कि यह ठीक नहीं है। आज एक दल का गया, यह दुर्भाग्य अन्य दलों पर नहीं आएगा– यह कोई कह सकता है क्या? इसलिए उसका वहीं पर, याने प्रथम स्थिति में ही प्रबंध किया जाना चाहिए। योग्य रूप से पता लगाकर इसके लिए अगर कोई दल, कोई समाज अथवा व्यक्तिसमूह अपराधी दिखाई दे, तो उसे कठोर रीति से दंडित कर ऐसा वायुमंडल उत्पन्न करना आवश्यक है, जिससे फिर कभी कोई खराब माथे का व्यक्ति या व्यक्तिसमूह अपने देश का जनतंत्र चलानेवाले किसी भी दल के किसी भी व्यक्ति पर हाथ उठाने का साहस न कर सके। ऐसा वायुमंडल बनाना सभी का कर्तव्य है, शासन का तो वह धर्म है। वह नहीं हुआ, इसका दुःख है।

रोने के लिए समय कहाँ?

परंतु अपने यहाँ कहा गया है– 'गतं न शोच्यं', आगे की सोचो। इसलिए मैं रोते नहीं बैठा, कभी बैठूँगा भी नहीं। अन्य कार्यकर्ता उसके शरीर को देखते ही कटे पेड़ की तरह हो गए। गिरते हुए इन कार्यकर्ताओं को पकड़कर मैंने कहा– 'क्या कर रहे हो? आप तो एक कार्य में लगे हुए हो। रोने के लिए समय किसके पास है? अपने पास समय नहीं है। शरीर जब कार्यक्षम नहीं रहेगा, कार्य की वृद्धि नहीं कर पाएँगे तब बुढ़ापे में और मृत्युशय्या पर जितने भी दुःख हैं, उनके लिए रो लेंगे। अभी रोने के लिए समय नहीं है। यह तो काम का समय है।'

हमें सोचना चाहिए कि गया तो जाने दो। एक गया तो क्या होता

है। हमारी वसुंधरा तो बहुरत्नप्रसवा है। हमारे समाज ने एक के बाद एक कितने ही असामान्य पुरुष पैदा किए हैं। दीनदयाल कोई अंतिम नहीं है। वैसे पुनः उत्पन्न हो सकते हैं, ऐसा विश्वास दिलानेवाली एक विभूति, इस नाते से वह अपने सामने है। इसी आश्वासन के साथ, हम अपने अंतःकरण में यह आशा और विश्वास लेकर चलें कि अपनी लगन से, अपनी ध्येयनिष्ठा से, अपने प्रयत्नों से, अपने समाज में एक से एक बढ़कर कार्यकर्ता फिर से खड़े होंगे। विचार करनेवाले खड़े होंगे। व्यक्तिगत परिवार-संसार की सब चिंताओं को छोड़कर, केवल राष्ट्र का ही परिवार चलाने की दृढ़ता हृदय के अंदर लेकर चलनेवाले और जिन्हें त्यागमूर्ति न भी कहा जाए, परंतु जो त्याग के परिपूर्ण रूप हों, इस प्रकार के लोग खड़े होंगे। इसके लिए प्रयत्न करना अपना प्रथम कर्त्तव्य है। हृदय के अंदर ऐसा दृढ़ विश्वास लेकर हम लोग चलें, तो ऐसा समझा जाएगा कि उनके स्मारक इत्यादि की दृष्टि से हम लोगों ने अच्छा कार्य किया है।

३६. अभिजात विचारवान : पं. दीनदयाल जी

(२३ फरवरी १९६९ को कानपुर, उत्तरप्रदेश में पं. दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय के शिलान्यास के शुभ अवसर पर दिया गया भाषण)

शिक्षा के संबंध में मेरे मन में स्वाभाविक प्रेम है, किंतु राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्य में प्रत्यक्ष रूप से किसी विद्यालय में पढ़ाना या किसी छात्र को घर बुलाकर पढ़ाना मेरे लिए संभव नहीं है। वंशपरंपरा से मैं शिक्षक ही रहा हूँ। हमारे एक पूर्वज बड़े धर्माचार्य हुए हैं। अपने एक धर्मशास्त्र में उनका बड़ा अधिकार माना जाता है। उन्हें पुरस्कार में एक गाँव मिला था। उस गाँव के नाम पर ही मेरा यह नाम गोलवलकर पड़ा है। परंपरा से शिक्षा-क्षेत्र में रहने के कारण यह देखकर सुख होना स्वाभाविक ही है कि यहाँ एक नवीन विद्यालय का निर्माण होने जा रहा है। दूसरी प्रसन्नता की बात यह है कि यह विद्यालय अपने पं. दीनदयाल के नाम से चलाने का संकल्प किया गया है।

संस्था का नाम बदलते रहना अनुचित

अनेक स्थलों पर विद्यालय चलते हैं। किसी न किसी का नाम उसपर रहता है। कभी किसी बड़े अधिकारी का नाम रहता है, किभी किसी बड़ी धनराशि देनेवाले पुरुष का। नागपुर में एक विद्यालय है जिसकी शताब्दी इसी वर्ष पूर्ण हुई है। पहले उसका नाम था– 'नीलसिटी हाईस्कूल।' नील नाम का कोई अंग्रेज अधिकारी था, उसी के नाम पर उक्त नाम रखा गया था। बाद में नागपुर के एक सज्जन ने उस विद्यालय को धन दिया। इस पर उक्त सज्जन का नाम स्कूल में लग गया। कोई और सज्जन यदि पैसे दे देंगे तो शायद उनका नाम लग जाएगा और यह नाम हट जाएगा। एक ही जीवन में उसके कितने नाम रखे जाएँगे, भगवान जाने।

किसी धनदाता के धन या सत्ताधारी पुरुष की कृपा से बननेवाले विद्यालय के साथ धनदाता या सत्ताधारी पुरुष का नाम जोड़ने की परिपाटी अनेक स्थानों पर दिखाई देती है। परंतु जिसने धन नहीं दिया, धन देने की जिसमें क्षमता नहीं और जो कोई बड़ा अधिकारी भी नहीं रहा, ऐसे एक 'सामान्य से दिखनेवाले' व्यक्ति के नाम से यह विद्यालय चलाने का जो संकल्प हुआ है, वह अच्छा ही है। मैंने उनके संबंध में 'सामान्य से दिखनेवाले' शब्द का प्रयोग किया है, परंतु उनमें बहुत गुण थे। इस कारण उन्हें असामान्य ही कहना चाहिए।

सब विषयों का गहन अध्ययन

उन्होंने केवल विश्वविद्यालय से उपाधियाँ प्राप्त की थीं इतना ही नहीं, उत्तम विद्यार्जन भी किया था। उपाधियाँ तो कोई भी प्राप्त कर सकता है। आजकल तो उपाधियाँ प्राप्त करने के अनेक सरल मार्ग उपलब्ध हो गए हैं। उसके कारण ज्ञानशून्य अवस्था में ज्ञान की उपाधि प्राप्त हो सकती है। लेकिन उन्होंने उपाधि अपने परिश्रम, बुद्धि और अध्ययन से प्राप्त की थी। उसके साथ इतने अन्यान्य विषयों का उनका अध्ययन था कि कभी-कभी तो आश्चर्य होता है कि इतने छोटे से सिर में यह सब समाया कैसे। अनेक विषयों पर वे मुझसे वार्ता करते थे। अनेक बार परामर्श करने के लिए आते थे। कभी-कभी वे यह भी कहते थे कि मुझे आपका मार्गदर्शन चाहिए। परंतु यह तो कहने की बात थी।

मैंने अनुभव किया कि उनका अध्ययन विभिन्न विषयों– समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र, राजनीति, साहित्य आदि में बहुत गहन, गंभीर और गहराई तक

पहुँचा हुआ था। उनकी अप्रतिहत गति देखकर लोगों को आश्चर्य होता था। कोई व्यक्ति केवल अध्ययन में ही अपना सारा समय लगा कर इस प्रकार से अपनी गति उत्पन्न कर सकता है, परंतु उन्होंने अपना सारा समय केवल अध्ययन के लिए तो लगाया नहीं था। समय तो लगा था अन्य क्षेत्रों में, राष्ट्र के अभ्युदय में, उत्थान में, राष्ट्र के सुप्त सामर्थ्य को जगाने में, समाज के व्यक्ति-व्यक्ति को जोड़कर उसमें से एक प्रबल संगठित सामर्थ्य के आविष्कार में। इन कार्यों में उनका कितना समय जाता था, इसकी मैं कल्पना कर सकता हूँ।

अभिजात विचार की क्षमता

कभी-कभी कुछ बंधु मुझे अभिमत लिखने के लिए पुस्तकें देते हैं। मैं तो कुछ पढ़ नहीं पाता। सबेरे से लेकर रात तक कोई न कोई मिलने आता रहता है। विभिन्न प्रकार के लोगों से बात करनी पड़ती है। अनेक लोग और अनेक प्रकार की वार्ता। मनुष्य में जितनी प्रकृति होती हैं, उतनी तरह की बातचीत की भी प्रकृतियाँ हैं। इन सब के कारण पुस्तक खोल के पढ़ने का समय नहीं मिलता। आजकल लोग वृत्त-पत्र पढ़ते हैं, पर मैं नहीं पढ़ता। लोगों के पास समय है, पर मेरे पास नहीं। हाँ, काम के लिए समय है। जो कुछ कार्य मेरे द्वारा होता है, उससे अधिक कार्य करने के बाद भी वे अध्ययन कैसे कर लेते थे, यह मेरे लिए चमत्कार का विषय है।

उनके पास कोई तो जादू था जिसके कारण वे प्रातःकाल से रात्रि तक, अखंड अविराम कार्य में लगे रहने के बाद भी, विभिन्न विषयों का अध्ययन भी कर सकते थे। विविध विषयों पर वे लिख भी सकते थे। अभिजात विचार भी वे लोगों को दे सकते थे। वे एक होनहार, बुद्धिमान तथा कर्तृत्ववान पुरुष थे। यह तीनों शब्द मैंने इसलिए कहे कि व्यक्ति में विशेष रूप से बुद्धि होती है और गुण होते हैं परंतु कर्तृत्व के अभाव में सब नष्ट हो जाता है और अन्य गुणों के अभाव में कर्तृत्व उपयोग में नहीं आता। बुद्धि के बिना गुण और कर्तृत्व अपने स्थान पर ही रह जाते हैं। तीनों ही बातें होने कारण ही मैंने कहा कि 'सामान्य से दिखनेवाले' व्यक्ति परंतु जो वास्तव में असामान्य हो, उसके नाम से यह विद्यालय चल रहा है।

शिक्षा का मूल हेतु

हमें आशा और विश्वास है कि इस विद्यालय के संचालन, अध्यापन या अध्ययन का कार्य जो लोग करेंगे, वे सब इस नाम का आदर्श अपने

निर्माण करने में सफलता मिलेगी तभी देश का भवितव्य उज्ज्वल होगा। योग्य संस्कार, योग्य प्रकार का अध्ययन लेकर ही मनुष्य अपने कर्तृत्व के सहारे खड़ा होता है। किसी भी राष्ट्र या देश में ऐसे पुरुषों की जितनी विपुलता होती है, जितना अधिक उनका अनुपात होता है, उसीपर उस राष्ट्र का भवितव्य निर्भर रहता है।

यदि अधिकांश जनसंख्या के पास बुद्धि न हो, किसी प्रकार के कर्तृत्व की पात्रता न हो, तो वह जनसंख्या केवल अन्य लोगों के उपयोग के लिए ही होगी, जो उनको दास के रूप में अपने काम लाएँगे। अपने निजी पराक्रम से स्वराष्ट्र का अभ्युदय करने की क्षमता उनके अंदर नहीं रह सकेगी। इसलिए जितने अधिक परिमाण में लोग ऐसे कर्तृत्वसंपन्न होंगे, कर्तृत्व के साथ गुणसम्पन्नता होगी और गुणों को बुद्धिमत्ता के द्वारा अधिकाधिक क्षमतासंपन्न बनानेवाले लोग होंगे, उतने ही परिमाण में वे उस राष्ट्र का एवं अपना स्वयं का जीवन जगत् के सम्मुख श्रेष्ठ बना सकेंगे। परंपरा से ऐसे लोग उत्पन्न होते जाएँ, यही शिक्षा का एकमात्र हेतु है।

वर्तमान की शिक्षा जीवलोक में 'अर्थकरी विद्या' है। इस प्रकार की विद्या से केवल अर्थ प्राप्त होता है, जीविका का साधन प्राप्त होता है। परंतु आज की विद्या तो 'अर्थकरी' भी नहीं रह गई है। नौकरी करना दास-प्रवृत्ति ही तो है। नौकरी करना, याने गुलामी करना। अर्थकरी का तात्पर्य है कि जो अध्ययन किया है, जो बुद्धि है, उससे स्वतंत्रतापूर्वक अपना द्रव्यार्जन कर जीविका चलाना। जो इस प्रकार अपनी जीविका चला सकता है, वास्तव में उसी की विद्या अर्थकरी है।

आज ऐसी अर्थकरी विद्या अपने यहाँ नहीं है। केवल नौकरी की प्रवृत्ति उत्पन्न करनेवाली विद्या यहाँ चल रही है, ऐसी विद्या से देश की भलाई नहीं हो सकती।

नौकरी उत्पादक नहीं हो सकती

ऐसी शिक्षा पानेवाले देश की समृद्धि में योगदान नहीं कर सकते। यदि किसी ने कुछ समृद्धि उत्पन्न की भी तो वे उसे भोगनेवाले ही बनेंगे। नौकरी करनेवाला देश को खाता है। वह लोगों के पैसे, उनकी संपत्ति ही खाता है। नौकरी करनेवाला कौन सा उत्पादन करता है? कुछ नहीं करता। देश की संपत्ति में उसके द्वारा किस प्रकार से सहायता प्राप्त होगी? वह तो

अधिक से अधिक इतना ही कर सकेगा कि देश की संपत्ति खानेवालों की संख्या बढ़ा दे। वह संपत्ति में वृद्धि नहीं कर सकता। ऐसी शिक्षा तो आदमी को और सारे देश को लेकर डूबनेवाली है।

अपने यहाँ शिक्षा का हेतु बहुत ही उच्च बताया गया है। शिक्षा से मनुष्य के अंदर जो एक चिरंतन सत्य तत्त्व है, उसे आविष्कृत करने की क्षमता प्राप्त होनी चाहिए। उसके लिए आवश्यक गुण विकसित हों, जगत् भर के अनेकानेक आवश्यक विषयों का ज्ञान प्राप्त हो तथा यह बोध हो जाए कि अपने अंदर की सत्य अवस्था का ज्ञान मुझे है। इसलिए अपने यहाँ कहा गया है कि प्रत्येक मनुष्य को वे प्राथमिक बातें सीखनी चाहिए, जिनसे मनुष्य को अपनी वास्तविक स्थिति, अर्थात् अपने चिरंतन तत्त्व का थोड़ा-बहुत बोध हो जाए। मनुष्य की आत्मा को मानो प्रकट करना ही शिक्षा का कार्य है। इस अर्थ में तो आजकल कहीं शिक्षा होती नहीं। केवल इधर-उधर के दो-चार विषयों के टूटे-फूटे, अधकचरे टुकड़े ही दिमाग में भरे जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि दिमाग को कचरा डालने वाली पेटी बना दिया गया है।

मनुष्य के व्यक्तित्व, चिरंतन तत्त्व और सदगुणों का विकास तथा अवगुणों का ह्रास होता दिखाई दे रहा है, इसलिए ऐसा लक्ष्य सामने रखनेवाले शिक्षा प्रतिष्ठान देश भर में, स्थान-स्थान पर स्थापित होना आवश्यक है।

योग्य आदर्श रखा

ऐसे प्रतिष्ठानों के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने सामने किसी श्रेष्ठ व्यक्ति का आदर्श रखें तथा अपने छात्रों को उसके जैसा बनाने का प्रयत्न करें। इस दृष्टि से इस संकल्पित विद्यालय ने अपने समक्ष एक बहुत योग्य पुरुष का आदर्श रखा है। दीनदयाल नाम का एक विशिष्ट व्यक्ति तो चला गया, परंतु हम आशा करें कि जिस गुणसमुच्चय और कर्तृत्व से युक्त असंख्य लोगों की परंपरा उनके नाम से स्थापित होने वाले इस विद्यालय से निर्मित होकर आगे बढ़ेगी, ऐसी परंपरा ही राष्ट्रकार्य के लिए उपयोगी होगी।

जिस युग में हम रह रहे हैं, उसे 'कलियुग' कहते हैं। इस युग के जो अनेक दोष बताए गए हैं, उनमें से एक यह है कि मनुष्य को पुत्र-शोक प्राप्त होता है। पूर्व काल में पुत्र-शोक नहीं होता था। प्रत्येक व्यक्ति पूर्णायु

प्राप्त करके ही जाता था। इसलिए किसी पिता के सामने पुत्र की मृत्यु का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता था। किंतु अब कलियुग में सभी बातें उल्टी हो रही हैं। बूढ़े-बूढ़े जी रहे हैं और तरुण जा रहे हैं। मुझे भी एक बहुत बड़ी गृहस्थी और परिवार का याने संघ परिवार का मुखिया होने का सौभाग्य प्राप्त है। जब कुछ ऐसी-वैसी बातें हो जाती हैं तो यही सोचकर चलना पड़ता है कि यह कलियुग है। कुछ अपने पूर्वजन्म और कुछ इस जन्म का अनिष्ट कार्य ही होगा, जिसके फलस्वरूप इस प्रकार के शोक का दंड मिल रहा है।

हम सब बंधु अपने मन में यह विचार रखें कि इस विद्यालय की प्रगति हम सबके प्रयत्नों से ही होगी। हमें इसके लिए सहयोग करना होगा और सर्वोत्तम सहयोग यही होगा कि हम स्वयं अपने जीवन में गुण, बुद्धि और कर्तृत्व का समुच्चय विकसित करने का प्रयत्न करें। आलसी न बनें। ध्येय और कर्मपथ से विचलित न हों। यदि हम लोगों ने इतना ध्यान रखा तो आनेवाली पीढ़ी को हम योग्य बना सकेंगे।

संघ-स्वयंसेवक और राजनीति

किसी व्यक्ति, विशेषकर जब अपने स्वयंसेवक को इधर-उधर का आकर्षण हो जाता है, तब वह अपने संघ के नित्य कार्य से कभी-कभी कुछ विरक्त-सा हो जाता है। मनुष्य जगत् के आकर्षणों से विचलित होता ही है। यदि किसी को राजनीति के क्षेत्र में जाने का अवसर मिल गया, तो वह सोचने लगता है कि वह भगवान के समकक्ष हो गया है। अब उसके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा। भगवान ने गीता में कहा है– 'मेरे लिए कोई कर्तव्य नहीं। कर्म के लिए मेरे मन में कोई स्पृहा भी नहीं।' इसी प्रकार राजनीति के क्षेत्र में गया हुआ व्यक्ति भी अपने को भगवान मान कर कहता है कि मेरे लिए अब कोई कर्म नहीं। संघ में अपने लिए कुछ करणीय नहीं। राजनीतिक क्षेत्र में मैं भाषणबाजी करूँगा– मेरे लिए यही सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रकार्य है, बाकी सब नगण्य है, क्षुद्र है। राजनीतिज्ञों में ऐसा अभिमान उत्पन्न हो जाता है।

दीनदयाल जी स्वयंसेवकत्व नहीं भूले

ऐसी अवस्था में हमें दीनदयाल जी का उदाहरण अपने सामने रखना चाहिए। उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में एक असामान्य स्थान प्राप्त किया था। उसे असामान्य इसलिए नहीं कहता हूँ कि वे जनसंघ के अध्यक्ष हो गए थे। अध्यक्ष तो वे दस वर्ष पूर्व ही हो सकते थे। वे तो अध्यक्ष

बनानेवाले बने थे। अध्यक्ष होने की योग्यता कई वर्ष पहले से ही उनमें थी। विचारों के संतुलन, भाषा और विद्वत्ता के कारण संपूर्ण राजनीतिक क्षेत्र में उनकी एक छाप थी। सभी यह सोचते थे कि यह व्यक्ति जो कुछ बोलता है, ठीक है। उसपर वे भी विचार करना आवश्यक मानते थे।

जिन व्यक्तियों के हृदय में उनके विचार सुनकर कुछ विरोध भी उत्पन्न होता था, वे भी उनकी बात पर विचार करते थे। भिन्न-भिन्न दलों के बड़े-बड़े लोग भी उन्हें श्रेष्ठ मानते थे। उनकी सर्वदूर धाक थी। परंतु इतना सब होने के बाद भी वे अपना सीधा-साधा स्वयंसेवकत्व तथा उसके अनुरूप व्यवहार व आचरण कभी भूले नहीं। हम लोग कहा करते थे, जरा इधर आकर प्रतिष्ठित व्यक्ति के समान बैठिए। पर वे स्वयंसेवकों में ही बैठते थे। उन्होंने कभी ऐसा नहीं माना कि मैं बड़ा हूँ।

यदि उनसे कहा गया कि संघ के कार्य के लिए आपको ऐसा करना है, तब वे अपने जनसंघ का सारा काम-धंधा लपेट कर संघकार्य के लिए प्रस्तुत हो जाते थे। उनकी श्रेष्ठता, सौजन्यता, विद्वत्ता तथा अत्यंत विनम्रता के पीछे यही एकमात्र रहस्य था कि वे जिस किसी भी क्षेत्र में कार्य करने गए, उन्होंने अपना स्वयंसेवकत्व नित्य जागृत रखा। अपने अंतःकरण में अनुशासन को सदा बाँधे रखा। कभी भी अपने मन को, वृत्ति को भटकने नहीं दिया।

यदि हम सबने भी इन सद्‌गुणों का विचार किया और उन्हें अपने अंदर चरितार्थ कर लिया, तो इस विद्यालय को आनेवाली पीढ़ियों का मार्गदर्शन करने की क्षमता प्राप्त होगी तथा सभी प्रकार के राष्ट्रोपयोगी कार्य करना संभव होगा।

३७. वानप्रस्थी बाबू दिलीपचंद जी

(चंडीगढ़ के विभाग संघचालक बाबू दिलीपचंद जी के वानप्रस्थ जीवन में प्रवेश के अवसर पर दिए गए भाषण के कुछ अंश; १३ अप्रैल १९६९)

रघुवंश नामक महाकाव्य में महाराज रघु के चरित्र का वर्णन करते हुए कवि कालिदास का कथन है कि रघुवंश के पुरुषों ने अपने संपूर्ण

जीवन को दो भागों में विभक्त कर रखा था। जीवन के प्रथम चरण में वे जन-कल्याण हेतु ज्ञान, शक्ति एवं धन का संचय करते थे और अपने आपको परमपिता ईश्वर की आराधना में संलग्न रखते थे तथा जीवन के द्वितीय चरण में वे ईश्वर की आराधना, समाज की सेवा के माध्यम से करते थे।

बाबू दिलीपचंद के संपर्क में मैं सुनाम, पटियाला तथा यहाँ चंडीगढ़ में आया हूँ और उनके निकट ठहरा भी हूँ। उनके आतिथ्य- सत्कार की तुलना में उनकी आत्मीयता मुझे अधिक प्राप्त हुई है। उन्होंने अपना जीवन सदाचारपूर्ण विधि से व्यतीत किया है। दीवानी क्षेत्र में वे वकालत भी करते रहे हैं। पर उन्होंने सदाचार का परित्याग नहीं किया।

मैंने भी अत्यल्प काल के लिए वकालत की थी। एक बार एक मुवक्किल मेरे पास आया। उसने कहा कि उसने एक व्यक्ति को कुछ धनराशि उधार दी है, जिसे वह अब वापस नहीं करना चाहता। लिखित रूप में कोई भी साक्ष्य उपलब्ध नहीं था। मैंने अनुभवी वकीलों से परामर्श किया। सभी ने परामर्श दिया कि दो गवाह तैयार कर लो तथा उन्हें सभी बातें समझा दो। इतना पर्याप्त है। अर्थात् झूठे गवाह तैयार कर मैं उन्हें यह सिखाऊँ कि वे न्यायालय में यह वक्तव्य दें कि धनराशि उनके सम्मुख दी गई थी। किंतु यह मुझसे न हो सका। मैंने मुकदमा लेना अस्वीकार कर दिया और उसी के साथ वकालत से विदा ले ली।

हम हिंदुओं की एक परंपरा है। जैसे ही एक पुरुष यह अनुभव करता है कि उसके पुत्र, पौत्र वयस्क हो गए हैं, वह गृहस्वामी का दायित्व त्याग देता है तथा अपने आपको समाजसेवा में समर्पित कर देता है। जीवन का 'तृतीय' चरण एक प्रकार से 'चतुर्थ' चरण की तैयारी का काल है। व्यक्तिगत रूप सें मैं कभी भी गृहस्थ नहीं रहा। इसलिए उस विषय में बोलने का अधिकार मुझे नहीं है। इतना होने पर भी मैं एक गृहस्वामी की स्थिति को समझता हूँ।

भगवान के परम भक्त नारद ने एक बार ऐसे ही प्रश्न पर विचार करने के उपरांत एक गृहस्वामी से पूछा— 'मेरे जैसे पुरुष प्रत्येक क्षण परमेश्वर का स्मरण करते हैं। क्या आप भी ऐसा ही करते हैं?'

उस गृहस्थ ने उत्तर दिया— 'हम गृहस्थ भी ईश्वर का स्मरण करते हैं, किंतु चौबीस घंटों में केवल दो बार।' इस उत्तर से नारद विक्षुब्ध हो

उठे। उन्होंने विचार किया कि यह भी क्या जीवन है? उनसे रहा न गया। उन्होंने इसकी शिकायत साक्षात् परमेश्वर से की।

भगवान ने कहा– 'चिंतित क्यों होते हो? ये गृहस्थ प्रतिदिन कम से कम प्रातः वेला में जागने पर और रात्रि में निद्रा से पूर्व मेरा स्मरण करते तो हैं।'

भगवान के श्रीमुख से ऐसे वचन सुनकर नारद और भी अधिक विक्षुब्ध हो गए। किंतु भगवान रहस्यपूर्ण रीति से मुस्कराते रहे। तदुपरान्त उन्होंने नारद से तेल से भरा कटोरा लाने को कहा। नारद के ऐसा करने पर भगवान ने उनसे उसे लेकर संसार-भ्रमण पर निकलने को कहा। साथ ही यह निर्देश दिया कि उक्त पात्र में से एक बूँद तेल भी पृथ्वी पर गिरने न पाए।

निर्देशानुसार नारद ने वैसा ही किया। उनके वापस आने पर भगवान ने नारद से पूछा– 'इस भ्रमण के दौरान मेरा स्मरण कितनी बार किया था?'

नारद ने विनयपूर्वक उत्तर दिया– 'मैं आपका स्मरण कैसे कर सकता था। मेरी संपूर्ण शक्तियाँ तो इस बात पर केंद्रित थीं कि पात्र में से एक बूँद तेल भी नीचे न गिरने पाए।'

इसपर भगवान ने कहा - 'संभवतः अब तुम समझ गए होगे कि एक गृहस्थ के लिए मेरा स्मरण कर पाना कितना कठिन है।'

मैं भी इस बात को अनुभव करता हूँ कि एक गृहस्थ के लिए ऐसा कर पाना कठिन होता है। फिर भी बाबू दिलीपचंद अत्यंत सावधानी के साथ संघकार्य करते रहे हैं। आप ऐसा तभी कर सकते हैं, जब आपको संघ से प्रेम हो और आप उससे प्रेरणा प्राप्त करते रहे हों। आप प्रति क्षण यह धारणा रखते हैं कि पवित्र भारतमाता अपने सम्मुख है और हमें उसका समादर करना चाहिए।

इस राष्ट्र का आदर सभी व्यक्तियों द्वारा किया जाना चाहिए। उसे पूर्णतया संगठित करना चाहिए। सभी के प्रति स्नेह की भावना रखकर समाज के सभी घटकों का संगठन एक परिवार की भाँति करना चाहिए। हमें यह अनुभव करना चाहिए कि हम सभी एक हैं। विगत सहस्रों वर्षों से हम एक रहे हैं। इस राष्ट्र ने अनेकानेक आपत्तियों एवं आक्रमणों का मुकाबला किया है। वर्तमान समय में भी अपने राष्ट्र के समक्ष अनेकानेक

संकट समुपस्थित हैं। हमें अपने राष्ट्र को इन संकटों से मुक्त कर उसे अपने पैरों पर खड़ा करना है। हमें इसे अपने मन-मंदिर में प्रतिष्ठित करना है। हमें इस तथ्य को समझना चाहिए कि इसके प्रति समाज के सभी घटकों में श्रेष्ठ भावनाओं को उत्पन्न करके ही सामर्थ्य खड़ा किया जा सकता है। इस कार्य को हमें अपने जीवन का लक्ष्य बनाना होगा। यह पवित्रतम आदर्श है। हम अपनी श्रेष्ठ परंपराओं का संरक्षण इसी रीति से कर सकते हैं।

हमें वृद्धावस्था की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए, जब अपने चारों ओर के लोग यह कहना आरंभ कर दें कि यह वृद्ध व्यक्ति इस संसार से कब उठेगा? अनावश्यक आसक्ति को तिलांजलि देकर अपने समक्ष उपस्थित लक्ष्य के प्रति कार्य करना चाहिए। अनेकानेक वर्ष पूर्व जब मैं अपेक्षाकृत कम आयु का था, मैंने एक व्रत लिया था। मेरे इष्ट मित्रों को इसका पता लगा तो वे मुझे परामर्श देने लगे, तुम्हें शीघ्रता क्या है? यह व्रत तो वृद्धावस्था में भी लिया जा सकता है। मैंने उन्हें कहा कि राष्ट्र-भगवान की पूजा उस समय करनी चाहिए, जब हम स्वस्थ एवं युवा हों। जर्जर शरीर लक्ष्य के साथ न्याय नहीं कर सकता।'

३८. डाक्टर जी के बहिश्चर प्राण श्री अप्पाजी जोशी

(विदर्भ प्रांतसंघचालक माननीय हरिकृष्ण (अप्पाजी) जोशी की ७१वीं वर्षगाँठ पर वर्धा में ६ जून १९६९ को दिया गया भाषण)

'इस भूमि के रजःकण से निर्माण हुआ अपना हिंदू समाज कश्मीर से कन्याकुमारी तक एक ही है। इसमें वेश, भाषा आदि के भेद हमें मान्य नहीं, क्योंकि हम सबने एक ही माता का स्तनपान किया है। यही एकत्व का तत्त्वज्ञान राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने राष्ट्र के सम्मुख प्रस्तुत किया है। समस्त हिंदू समाज का एकीकरण हो, उसमें समता हो एवं राष्ट्र में एकसंघ सामर्थ्य निर्माण हो, यही एक इच्छा है।'

श्रीयुत अप्पाजी जोशी का जीवनालेख यदि हम देखें तो

इस संदर्भ में उनका जीवनकार्य मननीय है। उन्होंने भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से, संस्थाओं से संबंध रखकर सबको एकसूत्र में पिरोने का कार्य अविश्रांत किया। यह राष्ट्र एवं अपनी दृष्टि से सौभाग्य का विषय है। उनका यह राष्ट्रप्रेम नित्य बढ़ता रहे, यही प्रार्थना हम ईश्वर से करें।

श्री अप्पाजी लौकिक शिक्षित न होने अथवा किसी आधुनिक दृष्टि से स्नातक न होने पर भी अपने कार्य में रुके नहीं। कभी-कभी मनुष्य को बाह्य आवरणों का मोह अकारण हो जाता है। यह मोह व्यर्थ है। अपने कार्य में उनका न होना बाधक नहीं है। मंत्री पद की अभिलाषा भी इसी प्रकार का मोह है। राज्यशकट चलाते समय वह इस प्रकार हावी हो जाता है, तब उसके द्वारा लोककल्याण का सही कार्य नहीं होता, चारों ओर से सरकारी दिखावे में लिप्त मनुष्य क्या व कौन सी सेवा कर सकता है?

अहंकार एवं सत्ता मनुष्य की प्रगति के प्रखर शत्रु हैं। स्वतंत्रता प्राप्त करने हेतु कांग्रेस ने गाँव-गाँव जाकर प्रचार माध्यम से जनजागृति की, यह असंदिग्ध सत्य है। किसी समय कांग्रेस में महान तेजस्वी नेता हुआ करते थे, किंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् कांग्रेस के हाथों में जो सत्ता आई, वह निरंकुश थी। नेताओं में सत्ता की अभिलाषा बढ़ी तथा अभिमान बढ़ा, इसी कारण उसका विनाश प्रारंभ हो चुका है। अब कहीं-कहीं तो जनसंघ के प्रत्याशी भी मंत्री बन गए हैं। यह उनकी परीक्षा की घड़ी है। यदि समय रहते उन्होंने विवेक रखा तो वे इस भ्रम से दूर रह सकेंगे। जनता की सेवा ही सच्ची सेवा है, ईशसेवा है। प्रत्येक स्वयंसेवक को जनतारूपी जनार्दन की मूर्ति अपने हृदय में अंकित कर अपने कार्य में संलग्न हो जाना चाहिए।

श्री अप्पाजी डाक्टर हेडगेवार जी के बहिश्चर प्राण थे। महत्त्व के प्रश्नों पर डाक्टर जी उन्हीं से परामर्श करते थे। जब सरसंघचालक मनोनीत करने का प्रसंग आया, तब भी श्री अप्पाजी ने ही उन्हें सलाह दी थी। वास्तव में यदि श्री अप्पाजी को जरा भी अहंकार होता, या सत्ता की लालसा होती, तो वे स्वयं ही सरसंघचालक हो सकते थे, किसी भी पद पर रहने पर वे कार्यरत ही रहते। यही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की धरोहर है, जिसका सारा श्रेय अप्पाजी को ही जाता है। अजेय राष्ट्र निर्माण हेतु ऐसी वृत्ति की आवश्यकता है। ऐसे सौ कर्मशील वर्ष श्री अप्पाजी को प्राप्त हों।

ॐ ॐ ॐ

३९. राष्ट्रसंत तुकड़ोजी महाराज

(आधुनिक काल में महाराष्ट्र में संत तुकड़ोजी महाराज का आविर्भाव हुआ। वे अपने मोझरी (महाराष्ट्र) स्थित आश्रम में ११ अक्टूबर १९६८ को परलोक सिधारे। तत्पश्चात् उन्हे श्रद्धांजलि समर्पित करने की दृष्टि से लिखा हुआ लेख)

एक वर्ष बीत चुका है। १२ अगस्त १९६८ को मैं मुंबई पहुँचा था। वहाँ जाने पर मालूम हुआ कि वंदनीय राष्ट्रसंत श्री तुकडोजी महाराज को मुंबई लाया गया है तथा उसी दिन उनपर शल्यक्रिया होनेवाली है। पूछने पर ज्ञात हुआ कि शल्यक्रिया हो चुकी है। दोपहर में उनका दर्शन हो सकेगा। रुग्णालय में उनके कमरे में गया, तब देखा कि शल्यक्रिया के परिणामस्वरूप उनके मुख पर ग्लानि स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही थी। मैंने सोचा कि उन्हें कष्ट नहीं देना चाहिए, अतः केवल नमस्कार कर लौट जाना उचित होगा। परंतु मुझे देखते ही पुरानी स्मृतियाँ जागृत हुईं और उन्होंने बातचीत प्रारंभ कर दी।

संघकार्य के साथ

३०-३५ वर्ष पूर्व प्रथम बार रामटेक में उनका दर्शन हुआ था। उनके भजनादि कार्यक्रमों में उपस्थित रहकर सत्संग का लाभ उठाया था। उसी समय उनसे प्रार्थना की थी कि संघकार्य को उनका आशीर्वाद प्राप्त हो। उन्होंने तत्काल उसे स्वीकार कर लिया। उसके बाद उन्होंने अनेक बार नागपुर की संघ शाखा के कार्यक्रम में, शिविर में, ग्रीष्मकालीन संघ शिक्षा वर्ग में सहर्ष आकर भजनों, उपदेशात्मक भाषणों द्वारा स्वयंसेवकों को संगठन का महत्त्व बतलाकर कार्यप्रवण होने की प्रेरणा दी। संघ के काम के लिए ही नहीं तो प्रत्यक्ष व्यक्तिगत आत्मीयता के संबंध में वृद्धि होती गई। उनसे प्रेरणा ग्रहण कर गाँव-गाँव में 'श्री गुरुदेव सेवा मंडल' स्थापित हुए तथा प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष संघ की वृद्धि में उनकी सहायता हुई। बहुत ही आशादायी वायुमंडल निर्माण हुआ।

धर्माधिष्ठित जन-जागृति

श्रेष्ठ संत किसी पंथ या संप्रदाय के नहीं होते। 'स्वदेशो भुवनत्रयम्' की अनुभूति होने से अपने देश के विभिन्न राजनैतिक पक्षों तथा उनके

श्रेष्ठ नेताओं से भी उनके आत्मीयतापूर्ण संबंध थे। विशेषतः राष्ट्रसंत तुकड़ोजी महाराज केवल एक कोने में बैठकर 'हरि हरि' कहनेवाले नहीं थे, आध्यात्मिक मोक्ष का लौकिक रूप राष्ट्र की स्वतंत्रता है, ऐसी उनकी धारणा थी। उन्होंने सन् १९४२ के आंदोलन के समय अंतःस्फूर्ति से स्वतंत्रता की भावना से ओतप्रोत कविताओं की रचना कर जनमानस में शुद्ध राष्ट्रप्रेम की ज्योति प्रज्ज्वलित की तथा स्वतंत्रता संग्राम में प्राणपण से कूद पड़ने के लिए ग्राम-ग्राम के शिक्षित, अशिक्षित सभी बंधुओं को प्रेरित किया। फलस्वरूप कांग्रेस के नेताओं में उनके प्रति भक्ति-भाव निर्माण हुआ। दासता में पड़े हुए स्वदेश के बंधुओं में स्वाभिमानयुक्त मनुष्यत्व की जागृति से विश्व के मानव के प्रति परस्पर प्रेम का आविष्कार हुआ। आंदोलनों में यद्यपि उन्होंने राजनैतिक नेताओं के समान कार्य नहीं किया था, तथापि उनकी धर्माधिष्ठित जन-जागृति के फलस्वरूप आन्दोलन में असंख्य लोग उत्साह से कूद पड़े थे। इस कारण कृतज्ञता से अनेक नेता उनके भक्त बने, इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

धर्मश्रद्धा की जागृति से विशुद्ध निःस्वार्थ राष्ट्रभक्ति सहज ही उत्पन्न होती है तथा राष्ट्र सेवाव्रती सत्प्रवृत्त व्यक्ति निर्माण होते हैं। इसका साक्षात् अनुभव सिद्ध प्रमाण उनके उस समय के ओजस्वी कार्य से प्राप्त होता है। इन दिनों इसका विस्मरण सा हो गया है। धर्महीनता बढ़ने के कारण चरित्र-भ्रष्टता, स्वार्थ, कालाबाजार, अपने गुट की सत्ता प्राप्ति के लिए या सत्तास्पर्धा में टिके रहने के लिए विदेशी शत्रुओं से अंतस्थ हाथ मिलाने का राष्ट्रद्रोह आदि दुर्गुण शीघ्रता से बढ़ने लगे हैं। साधारण विचार करनेवाला कोई भी इसका स्पष्ट रूप से अनुभव कर सकता है। परिस्थिति से अगतिक बने अनेक लोग भले ही खुलकर न कहते हों, परंतु अंतःकरण में इस अवस्था का बोध अवश्य करते हैं।

यह धर्मविस्मृति अंग्रेजी शासन से भी बढ़कर स्वकीयों का शासन प्रस्थापित होने के पश्चात् अति शीघ्रता से राष्ट्र को ग्रस रही है। वंदनीय महाराज की सूक्ष्म दृष्टि से यह बात ओझल होना असंभव था। इसलिए उन्होंने धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा करने का अपना व्रत अधिक आग्रह के साथ पूर्ण करने का संकल्प किया। पंथविशेष का संकुचित दृष्टिकोण त्यागकर सर्वव्यापी धर्म का पुनरुत्थान उन्हें अभीष्ट था। इसलिए असहिष्णु पंथ की ओर दुर्लक्ष्य कर, सब पंथों को व्याप्त कर सकनेवाला, आधारभूत विशुद्ध अद्वैत और ज्ञानयुक्त परमभक्ति की शिक्षा देने वाले सच्चे हिंदू धर्म की

जागृति करने के लिए उन्होंने अपना संपूर्ण शारीरिक सामर्थ्य तथा आध्यात्मिक तेजस्विता समर्पित की। जिन-जिन स्थानों पर इस धर्म का बीज उन्होंने देखा, वहाँ-वहाँ वे पहुँचे। लोगों को जागृत करने के लिए, उन्हें उत्तम ऐहिक जीवन तथा भगवद्भक्ति में सामंजस्य स्थापित कर आदर्श जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देने के लिए अत्यंत परिश्रम किया। आवश्यकता पड़ने पर विदेश भ्रमण भी किया। जनमानस पर जिसकी पकड़ है, उस वारकरी संप्रदाय को संगठित करने के कार्य में उन्होंने पहल की।

विश्व हिंदू परिषद् की स्थापना

इसी समय विश्व के सभी हिंदुओं में धर्मप्रवणता तथा भारतभक्ति की जागृति का लक्ष्य सामने रखकर विश्व हिंदू परिषद् स्थापन करने का संकल्प अनेक मनीषियों के मन में उदित हुआ। पंथोपपंथ के प्रमुखों को आमंत्रित कर परिषद् की रूपरेखा तथा कार्य की दिशा का निश्चय हुआ। इसमें श्रीमत् स्वामी चिन्मयानंद जी ने अत्यंत उत्साह तथा आत्मीयता से पहल की। मुंबई के पवई उपनगर में स्थित 'सांदीपनी' आश्रम में विचार-विनिमयार्थ प्रथम बैठक हुई। वंदनीय राष्ट्रसंत के साथ प्रारंभ से ही चर्चा की, उनसे परामर्श लेने का उपक्रम परिषद् की स्थापना के लिए प्रयत्नशील महानुभावों ने किया था। यह अनुभव कर कि वे स्वयं जो कार्य कर रहे थे, वह संपादन करने का एक अन्य मार्ग परिषद् के रूप में उद्घाटित हो रहा है, उन्होंने प्रारंभ से ही इसकी ओर अपना पूर्ण ध्यान दिया। प्रथम बैठक में उपस्थित होकर उन्होंने इतना सुस्पष्ट तथा प्रभावी मार्गदर्शन किया कि परिषद् का कार्य करने वालों को कोई भी संदेह या बाधा का अनुभव नहीं हुआ।

इसके पश्चात् भी परिषद् के ध्येय तथा व्यवस्था के विषय में विचार निश्चित करने के लिए जहाँ जहाँ बैठके हुईं, वहाँ-वहाँ वे यात्रा के अपार कष्ट सहन करते हुए भी आग्रहपूर्वक उपस्थित रहे। मैं भी इन बैठकों में उपस्थित रहा करता था। इसलिए मेरे ध्यान में यह बात आ गई थी कि वंदनीय महाराज का स्वास्थ्य ठीक नहीं है। परंतु वे इतने उत्साह तथा सातत्य से दुर्दम्य परिश्रम करते दिखाई देते थे कि मुझे अपने मन में उठे विचार के प्रति ही शंका होती थी। कहा भी गया है कि आत्मीयतावश मन जो सोचने लगता है, वह शत्रु भी नहीं सोच पाता है (मन चिंती ते वैरी न चिंती)।

विश्व हिंदू परिषद् की वह प्रथम बैठक सब दृष्टि से संस्मरणीय

हुई। उस दिन श्रीकृष्ण जन्माष्टमी का पुण्यपावन पर्व था। सभी आमंत्रितों के अनुरोध पर वंदनीय महाराज ने अपने गंभीर तथा हृदयस्पर्शी भजनों द्वारा सबको कृतार्थ किया। ऐसा अनुभव हुआ कि एक अनोखे पवित्र चैतन्य का स्फुरण वातावरण के कण-कण में स्पंदित हो रहा है और उस धुन में मस्त होकर अपना हृदय अद्‌भुत आनंद में निमज्जित हो रहा है।

प्रयाग सम्मेलन का संचालन

इसी बैठक में प्रयाग में कुंभ मेले के समय विश्व हिंदू परिषद के वृहद् सम्मेलन के आयोजन का निर्णय हुआ था। विश्व के विभिन्न देशों में बसे हुए हिंदू बन्धुओं को आमंत्रित किया गया था। सभी पंथों के सर्वोच्च धर्मगुरु सम्मेलन में उपस्थित होकर सभी हिंदुओं के एकत्व की दिशा में कार्य करें, यह प्रयत्न हुआ। सम्मेलन के उद्‌घाटन के समय सभा-मंच पर एक पंक्ति में सब धर्मगुरुओं को आसनस्थ देखकर सबको साक्षात्कार हुआ कि हिंदू धर्म का भविष्य उज्ज्वल है।

किसी भी पंथ के प्रमुख न होने के कारण सर्वपंथ-समन्वय का आदर्श सामने रखकर कार्य करनेवाले वंदनीय राष्ट्रसंत उस पंक्ति में नहीं बैठे। संपूर्ण कार्य-संचालन व्यवस्थित हो, इस दृष्टि से उन पर संयोजक का दायित्व था। विभिन्न मत, विभिन्न आग्रह को कुशलता से एकता के सूत्र में गूँथकर सम्मेलन का संचालन उन्हें करना था। जो-जो महानुभाव इस सम्मेलन में उपस्थित हुए थे, उन सबको वह दृश्य देखकर यह स्पष्ट हुआ होगा कि श्री महाराज को वह काम करते समय अत्यंत परिश्रम उठाने पड़े। धीर, गंभीर, शांतोदात्त, संतुलित अंतःकरण के कारण ही वे यह सब कर सके।

सम्मेलन के बाद विश्व हिंदू परिषद् के कार्य का प्रारंभ हुआ। उसके निमित्त अनेक बार चुने हुए व्यक्तियों की बैठकों का आयोजन करना पड़ा। अनेक कठिनाइयों के रहते हुए भी उन्हे लाँघ कर वे उनमें उपस्थित रहते थे। उनके विचारों का लाभ मिलने से योग्य निर्णय लेने में सहायता होती थी।

इस काम में उनसे मिलने तथा उनका मार्गदर्शन प्राप्त करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। इसमें उनके स्नेहपूर्ण अंतःकरण का साक्षात्कार हुआ। यह पहले ही कहा जा चुका है कि उनके प्रभाव तथा उत्कट राष्ट्र प्रेरणादायक व्यक्तित्व से उस समय के मध्यप्रदेश तथा विशेष रूप से महाराष्ट्र का नेतृवर्ग उनकी ओर आकर्षित हुआ था। इस संपर्क का एक

विचित्र परिणाम निकला। महात्मा गाँधी की हत्या के पश्चात् संघ के विरुद्ध जिस अपप्रचार की धूल राजनैतिक नेताओं द्वारा उड़ाई गई थी, उससे राष्ट्रसंत को प्रभावित कर उन्हें संघ से विमुख करने का प्रयास परोक्ष-अपरोक्ष किया गया। इन सब देशभक्तों ने स्वतंत्रता संग्राम के प्रयास में त्याग एवं परिश्रम किया था। इस कारण उनके विषय में महाराज के मन में आत्मीयता थी। उनकी सच्चाई पर उन्हें विश्वास था। फलस्वरूप कुछ समय तक यह आभास निर्माण किया जा सका कि वंदनीय महाराज संघ से बिल्कुल विमुख हो गए हैं।

निष्कपट स्वभाव

ऋजुता अर्थात् निष्कपट सरल स्वभाव साधुओं एवं भगवद्भक्तों का श्रेष्ठ गुण होता है। वह महाराज में प्रकर्षता से विद्यमान था। उसका लाभ उठाकर कतिपय अदूरदर्शी लोगों की बोलचाल में से यह मिथ्या भ्रम फैलाने का प्रयास हुआ। इस परिस्थिति में भी मेरे हृदय में उनके संबंध में विद्यमान श्रद्धा को यत्किंचित् भी ठेस नहीं पहुँची तथा अनेक अवसरों पर उनके दर्शन-वंदन करने का मेरा क्रम बराबर जारी रहा। बाद में जब विश्व हिंदू परिषद् के कार्य के निमित्त बार-बार उनका निकट सहवास प्राप्त हुआ, तब स्पष्ट रूप से अनुभव हुआ कि सरल स्वभाव के तथा भोले होने पर भी सत्यासत्य का विवेक करने का सहज गुण श्रेष्ठ संतों में अति प्रभावी होता है। उनके हृदय में वह अविकारी अमृत भरा रहता है कि वे किसी के भी अपप्रचार से दूषित नहीं हो पाते हैं। वह अपप्रचार करनेवाला भले ही कितना ही आत्मीय क्यों न हो।

१२ अगस्त १९६८ को रुग्णालय में हुई भेंट के समय सारी पुरानी स्मृतियाँ जागृत होकर अंतःकरण गद्गद् हो उठा। उन्हें भी यह पार्थिव देह त्यागने का बोध हो चुका था। मुझे भी यह स्पष्ट दिख रहा था कि उन्हें उस रूप में भूतल पर देखकर, उनसे प्रत्यक्ष प्रेरणा प्राप्त करने का भाग्य समाप्त होने जा रहा है। उनकी आँखों में आँसू भर आए, मुझे भी अपनी भावनाओं पर काबू पाना कठिन हो गया। उन्होंने मुझे जो कुछ कहा, वह सारा मैंने अपने हृदय में संचित कर रखा है। उसे खुले रूप से सामने रखने की मेरी इच्छा नहीं है। किसी बड़े कृपण मनुष्य के समान मैं उन्हें हृदय में सुरक्षित रखने वाला हूँ। परंतु उस समय शारीरिक आरोग्य की दृष्टि से भावनातिरेक होना ठीक नहीं है, यह समझकर उन्हें आश्वस्त करने का भरसक प्रयत्न किया तथा पुनः मिलने का आश्वासन देकर उनसे बिदा हुआ।

उस शरीर का अंत स्पष्ट दिख रहा था। इसलिए जब श्री गुरुकुंज मोझरी में उन्हें ले जाए गया, तब कुछ दिनों के बाद वहाँ जाकर मैंने उनके दर्शन किए। असह्य शारीरिक वेदना हो रही थी, परंतु बातचीत सदा के समान स्नेहपूर्ण और गंभीर थी।

विश्व यात्रा में बाधा

विश्व हिंदू परिषद् में किए हुए निश्चय के अनुसार मैंने उनसे अनुरोध किया था कि हिंदू एकता का संदेश देश-विदेश में पहुँचाने के लिए श्रीमत् महाराज स्वयं विश्व का दौरा करें। लेकिन हिंदू धर्मप्रचार के दौरे के लिए शासन से अनुमति प्राप्त होना कठिन है, जबकि अन्य सब धर्मों का प्रचार मान्य है। उस प्रचार को परोक्ष-अपरोक्ष रीति से शासन सहायता भी करता है। प्रचार के उन कार्यक्रमों में शासन के बड़े-बड़े नेता उपस्थित होकर अन्य आक्रामक धर्मों की प्रशंसा भी कर सकते हैं, परंतु जो सच्चा सर्वव्यापी मानवधर्म - हिंदू धर्म है, उसका नामोच्चारण करना भी उनके लिए असंभव होता है। हिंदू धर्म के प्रचार के लिए विदेश भ्रमण का पारपत्र देना भी उसे सहायता देने का आभास निर्माण कर सकता था। उसे भला वे कैसे कर सकते थे?

व्यथित अंतःकरण से स्वानुभाव पर आधारित अपनी भावना संत महाराज ने व्यक्त की। फिर भी परिषद् के कार्यकर्ताओं का तथा मेरा अनुरोध उन्होंने स्वीकार कर लिया कि पारपत्र प्राप्त करने की दृष्टि से प्रयत्न करें। परंतु विधि-लिखित कुछ अलग ही था। अखिल विश्व में हिंदू धर्म-दर्शन का उद्घोष होकर मानव-मानव के परस्पर भेदभाव, शत्रुभाव नष्ट करने का महान प्रयत्न उद्गम स्थान में ही दब गया। मानो भगवान् को परस्पर संहार द्वारा उन्मत्त मानव को पाठ पढ़ाने की मनीषा हो। इसलिए विश्व शांति के उस उद्गाता को विश्वव्यापी प्रयत्न में अग्रेसर होते ही भगवान ने उठा लिया। हमारी इच्छाएँ अपूर्ण रह गईं।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।
(मनु स्मृति २-२०)

भगवान् मनु का वचन साकार करना शेष रह गया है। उसके लिए ऐसी विभूतियों को बार-बार इस भूमि पर जन्म ग्रहण कर वह स्वप्न साकार करना है। वंदनीय महाराज का नित्य स्मरण करनेवाले हमें भी उनकी पवित्र

स्मृति के विशेष अवसर पर आर्तता से परममंगल श्रीप्रभुचरणों में उनके पुनराविर्भाव के लिए आग्रहपूर्वक प्रार्थना करनी है। अनेक स्वप्न टूट गए हैं। आकांक्षाएँ भंग हो गई हैं। अब केवल प्रार्थना करना ही शेष बचा है।

ॐ ॐ ॐ

४०. प्रातःस्मरणीय महात्मा गाँधी

(गाँधी जन्म-शताब्दी निमित्त ६ अक्टूबर १९६९ को सांगली में हुए कार्यक्रम के अवसर पर दिए गए मूल मराठी भाषण का अनुवाद)

आज एक महत्त्वपूर्ण व पवित्र अवसर पर हम एकत्र हुए हैं। सौ वर्ष पूर्व इसी दिन सौराष्ट्र में एक बालक का जन्म हुआ था। उस दिन अनेक बालकों का जन्म हुआ होगा, पर हम उनकी जन्म-शताब्दी नहीं मनाते। महात्मा गाँधी जी का जन्म सामान्य व्यक्ति के समान हुआ, पर वे अपने कर्तव्य और अंतःकरण के प्रेम से परमश्रेष्ठ पुरुष की कोटि तक पहुँचे। उनका जीवन अपने सम्मुख रखकर, अपने जीवन को हम उसी प्रकार ढालें। उनके जीवन का जितना अधिकाधिक अनुकरण हम कर सकते हैं, उतना करें।

अपने यहाँ 'प्रातःस्मरण' कहने की प्रथा पुरानी है। अपनी पवित्र बातों व राष्ट्र के महान व्यक्तियों का स्मरण 'प्रातःस्मरण' में हम करते हैं। 'प्रातःस्मरण' में नए व्यक्तियों का समावेश करने का कार्य कई शताब्दियों से बंद पड़ गया था। संघ ने इसे पुनः प्रारंभ किया है और आज तक के महान व्यक्तियों का समावेश कर 'भारत भक्ति स्तोत्र' तैयार किया है। हमारे इस 'प्रातःस्मरण' में वंदनीय पुरुष के नाते महात्मा गाँधी का उल्लेख स्पष्ट रूप में है।

पारतंत्र्य-काल में अंग्रेजों के विरुद्ध अपना संघर्ष चल रहा था। क्रांतिकारियों ने सशस्त्र प्रयत्न किया। नरम दल वाले भी यह सोचते हुए कि अंग्रेज न्यायी हैं, अतः हम जो माँगेंगे वह देंगे ही, प्रयास करते रहे। कांग्रेस भी अपने ढँग से प्रयत्न करती रही। पर मुट्ठी भर लोगों के प्रयासों से अंग्रेजी राज हटना संभव नहीं था। उसके लिए यह आवश्यक था कि गाँव-गाँव में जनजागृति कर, 'अंग्रेजों का राज अब सहन नहीं करेंगे'– इस

विचार से प्रभावित, एकसूत्र में बँधा, संगठित समाज निर्माण करना आवश्यक था। लोकमान्य तिलक ने यह कार्य किया। नरमदल वालों ने उन्हें 'तेली-तमोलियों के नेता' की उपाधि देकर उपहास करने का प्रयास किया। वास्तव में देखा जाए तो इसमें लोकमान्य तिलक का गौरव ही था।

लोकमान्य तिलक के पश्चात् महात्मा गाँधी ने अपने हाथों में स्वतंत्रता आंदोलन के सूत्र संभाले और इस दिशा में बहुत प्रयास किए। शिक्षित-अशिक्षित स्त्री-पुरुषों में यह प्रेरणा निर्माण की कि अंग्रेजों का राज्य हटाना चाहिए, देश को स्वतंत्र करना चाहिए और स्व के तंत्र से चलने के लिए जो कुछ मूल्य देना होगा, वह हम देंगे। 'बाबू गेनू' पढ़ा-लिखा नहीं था, परंतु उसका बलिदान महात्मा गाँधी जी की इस प्रेरणा का ज्वलंत उदाहरण है। महात्मा गाँधी ने मिट्टी से सोना बनाया। साधारण लोगों में असाधारणत्व निर्माण किया। इस सारे वातावरण से ही अंग्रेजों को हटना पड़ा।

सत्याग्रह का प्रथम प्रयोग

भारत में रहकर स्वतंत्रता-आंदोलन का सूत्र अपने हाथ में लेने के पूर्व वे दक्षिण अफ्रीका में वकालत करते थे। उन दिनों वहाँ भी अंग्रेजों का साम्राज्य था। वहाँ के नीग्रो अंग्रेजों के दमन के शिकार थे। अंग्रेज तो नीग्रो को मानव मानने तक के लिए राजी नहीं था। यूरोपीय लोगों की बस्तियों में नीग्रो को मकान बनाने की अनुमति नहीं दी जाती थी। अपने पर काले आदमी की छाया का स्पर्श तक न हो, ऐसा उनका व्यवहार था। महात्मा जी ने इस अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाने का संकल्प किया और सत्याग्रह-तंत्र का प्रथम प्रयोग अफ्रीका में किया। महात्मा जी के इन प्रयासों से नीग्रो लोगों में स्वतंत्रता की लालसा जाग उठी।

विशेष बात यह कि अफ्रीका में निवास कर रहे भारतीयों ने ही प्रारंभ में महात्मा गाँधी के इस कार्य का विरोध किया, परंतु बाद में उन्होंने सहयोग दिया। लेकिन जब गाँधी जी भारत लौट आए तब पुनः भारतीयों ने नीग्रो को सहयोग देना बंद कर दिया।

अफ्रीका के कुछ भारतीय मुझसे मिले थे। मैंने उन लोगों से कहा– 'आप लोग वहाँ व्यापार करते हो, नीग्रो के धन पर धनी होते हो। इसलिए नीग्रो की सहायता करना क्या आपका कर्तव्य नहीं है? देश को स्वतंत्र और समृद्ध करने के उनके प्रयत्नों में सहायता करना क्या आप लोगों का काम

नहीं है? भारत में अंग्रेज न रहें इसलिए अंग्रेजों के विरुद्ध हम लोग लड़ रहे हैं और आप लोग हैं कि अफ्रीका में अंग्रेजों की ज्यादतियों के विरुद्ध आवाज तक नहीं उठाते? यह बड़ी विचित्र बात है।' मेरा कहना उन्हें मान्य नहीं हुआ।

उन लोगों ने नीग्रो से सहयोग न कर अंग्रेजों के साथ अधिक संपर्क बढ़ाया। अब हालत यह है कि अफ्रीका से भारतीयों को बाहर निकाला जा रहा है। महात्मा गाँधी जी की सीख हम लोग भूल गए, इसलिए यह हो रहा है। मुझे लगता है कि अब भी देर नहीं हुई है। वहाँ रहनेवाले अपने भारतीय नीग्रो के कंधे से कंधा लगाकर खड़े रहते हैं तो वे लोग अफ्रीका में सुख से रह सकेंगे।

मैं कट्टर हिंदू हूँ

महात्मा गाँधी द्वारा अफ्रीका में जो सीख दी गई उसे जैसे हम लोग भूले, वैसे ही अपने देश में दी गई उनकी सीख को भी हम लोग भूल गए हैं। उन्होंने कहा था– 'देश की यच्चयावत् जनता भारतमाता की संतान है और उसकी स्वतंत्रता के लिए हमें लड़ना चाहिए। उनके मन में यह भावना हिंदू-धर्म से निर्माण हुई। अपने समाज में अनेक भेद होने पर भी यह हमारी सीख है 'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति'। गाँधी जी के जीवन में यह पूर्णतः घुल चुकी थी। वे कहा करते थे-- 'मैं कट्टर हिंदू हूँ, इसलिए केवल मानवों पर ही नहीं, संपूर्ण जीवमात्र पर प्रेम करता हूँ।' उनके जीवन व राजनीति में 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' इस तत्त्व के अनुसार सत्य व अहिंसा को जो प्रधानता मिली वह कट्टर हिंदुत्व के कारण ही मिली।

गाँधी जी को श्रीरामकृष्ण परमहंस के बारे में अत्यधिक आदर था। उनके जीवन-चरित्र की प्रस्तावना लिखते हुए उन्होंने लिखा है– 'यह चरित्र सत्य का साकार प्रतीक है।' श्रीरामकृष्ण परमहंस जी ने कट्टर हिंदू रहकर सारी जीव-सृष्टि पर प्रेम किया था। मुझे लगता है कि जिस व्यक्ति में हिंदुत्व के बारे में शुद्ध भाव है, जिसे उसमें जरा भी अशुद्धता नहीं चल सकती, वही इस प्रकार का प्रेम कर सकता है, अन्य किसी के लिए यह संभव नहीं।

मुसलमानों का सुझाव

मुझे एक सूफी-पंथी मुसलमान का पत्र प्राप्त हुआ। उसने लिखा था कि दुनिया में इस समय ईश्वर को न मानने वालों का प्रभाव बढ़ रहा

है, इसलिए हम ईश्वर मानने वालों को संगठित होना चाहिए। इस सूफी व्यक्ति ने जैसा सुझाया, वैसा दुनिया के सब धर्मवादियों का संगठन कैसे किया जाए? अपने हिंदू धर्म का ही उदाहरण लें– उसमें कोई राम कहता है, तो कोई कृष्ण। उसमें अनेक पंथ-भेद हैं। भारत का जैन धर्म ही लें। उसे ईश्वर की कल्पना ही मान्य नहीं है। बौद्ध केवल बुद्ध को ही मानते हैं। इसके अलावा ईसाई, मुसलमान, बहाई आदि जैसे अनेक पंथ हैं। ऐसी स्थिति में ईश्वरवादियों को एकत्र कैसे किया जाए?

मैंने उस सूफी व्यक्ति से भेंट की और उससे पूछा– 'यह कैसे संभव हो?'

उसने कहा– 'उसके पास इसका उपाय है। वह यह कि सभी को मुसलमान बन जाना चाहिए। फिर सब कुछ अपने आप ठीक हो जाएगा।'

प्रश्न यह है कि इसे अन्य पंथ के लोग कैसे मानेंगे? ऐसा ही आग्रह वह अपने पंथ के लिए क्यों नहीं रखेंगे?

मानवता का जागतिक तत्त्वज्ञान

इस सूफी व्यक्ति को यह पता नहीं है कि इस दुनिया में एक सर्वसमावेशक तत्त्वज्ञान है, उसे हिंदू कहो या न कहो– वह जागतिक तत्त्वज्ञान है, मानवतावाद का तत्त्वज्ञान है। कोई राम कहेगा, कोई कृष्ण, कोई अल्लाह। भगवान अंततः एक ही है, यह कहनेवाला केवल हिंदू-धर्म ही है। अनेक पंथ-भेद के लोग होने पर भी या भविष्य में और पंथ निर्माण होने पर भी, ये सभी मार्ग एक ही परमेश्वर की ओर ले जानेवाले हैं, यह उदारता की भावना हिंदुत्व के बिना संभव नहीं।

महात्मा जी ने अपने समाज में दिखाई देने वाले दोषों को दूर करने के लिए भरसक प्रयास किया। उसके लिए उन्होंने लोगों का विरोध भी सहन किया। वे दोष दूर हों, समाज एकरस हो, इसके लिए हमें प्रयत्न करना चाहिए। श्रीरामकृष्ण परमहंस के विषय में एक शिष्य ने कहा है– 'आचांडालात् अप्रतिहतः यस्य प्रेमप्रवाहः।'

वे एक बार वे किसी कुएँ पर पानी पीने के लिए गए। वहाँ जो आदमी पानी निकाल रहा था, उसने कहा– 'महाराज, आप ब्राह्मण दिखाई दे रहे हैं। मैं हरिजन हूँ, आपको पानी कैसे पिलाऊँ?'

श्रीरामकृष्ण देव ने कहा– 'इससे क्या हुआ? राम-नाम से तो पत्थर भी तर गए। तू तो मनुष्य है। राम का नाम ले और पानी पिला।'

उसने राम का नाम लिया और परमहंस जी को पानी पिलाया।

श्रीरामकृष्ण के ये जो विचार हैं, उनका प्रत्यक्ष आचरण ही गाँधी जी का जीवन था। पर गाँधी जी के जीवन से क्या हमने कुछ ग्रहण किया है? दुर्भाग्य से आज ऐसा दिखाई देता है कि आपसी लड़ाई-झगड़े रोज की बात हो गई है। इसका देश पर क्या परिणाम होगा, इसका विचार न करते हुए स्वार्थवश ये झगड़े चलते हैं। उन्हें बंद करने के लिए, उनकी जड़ तक पहुँचने का प्रयास होता हुआ दिखाई भी नहीं देता। यदि हम चाहते हैं कि झगड़े वास्तव में बंद हों, तो उनकी जड़ तक पहुँचना होगा। उसके लिए सभी के अंतःकरण में एकात्मता की अनुभूति जागृत करनी होगी। अखिल जीव-सृष्टि पर प्रेम करनेवाले हिंदू-धर्म की प्रेरणा से ही यह अनुभूति निर्माण होगी।

गाँधी जी की भविष्यवाणी

जिस हिंदू-धर्म के बारे में हम इतना बोलते हैं, उस धर्म के भवितव्य पर उन्होंने 'फ्यूचर ऑफ हिंदुइज्म' शीर्षक के अंतर्गत अपने विचार व्यक्त किए हैं। उन्होंने लिखा है– 'हिंदू-धर्म याने न रुकने वाला, आग्रह के साथ बढ़नेवाला, सत्य की खोज का मार्ग है। आज यह धर्म थका हुआ-सा, आगे जाने की प्रेरणा देने में सहायक प्रतीत होता अनुभव में नहीं आता। इसका कारण है कि हम थक गए हैं, पर धर्म नहीं थका। जिस क्षण हमारी यह थकावट दूर होगी, उस क्षण हिंदू-धर्म का भारी विस्फोट होगा जो भूतकाल में कभी नहीं हुआ, इतने बड़े परिमाण में हिंदू-धर्म अपने प्रभाव और प्रकाश से दुनिया में चमक उठेगा।' महात्मा जी की यह भविष्यवाणी पूरी करने की जिम्मेदारी हमारी है।

गाँधी जी से सीखें

महात्मा जी का स्मरण करते समय उनकी सीख के अनुसार शील व चारित्र्य तथा स्वत्व का पोषण करना चाहिए। आज हम उनकी ओर दुर्लक्ष कर रहे हैं। महात्मा जी के जीवन से सीखने योग्य अनेक बातें हैं, वे हम सीखे ही नहीं। उनके जीवन से सत्य का आग्रह लेना चाहिए। गलत मार्ग से धन कमाने की वृत्ति छोड़नी चाहिए। गलत मार्ग से धन प्राप्त करते समय समाज के अपने ही लोगों का शोषण कर रहे हैं, इसका विचार तक हमें नहीं छूता। उनके जीवन से सभी के बारे में आत्मीयता का गुण ग्रहण करना चाहिए। सिद्धांत की अनेक बातें हम बोलते हैं, परंतु सड़क के

किनारे कोई भूखा व्यक्ति दिखाई देने पर उसे रोटी खिलाने की भावना मन में क्यों नहीं आती? हमें प्रत्येक व्यक्ति को दुःख मुक्त करने का प्रयास चाहिए।

स्वामी विवेकानंद जी ने कहा है– 'जिस प्रकार मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, अतिथिदेवो भव, कहा जाता है, उसी भाँति दरिद्र लोगों का दारिद्रय हटाने के लिए 'दरिद्रदेवो भव' और अज्ञानी लोगों का अज्ञान दूर करने के लिए 'अज्ञानीदेवो भव' कहना चाहिए। ज्ञान के भंडार सब के लिए खुले किए जाएँ। स्वामी जी का यह आदेश और महात्मा जी का प्रत्यक्ष आचरण– दोनों एक ही है।

देश में असंख्य लोग भूखे रहते हैं। अपने बारे में विचार कम कर, समाज की भावना से एकरूप होकर उनके लिए हमें आगे आना होगा। यह भावना यदि हममें न रही, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि गाँधी जी को हम आदर्श मानते हैं? गाँधी जी की प्रतिमा को हार पहनाने मात्र से यह हो सकेगा क्या? क्या उनके समान हमारा व्यवहार नहीं रहना चाहिए? यदि हम उनके जैसा आचरण करेंगे, तभी यह कहा जा सकेगा कि हमने उनके प्रति वास्तव में आदर व्यक्त किया है।

महात्मा गाँधी ने अपने देश के स्वातंत्र्य के लिए प्रयत्न करते हुए भी दुनिया पर प्रेम किया। वे कहा करते थे– 'दूसरों के देश पर राज्य करना अन्याय है, पाप है।' अंग्रेजों का राज गया, परंतु हम आज भी अपने देश की प्रकृति के अनुसार, प्रेरणा के अनुसार, परंपरा के श्रेष्ठ गुणों के अनुसार राज्य-निर्माण करने का प्रयत्न नहीं कर रहे। अपने यहाँ कुछ रूस-भक्त तो कुछ चीनभक्त हैं। जो भारत-भक्त नहीं हैं, उनका प्रयास चलता है कि अपना देश दूसरों के अधीन चला जाए, विदेशी विचारों का दास बन जाए। उनके विचार क्यों फैलते हैं? इसका अर्थ यही है कि हमें स्वतः का विस्मरण हो चुका है। दूसरों के भरोसे रहना अत्यंत लज्जास्पद बात है।

देश को राजकीय स्वातंत्र्य चाहिए, आर्थिक स्वातंत्र्य चाहिए। उसी भाँति इस तरह का धार्मिक स्वातंत्र्य चाहिए कि कोई किसी का अपमान न कर सके, भिन्न-भिन्न पंथ के, धर्म के लोग साथ-साथ रह सकें। विदेशी विचारों की दासता से अपनी मुक्ति होनी चाहिए। गाँधी जी की यही सीख थी। मैं गाँधी जी से अनेक बार मिल चुका हूँ। उनसे बहुत चर्चा भी की है। उन्होंने जो विचार व्यक्त किए, उन्हीं के अध्ययन से मैं यह कह रहा हूँ। इसीलिए अंतःकरण की अनुभूति से मुझे महात्मा जी के प्रति नितांत आदर है।

गाँधी जी से अंतिम भेंट

महात्मा जी से मेरी अंतिम भेंट सन् १९४७ में हुई थी। उस समय देश को स्वाधीनता मिलने से शासन-सूत्र सँभालने के कारण नेतागण खुशी में थे। उसी समय दिल्ली में दंगा हो गया। यह सच है कि दंगा होने पर सारे समाज का माथा भड़कता है। परंपरा से जो अहिंसावादी रहे हैं, वे भी दंगे के समय क्रूर, दुष्ट, निर्दय हो गए थे।

मैं उस समय उसी क्षेत्र में प्रवास पर था। दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं के कारण अपने मुसलमान बंधु पाकिस्तान की ओर जा रहे थे। अन्न-पानी नहीं था, गटर का पानी पीना पड़ रहा था, लोग हैजे से मर रहे थे। मेरे सामने एक व्यक्ति अकस्मात मर गया। मेरे मुँह से स्वभावतः निकला– 'अरेरे।' मेरा सहप्रवासी बोला– 'अच्छा हुआ एक कम हो गया।'

मैंने उससे कहा– 'एक व्यक्ति मर गया और तू कहता है, अच्छा हुआ? अपने धर्म की सीख, सभ्यता, तत्त्वज्ञान और मानवता का कुछ ज्ञान है कि नहीं?'

मैं उस समय शांति प्रस्थापित करने का काम कर रहा था। गृहमंत्री सरदार पटेल भी प्रयत्न कर रहे थे और उस कार्य में उन्हें सफलता भी मिली। ऐसे वायुमंडल में मेरी महात्मा गाँधी जी से भेंट हुई थी।

महात्मा जी ने मुझसे कहा– 'देखो, यह क्या हो रहा है?'

मैंने कहा– 'यह अपना दुर्भाग्य है। अंग्रेज कहा करते थे कि हमारे जाने पर तुम लोग एक दूसरे का गला काटोगे। आज प्रत्यक्ष में वही हो रहा है। दुनिया में हमारी अप्रतिष्ठा हो रही है। इसे रोकना चाहिए।'

गाँधी जी ने उस दिन अपनी प्रार्थना सभा में मेरे नाम का उल्लेख गौरवपूर्ण शब्दों में कर, मेरे विचार लोगों को बताए और देश की हो रही अप्रतिष्ठा रोकने की प्रार्थना की। उस महात्मा के मुख से मेरा गौरवपूर्ण उल्लेख हुआ, यह मेरा महद्भाग्य था। इन सारे संबंधों से ही मैं कहता हूँ कि हमें उनका अनुकरण करना चाहिए।

संयम का पालन

हम लोग धर्म के बड़े-बड़े सिद्धांत बोलते हैं, परंतु उन पर चलते हैं क्या? हिंदू-धर्म ने कहा है कि आत्मसंयम करो। स्त्री-पुरुष-संबंध के विषय में भी यही कहा गया है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि दो-तीन संतान होने के बाद पति-पत्नी को बहन-भाई का सा आचरण करना

चाहिए। महात्मा जी ने भी संयम का उपदेश दिया था। वे कहा करते थे– 'संयम का पालन करो, पौरुष को आत्मसात् करना सीखो। पौरुष का आविष्कार पराक्रम प्रकट करने में हो। आत्मा का पराक्रम दिखाओ।'

महात्मा जी का संयम-पालन करने का उपदेश उचित था। यदि दायित्व टालकर उपभोग करने की विकृति बढ़ी तो इस देश पर संकट आएँगे। उपभोग चाहिए तो संकट भोगने को तैयार रहना चाहिए। संभव है संकट भोगने की आपत्ति आने पर संयम की महत्ता विदित हो।

हिंदू-धर्म का जागरण करना होगा

महात्मा जी द्वारा बताई गई सारी बातें आचरण में लानी हों तो उस प्रकार की शिक्षा देने वाले महान हिंदू-धर्म को पुनः जागृत करना होगा। धर्म के बगैर मानव-समाज़ याने परस्पर का विनाश करनेवाला श्वापदों का समाज होगा। इससे बचने के लिए ही अपने स्वार्थ को नियंत्रित कर, समाज के साथ पूर्णतः एकरूप होकर, झूठा अभिमान त्यागकर, अखिल मानव-समाज पर प्रेम करने के लिए, हिंदू-धर्म के कट्टर अभिमान से इस भारतभूमि का पुनः निर्माण करना होगा। हिंदू-धर्म जागृत कर समाज के प्रत्येक व्यक्ति में उसका श्रेष्ठत्व प्रस्थापित करना चाहिए। दुनिया पर प्रेम करनेवाले सर्वसमन्वयवादी देश और एक आदर्श समाज के रूप में हम खड़े होंगे यह निश्चय हमें आज करना होगा, तभी महात्मा जी के समान प्रातःस्मरणीय व्यक्ति का पुण्यस्मरण अच्छे अर्थ में किया जा सकेगा। भारत-भक्ति स्तोत्र कहते समय प्रातःस्मरणीय, वंदनीय व्यक्ति के रूप में उनके प्रति मैं अपनी भावनाओं को व्यक्त किया करता हूँ। आज आप सबके सामने मैंने अपनी भावनाएँ व्यक्त की हैं।

ॐ ॐ ॐ

४१. महात्मा गाँधी : एक विभूति

(महात्मा गाँधी जन्म-शताब्दी के निमित्त यह लेख नागपुर से प्रकाशित 'युगवाणी' नाम की मराठी मासिक पत्रिका में अक्टूबर १९६९ में प्रकाशित हुआ था)

गत पचास-पचहत्तर वर्षों में अपने देश में जो श्रेष्ठ विभूतियाँ हुई हैं, जिनका व्यावहारिक व राजनैतिक क्षेत्र में जनमानस पर बहुत अधिक

प्रभाव पड़ा है, उनमें महात्मा गाँधी अग्रणी थे, इस सत्य को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। यह कहना वस्तुस्थिति-दर्शक ही होगा, इसमें कोई भी भिन्न मत नहीं होगा। उनका व्यक्तिमत्व बहुविध था। उनके जीवन के धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक आदि विभिन्न पहलू उनके असाधारणत्व को स्पष्ट रूप से प्रकट करते हैं। साधारण जनमानस पर उनके समान अन्य किसी की पकड़ नहीं थी।

स्वभावतः उनके विविध विचारों से अनेक विचारवंत सहमत नहीं थे और आज भी नहीं हैं। जिन्होंने अपनी श्रेष्ठता अपनी बुद्धि और गुणों से प्रस्थापित की थी, ऐसे अनेक नेता उनके संबंध में अपने मन में उत्कट आदर रखते हुए, उनके विचारों से असहमत होकर भी असंदिग्ध भाव से अपने विचार प्रकट करते थे और करते हैं। महामना पं. मदनमोहन मालवीय व पंडित जवाहरलाल नेहरू के नाम इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। इन दोनों श्रेष्ठ पुरुषों से मेरा संपर्क आया था। मुझे स्मरण है कि एक बार बातचीत में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि महात्मा जी के सब विचार उन्हें ग्राह्य नहीं हैं, किंतु साथ ही महात्मा जी के संबंध में अपना उत्कट प्रेम और भक्ति भी प्रकट की थी। इन श्रेष्ठ व्यक्तियों की भक्ति में दिखावट बिल्कुल नहीं थी। किंतु यह भक्ति अंधश्रद्धा के रूप में विकृत भी नहीं थी, इसकी भी मुझे अनुभूति हुई।

सरदार पटेल की मनोव्यथा

महात्मा जी के संबंध में अपने मन में परम भक्ति रखनेवाले और एक महापुरुष थे– सरदार वल्लभभाई पटेल। अपना कर्तृत्त्व, अपना जीवन उन्होंने महात्मा जी को समर्पित किया था। उनसे हुई भेंट में यह समर्पण भाव प्रकर्ष रूप में दिखाई दिया। सरदार का अपना स्वतंत्र व्यक्तिमत्व था। कांग्रेस को महात्मा जी से प्रेरणा और मार्गदर्शन मिल रहा था, फिर भी एक अनुशासनबद्ध, संगठित तथा कार्यक्षम संस्था के नाते कांग्रेस का गठन और उस प्रेरणा को प्रत्यक्ष रूप में लानेवाली यंत्रणा निर्माण करना उनका प्रमुख कार्य था। उनके संगठन-कौशल के बिना महात्मा जी क्या और कितना कर सकते थे। एक तरह कांग्रेस संस्था को मजबूत नींव पर खड़ी करने के सरदार पटेल के कर्तृत्व का आधार ही, महात्मा जी के अनन्यसाधारण महत्त्व का कारण था, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी। फिर भी उन्होंने दूरदृष्टि रखकर अपना अलग व्यक्तित्त्व नहीं रखा। इस पर भी महात्मा जी

के सभी विचारों से वे एकमत हों, ऐसा नहीं था। अंग्रेजों का राज जाने और कांग्रेस के हाथों राजसत्ता आने पर ऐसे मतभेद के प्रश्न उत्पन्न हुए थे।

शासन चलाते समय व्यावहारिक दृष्टि रखकर काम करना पड़ता है। परिस्थिति से मेल न खानेवाले तात्त्विक विचार हस्तक्षेप करने लगें तो सर्वनाश होने की संभावना रहती है। उस समय महात्मा जी अपनी प्रार्थना सभाओं में जो विचार व्यक्त करते और जिन पर चलने के लिए शासन से आग्रह करते थे, वे अव्यावहारिक लगने के कारण नापसंद होते हुए भी महात्मा जी विषयक श्रद्धा और भक्ति के कारण सरदार उन विचारों के सामने नत होते थे। पाकिस्तान को ५५ करोड़ रुपए देने का आग्रह और उसके लिए गांधी जी द्वारा शुरू किया हुआ अनशन उल्लेखनीय है। उस समय सरदार पटेल के साथ हुई भेंट में मैंने उनकी मनोव्यथा का अनुभव किया था।

महात्मा जी पर असीम भक्ति करने वालों के मन में भी मतभेद थे। आखिर वे उनसे ऊबने लगे थे। इस बात को ध्यान में लें, तो कोई आश्चर्य नहीं कि अन्य पक्षों के विचारी पुरुषों और जिनका किसी भी पक्ष से संबंध नहीं था, ऐसे बुद्धिमान पुरुषों के मन के मतभेद तीव्रतापूर्वक प्रकट हुए हों। अपने देश की राजनीति में महात्मा जी का उदय होने के बाद से यह अनुभव होने लगा था।

बिना शर्त अंग्रजों को सहायता

यूरोप के प्रथम महायुद्ध (सन् १९१४ से १९१८) में अंग्रेजों को बिना किसी शर्त के सर्व प्रकार सहाय्य देने का उनका आग्रह और इस दृष्टि से उनके द्वारा सेना में भर्ती के लिए किया गया प्रचार किसी को भी पसंद नहीं था। लोकमान्य तिलक जी जैसे अतिश्रेष्ठ बुद्धिमान राष्ट्रभक्त चाहते थे कि युद्ध-समाप्ति के बाद तुरंत भारत को स्वतंत्र करने की असंदिग्ध घोषणा अंग्रेजों को करनी चाहिए। इसी शर्त पर हमें उनसे सहकार्य करना चाहिए, अन्यथा बिल्कुल नहीं। उन लोगों का यह विचार किसी भी कसौटी पर खरा उतरनेवाला था।

शत्रु की मुसीबत से लाभ उठाया जाए, यह राजनीति का दंडक है। किंतु महात्मा जी की भूमिका उदार और सर्वथा अव्यावहारिक थी। उनका विश्वास था कि अंग्रेजों की मुसीबत से लाभ न लेते हुए उन्हें सहकार्य देने

पर वे उसके बदले में स्वेच्छा से स्वाधीनता दे देंगे। बाद की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि उनका विश्वास मिथ्या था। 'पयः पानं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम्' यही सत्य है। युद्ध के बाद की अपमानास्पद घटनाओं से क्षुब्ध होकर, उनके द्वारा लिया हुआ अंग्रेजों से असहयोग का निर्णय भी वैसा ही विवादास्पद रहा। सुधार के नाम से जो अधिकार अंग्रेज दे रहे थे, उन्हें लेकर बाकी के लिए संघर्ष करना, प्रतियोगी सहकारिता के तत्त्व से अंग्रेजों से 'जैसे को तैसा' नीति-व्यवहार का विचार उनको पसंद नहीं था। किंतु असहकार का आंदोलन बीच में रोककर, प्राप्त होनेवाले अपयश से अपना बचाव करने की नीति उन्हें अपनानी पड़ी और चितरंजन दास आदि धुरीणों के नेतृत्व में वैधानिक कार्यक्रम अंगीकृत किया गया।

बहिष्कार का भस्मासुर

असहकारिता का स्वरूप और जनसाधारण को आह्वान करने की पद्धति पर भी तीव्र मतभेद थे। 'एक वर्ष में स्वराज्य' की घोषणा आकर्षक थी, किंतु अनेकों का मत था कि वह वस्तुस्थिति से परे थी। आखिर वही सत्य निकला। विद्यार्थियों द्वारा विद्यालय तथा महाविद्यालय के बहिष्कार की योजना पर बड़े-बड़े व्यक्तियों ने यह कहकर प्रखर टीका की थी कि यह बहिष्कार आगे चलकर विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता, उद्दंडता, चारित्र्यहीनता आदि दोषों को जन्म देगा और सर्व नागरिक-जीवन नष्ट होगा। बहिष्कारादि कार्यक्रमों से यदि स्वातंत्र्य मिला भी, तो राष्ट्र के उत्कर्ष के लिए आवश्यक ज्ञानोपासना, अनुशासन, चारित्र्यादि गुणों की यदि एक बार विस्मृति हो गई, तो फिर उनकी प्रस्थापना करना बहुत ही कठिन है। शिक्षक तथा अधिकारियों में अवहेलना करने की प्रवृत्ति निर्माण करना सरल है, किंतु बाद में उस अनिष्ट वृत्ति को सँभालना प्रायः अशक्य होगा, ऐसी चेतावनी अनेक विचारी पुरुषों ने दी थी।

उस समय के आवेश में इस चेतावनी की ओर दुर्लक्ष किया गया। इतना ही नहीं, तो उन विचारकों की खिल्ली उड़ाई गई। आज चारित्र्य की समस्या, विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता आदि के संबंध में अपने नेतागण शाब्दिक चिंता अवश्य करते हैं, किंतु विद्यार्थियों को राजनीतिक आंदोलन में उद्धत व्यवहार करने में प्रोत्साहन देनेवाले उस समय के कार्य तथा प्रत्येक छोटे-बड़े प्रसंग में अनुशासनहीनता का अभ्यास कराने वाले राजकीय आंदोलनों से यह भस्मासुर खड़ा हुआ है, इसे प्रांजलता से कोई मान्य नहीं

करता। जिनकी खिल्ली उड़ाई गई, जिन्हें दुरुत्तर दिए गए, उनकी ही दूरदृष्टि वास्तविक थी, यह मान्य करने की सत्यप्रियता भी दुर्लभ है।

अंग्रेजों का जाल

महात्मा जी का और एक आग्रह उल्लेखनीय है। उसके परिणाम बहुत दूरगामी हुए, जिन्हें आज भी भोगना पड़ रहा है। स्वाधीनता-आंदोलन का दमन करने के लिए अंग्रेजों ने मुसलमानों को वश में करके उन्हें अलग भूमि की माँग करने के लिए उकसाया। उस समय यह आभास उत्पन्न किया कि हिंदू और मुसलमान किसी स्वाधीनता-विषयक फार्मूले की माँग एक मत से करते हैं, तो उसे हम स्वीकार कर लेंगे। इस जाल में अपने बड़े-बड़े नेता फँस गए और हिंदू-मुस्लिम एकता निर्माण करने का प्रयत्न करने लगे।

कट्टर हिंदू होने के कारण, सर्वधर्म समान मानने की स्वाभाविक उदारता महात्मा जी में थी। इस उदारता में गत सहस्रों वर्षों का इतिहास दुर्लक्षित कर उन्होंने चाहे जो मूल्य देकर मुसलमान समाज को अपनी ओर खींचने की कोशिश की। उस समाज द्वारा किए गए दंगे, अत्याचार, मलबार में मचाए हुए उत्पात आदि भीषण कांडों की ओर दुर्लक्ष कर उनका महत्त्व बढ़ाने की नीति उन्होंने अपनाई थी। इसका इतिहास बताने की आवश्यकता नहीं है।

इस नीति से महामना पंडित मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय, भाई परमानंद, श्री विजयराघवाचार्य आदि बड़े देशभक्तों ने अपनी असहमति प्रकट की थी। महाराष्ट्र और अन्य प्रांतों में, लोकमान्य तिलक के निष्ठावान अनुयायियों ने कांग्रेस में रहते हुए हिंदू महासभा का संगठन बलवान बनाने की कोशिश की।

अल्पसंख्यकों के विषय में अपनाई गई नीति के परिणाम सर्वविदित हैं। मातृभूमि के लांछनास्पद विभाजन होने तक के एक से बढ़कर एक राष्ट्र का अपमान तथा हानि करनेवाले प्रसंगों की बाढ़ आई। फिर भी उस नीति का त्याग करने की उनकी प्रवृत्ति नहीं हुई। उलटे अधिक जिद से वही नीति सही और योग्य समझकर व्यवहार करने की प्रतियोगिता विभिन्न राजकीय नेताओं में शुरू हुई, जो आज भी चल रही है। हिंदू नाम से चिढ़ और अल्पसंख्यकों की उद्दंडता को न्यायोचित मानकर उनका अधिकाधिक तुष्टीकरण ही मानो लक्ष्य हो गया हो, ऐसा दिखता है। इससे राष्ट्र के सच्चे

स्वरूप का विस्मरण हुआ और सब प्रकार की अलगाव की वृत्ति बढ़ी और विभिन्न शत्रु-देशों को चंचु-प्रवेश के बाद मूसल-प्रवेश का अवसर मिलता है, यह स्पष्ट रूप से देखने पर भी उस सर्वनाशी नीति से चिपके रहने का दुर्धर दुराग्रह वृद्धिंगत होता हुआ दिखाई देता है।

महात्मा जी के उपर्युक्त विचारों से मतभिन्नता रहना, शुद्ध विचार करने वालों की दृष्टि से स्वाभाविक और योग्य मानना चाहिए।

अगणित श्रेष्ठ गुण

महात्मा जी के व्यक्तित्त्व के अनेक पहलू थे। उनकी हिंदू धर्म पर श्रद्धा थी। हिंदू जीवन के मानबिंदु रूप गोवंश का संरक्षण तथा उसकी हत्या सर्वथा बंद हो, इसलिए अपना शासन प्रभावी कानून बनाए, इसके लिए उन्होंने प्रयास किया। अपने अस्पृश्य कहे गए उपेक्षित बांधवों को सम्मानजनक स्थान दिलाने के लिए उनकी आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक आदि सब दृष्टि से उन्नति करने का उन्होंने प्रयत्न किया। अशिक्षित, सरल और आर्थिक कठिनाइयों में जीवन बितानेवाले वनवासी-दलित बांधवों को परधर्मियों द्वारा धर्मभ्रष्ट किए जाने के कार्य का तीव्र निषेध किया। समाज को गुंडागर्दी, अत्याचार, बलप्रयोग आदि अवलंबन सिखानेवाले, असंस्कृतता बढ़ानेवाले समाजवाद, साम्यवाद आदि नामों से केवल भौतिकता का प्रचार करनेवाले, कार्यकलापों के संबंध में स्पष्ट विरोध प्रकट किया।

उनके इन गुणों के कारण जनमानस में उनके संबंध में अपार प्रीति व श्रद्धा बनी रहेगी व रहनी चाहिए।

मन दुःखी होता है

अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए उनके नाम की घोषणा करनेवाले, उनके भक्त कहे जानेवालों द्वारा उनके विचारों व अगणित श्रेष्ठ गुणों की उपेक्षा, इतना ही नहीं तो उनकी खिल्ली उड़ाई जाते देखकर मन दुःखी होता है।

अनेक विवादास्पद अव्यवहार्य सिद्ध हुए विचारों का उनके द्वारा आग्रहपूर्वक प्रतिपादन करने के बाद भी उनकी स्मृति लोग अपने अंतःकरण में सदैव आदरपूर्वक संजोकर रख रहे हैं। उसका कारण है – उनका अटूट आत्मविश्वास, धर्म के श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों पर निष्ठा, तद्नुरूप स्वतः के जीवन को बनाने की सच्चाई, अपना दोष अपनी भूल प्रकट रूप से मान्य

करने की सत्यप्रियता आदि। इन असामान्य गुणों के कारण उनकी स्मृति रखना आवश्यक है।

इस वर्ष २ अक्टूबर १९६९ को उनका जन्मशताब्दी उत्सव बड़े उत्साह और समारोह से मनाने का सब देशबांधवों का संकल्प है। वे बड़े पैमाने पर होंगे भी। लेकिन उत्सव-समाराहों से ही इति कर्तव्यता मानना योग्य नहीं। उनके जीवन का दक्षतापूर्वक अभ्यास कर, उनमें प्रकट हुए श्रेष्ठ स्थायी गुणों को समझकर, उन्हें समाज में सबने आत्मसात करना आवश्यक है। राष्ट्रार्थ सर्वस्व समर्पित कर, शुद्ध सात्त्विक गुणों से युक्त होकर, प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्र का उत्कृष्ट कार्यकर्ता बनना चाहिए और अखिल मानवजाति को अपने सर्वसंग्राहक उदार व्यवहार से भूषणभूत होना चाहिए। इसलिए उनके गुणों को समझकर अनुकरण करने का निश्चय करना चाहिए। भगवत्कृपा से सब देशबंधुओं में यह सदिच्छा निर्माण हो और अपना राष्ट्र सर्वसद्गुण-संपन्न बनकर स्वतःसिद्ध जगद्गुरु पद प्राप्त करे और इससे महात्मा जी की कीर्ति अक्षय रहे।

४२. गोभक्त पूज्य श्री चौंडे महाराज

(आश्विन वद्य १ शके १८९१, तदनुसार गुरुवार ३० अक्तूबर १९६९ को आदरणीय चौंडे महाराज स्मारक मंदिर का भूमिपूजन समारंभ संपन्न हुआ। उस अवसर पर हुआ भाषण)

निर्विघ्नं कुरु मे देव सर्वकार्येषु सर्वदा। व्यवस्थापकों के निर्णय के अनुसार अपने इस आश्रम में, आश्रम के संस्थापक कैलासवासी गोभक्त चौंडे महाराज की स्मृतिप्रीत्यर्थ एक मंदिर-निर्माण की योजना हुई है। इस मंदिर के भूमिपूजन के लिए मैं यहाँ उपस्थित रहूँ, ऐसी यहाँ के लोगों की इच्छा थी। अपने यहाँ भारत में अतिप्राचीन काल से गोमाता की भक्ति हो रही है। भगवान श्रीकृष्ण के विषय में 'नमो देवाय गोब्राह्मणहिताय च, जगद्हिताय कृष्णाय' कह कर गोविंद-स्मरण किया जाता था। श्रेष्ठ जीवन की प्रस्थापना के लिए भगवान ने अनेक बार अवतार लिए हैं। पुरातन काल से हमारे ऋषि-मुनियों ने, पूर्वजों ने श्रेष्ठ जीवन का अनुभव किया है, परंतु आजकल गोपूजन का क्या लाभ है, कहकर बड़े-बड़े लोग इसको

दोष देते हैं। परंतु यह ठीक नहीं है।

गोमाता का असामान्यत्व

गाय में कुछ असामान्य अलौकिक सामर्थ्य है। उससे अपनी सुख-समृद्धि और उत्कर्ष होता है। उसी से हम लोगों में श्रेष्ठ जीवन की पात्रता उत्पन्न होती है। गोमाता के बारे में अपने यहाँ परंपरा से पवित्र भावना रहती आई है। परंतु आधुनिक लोग उपयुक्ततावादी हो गए हैं। प्रत्येक व्यवहार में लाभ क्या है? ऐसी भौतिक कसौटी लगाने की प्रवृत्ति निर्माण हुई है। यह कसौटी लगाने के लिए गो-सबंधी पूर्ण जानकारी होना आवश्यक है, तब उसे लगाने में आपत्ति नहीं। वह पूर्ण जानकारी हमारे पास है क्या? अपने ज्ञान की सीमा देखने पर जान पड़ता है कि हमें बहुत थोड़ा समझता है। मनुष्य सृष्टि-क्रम के संबंध में तो लगभग कुछ नहीं समझता, ऐसा ही कहना पड़ेगा। हम अनेक बार अहंकार से उलटा-सीधा कर बैठते हैं।

उपयुक्ततावादी कहते हैं, बूढ़े-बाढ़े पशुओं का व्यर्थ भरण-पोषण करने में क्या फायदा? विद्वान समझे जानेवाले अर्थशास्त्री भी ऐसा कहते हैं। कुछ लोगों ने कहा मनुष्य और पशुओं में स्पर्धा के कारण समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

अधर्म से निसर्ग का कोप

जमीन पर उगनेवाली घास, जो मानव के खाने के उपयोग की नहीं है, खाकर गाय मनुष्य के लिए दूध निर्माण करती है। केवल उपयुक्ततावाद का सिद्धांत सत्य है क्या? आज गोवंश का बहुत बड़े प्रमाण पर ह्रास हो रहा है। प्रकृति का कोप इसका कारण है। मनुष्य के अधर्म का प्रकृति पर परिणाम होता है। समय पर वर्षा नहीं होती। आज स्वयं के धर्म के संबंध में बोलना भी पाप है, ऐसा बड़े-बड़े लोग समझते हैं। किंतु अधर्म के कारण अतिवृष्टि और अनावृष्टि के प्रकोप हो रहे हैं।

राजस्थान के एक भाग में अत्यंत उत्तम जाति के गाय-बैल थे। वहाँ की गायें देखने में बहुत बड़ी नहीं हैं, परंतु उत्तम और भरपूर दूध देने वाली हैं। मैं एक मित्र के घर रुका था। उसके यहाँ एक बिल्कुल साधारण-सी गाय थी। उस वालुकामय प्रदेश में वह दिन में ७-८ बार दूध देती थी। पूछने पर उसने कहा गाय को पालने से लाभ ही होता है। वहाँ की गायें बहुत कम खाती हैं। वह केवल घास खाकर अच्छा गाढ़ा दूध देती

हैं। उस क्षेत्र में अब भयंकर अनावृष्टि होकर पीने के पानी के अभाव में पशु बेहाल होकर मर रहे हैं। तब अन्य जगहों पर मवेशी भेजे गए। इस यातायात में कई पशु रास्ते में ही मर जाते हैं।

प्रकृति भी मानव के अधर्म को देखकर क्रुद्ध हुई है। आज समाज में धर्मदृष्टि जागृत नहीं है। उसे पुनर्जागृत करने की राह में बड़ी-बड़ी अड़चनों के पहाड़ खड़े हैं। ऐसी स्थिति में अपने देश के नेताओं को गोसंवर्धन करने के स्थान पर विदेश से दूध आयात करना सुविधाजनक लगता है। अपने यहाँ की गाय मारना और विदेश से दूध-पाउडर लाना। वहाँ से आनेवाला (तथाकथित) दूध पाउडर, दूध से ही बनाते हैं, ऐसा नहीं है। कुछ कृत्रिम रासायनिक मिश्रण से उसे बनाते हैं।

एक जानकार से मैंने पूछा– 'प्राकृतिक दूध में चूना रहता है, जो शरीर में उत्तम प्रकार से मिल जाता है। रासायनिक पद्धति से तैयार किए गए दूध-पाउडर में कैलशियम कैसे मिलाते हैं?

उसने बताया– 'हड्डियों का चूर्ण डालते हैं।'

इस प्रकार का कृत्रिम दूध बच्चों को पिलाना ठीक है क्या? हम हिंदू कहलाते हैं। लोक-लज्जा नहीं है, कम से कम मन की लज्जा तो होनी चाहिए। अपने यहाँ इस प्रकार के अविवेकपूर्ण काम हो रहे हैं। कोई दूरान्वय से कहेगा भी कि आज की दृष्टि से विचार करें। परंतु मनुष्य के जीवन का केंद्र-बिंदु 'श्रद्धा' होती है। श्रद्धा होगी तो अकल्पित परिश्रम करने की श्रेष्ठ भावना मनुष्य में निर्मित होती है। हमारे यहाँ राष्ट्रीय आंदोलन करने के लिए प्रोत्साहन दिया, उसके पीछे भी श्रद्धा की शक्ति ही थी। गोमाता के प्रति श्रद्धा से राष्ट्रसेवा की श्रद्धा उत्पन्न होगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि श्रद्धा का मूल केंद्र-स्थान गोमाता ही है ।

गो-श्रद्धा से राष्ट्रश्रद्धा उत्पन्न होगी

गो शब्द का एक अर्थ 'भूमि' भी होता है। गोमाता की श्रद्धा में से भू-माता की श्रद्धा उत्पन्न होगी ही। यह श्रद्धा लुप्त हो गई इसलिए आज ऐसी स्थिति दिखाई देती है। हृदय की भक्ति नष्ट हो गई। नेतृत्व करनेवाले लोग चारों तरफ दिखते हैं, परंतु मातृभूमि की श्रेष्ठ भक्ति कहीं दिखती है क्या? मातृभूमि की खंडित स्थिति के विषय में किसी को खेद होता है क्या? मेरे जैसा कोई बोलता है, तब यही लोग कहते हैं– 'यह एक स्थापित सत्य है।' भारतमाता के विभाजन को एक स्थापित सत्य समझते

हैं। पृथ्वी पर ऐसा कोई भी सत्य, स्थापित सत्य नहीं होता। इसलिए चाहे जैसा बोलना ठीक नहीं। आज अंतिम सत्य लगने वाली बातों में भी हार माननी पड़ती है। परंतु 'हार' का दर्द हो तब ना? आज लोग मृतवत् दिखाई देते हैं। गोमाता के दुःख के लिए कोई दर्द नहीं, वैसे ही मातृभूमि की भी चिंता नहीं। ऐसी स्वतंत्रता का कोई मलतब नहीं है।

बड़े लोगों को हम क्या कर रहे हैं, इसपर ध्यान देना चाहिए। दूसरों का आज्ञाधारक सेवक बनकर रहना ही आज राजकारण हो गया है। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो बड़े-बड़े लोग इसमे बँधे हुए दिखाई देते हैं। स्वतंत्रता से विचार करने का दावा करने वालों के पीछे भी दूसरे द्वारा दी हुई बुद्धि ही दिखाई देती है। इसलिए ऐसा लगता है कि गत हजार वर्ष परकीय शासन में रहने के कारण, दासता में रहने के कारण, उनकी आज्ञा से आचरण करने में अभी भी आनंद होता है।

राष्ट्रजीवन का अधिष्ठान

ऐसी स्थिति में यही कहना चाहिए कि हमने अपनी श्रेष्ठ श्रद्धाओं को एक ओर रख दिया है। गाय केवल पशु नहीं है। वह एक श्रद्धा स्थान है, परंतु हमने गो-माता की उपेक्षा की। अच्छे-अच्छे लोग पूछते हैं– 'जानवरों का रक्षण क्या करते हो?' परंतु आक्रमण होने पर कोई ऐसा नहीं कहता– 'जमीन का रक्षण क्या करते हो, मनुष्यों का रक्षण करो। आक्रमण होने पर जिसको चिंता नहीं होती, वह जिंदा रहते हुए भी मरे के समान है। जब लोग पूछते हैं तुम जानवरों के पीछे क्यों भागते हो? तब कहना चाहिए कि हम मानव-हित के लिए ही पशु के पीछे लगे हैं। जिसको अपने श्रद्धा केंद्र का रक्षण करते नहीं बनता, उनको कभी भी सम्मान नहीं मिलता यह स्पष्ट है।

हमारा विश्वास है कि गो-माता राष्ट्रजीवन का मुख्य अधिष्ठान है। राष्ट्रजीवन का मुख्य अंग है। कुछ लोगों की भावना है कि इस गोरक्षण के पीछे राजकीय स्वार्थ का हेतु सिद्ध हो, ऐसी इच्छा है। इसीलिए 'गोरक्षण अभियान समिति' पर ऐसे आरोप लगाए गए। पुरी के शंकराचार्य जी के आदेश से आंदोलन करने का निर्णय किया गया था। उसी समय बिहार, बंगाल, इत्यादि प्रांतों में मध्यावधि चुनाव होने वाले थे। संभवतः इस कारण लोगों का कहना था कि 'इनको गोरक्षणादि कुछ नहीं चाहिए। इन लोगों का राजकीय मन्तव्य है।'

मैंने स्वामी जी से कहा– 'चुनाव की गड़बड़ समाप्त होने के बाद आंदोलन करेंगे।' तब उन्होंने वैसी घोषणा की। गोरक्षण का हेतु किसी भी प्रकार से राजकीय स्वार्थ सफल करना नहीं है। जीवन की श्रद्धा अक्षुण्ण बनी रहे, इस दृष्टि से जैसे श्री शंकराचार्य जी देखते हैं, वैसे ही सभी लोग देखें कि गोहत्या न हो, पूर्ण गोवंश सुरक्षित रहें, आज का यह धर्मविरोधी उन्माद दूर हो। गो-पूजन के साथ-साथ गो-रक्षण की भी चिंता हो।

बूढ़े गाय-बैल आज बोझा लगते हैं। आधुनिक तरुणों से तो यह पूछने का भी अर्थ नहीं है कि बूढ़े माँ-बाप का क्या करोगे? क्योंकि उनको तो बूढे माँ-बाप का भी बोझा लगने लगा है। परंतु वे यह भूल जाते हैं कि सृष्टिक्रम के अनुसार उन्हें भी बुढ़ापा आने वाला है, तब उनकी भी यही दशा होगी।

कुछ लोग पूछते हैं कि गो-रक्षण की योजना क्या है? कई स्थानों पर गोरक्षण की योजना कार्यान्वित हुई है। जगह-जगह गो-रक्षण संस्था निर्माण करते हुए वे किसी पर बोझ नहीं हैं– यह दिखा देना चाहिए। ग्राम-ग्राम में गो-रक्षण संस्था स्थापित होकर उनमें लंगड़ी-लूली गायों का संरक्षण होना चाहिए। ५-१० गाँवों के लोगों ने मिलकर एकाध सुरक्षित स्थान निश्चित कर वहीं पर घास उगाने की व्यवस्था कर अपंग गाय-बैलों तथा अन्य जानवरों की सुरक्षा करते हुए उससे प्राप्त गोबर व खाद को सबमें बाँट लेना चाहिए। इससे गोवंश का संरक्षण तो होगा ही, उत्तम खाद भी मिलेगी।

आज हम इस उत्तम खाद की उपेक्षा कर रासायनिक खाद का भरपूर उपयोग कर रहे हैं। अमेरिका ने रासायनिक उर्वरकों का निर्माण कर अभूतपूर्व खेती की। बाद में उनके ध्यान में आया कि पहले-पहल उत्तम उत्पादन मिलता है, परंतु धीर-धीरे उत्पादन निकृष्ट किस्म का होने लगता है। अमेरिका में असंख्य भूखंड रासायनिक उर्वरकों के कारण अनुपजाऊ हो गए हैं। उनपर इस आशय के फलक लगाए हुए हैं। इन रासायनिक उर्वरकों के कारण बाद में घास भी नहीं उगती। अपने यहाँ इन रासायनिक उर्वरकों का जोर-शोर से उपयोग हो रहा है। अमेरिका ने सारी जमीन अनुपजाऊ होने का इंतजार नहीं किया। परंतु अपने यहाँ रासायनिक उर्वरकों का प्रचार धड़ल्ले से जारी है। सूखी पत्तियों, कचरा और गोबर से बने खाद जैसा अच्छा खाद नहीं होता। उससे जमीन की उपजाऊ-शक्ति बढ़ती है, खेती अच्छी होती है और जमीन निरंतर अच्छी रहती है। परंतु

उन्होंने जो अच्छा किया, हम उसे नहीं अपनाते। हमने उनकी राष्ट्रभक्ति, उद्योगप्रवीणता, विज्ञान को तो नहीं अपनाया, परंतु शराब, व्यसन इत्यादि को भरपूर अपनाया।

गो-संरक्षण यह सबको सुख देने वाला है। अत्यंत शुद्ध सात्त्विक भाव से पवित्र धर्मव्रत के रूप में स्वार्थ का लेशमात्र भी न रखते हुए गो-सेवा करनी चाहिए। इस प्रकार से काम करनेवाली जो अत्यंत थोड़ी संस्थाएँ हैं, उनमें से यह एक संस्था है। सचमुच में श्री महाराज ने स्वयं का खून-पसीना सींचकर इस संस्था का निर्माण किया है। उन्होंने गो-सेवा का स्वीकार जीवनकार्य और धर्मकार्य के रूप में किया है।

वराह अवतार

अपनी अवतार-कथाओं में एक कथा है वराह अवतार की। उस अवतार का कार्य समाप्त होने पर भी भगवान वह शरीर छोड़ने को तैयार नहीं थे। देवताओं ने वराह भगवान की प्रार्थना की, परंतु भगवान ने कहा कि मैं यह अवतार शरीर नहीं छोड़ूँगा। सब देव चिंताग्रस्त हुए कि अब क्या होगा? तब भगवान शंकर ने कहा, 'मैं बात करता हूँ।' उन्होंने भी शरीर त्याग देने को कहा, परंतु भगवान को उस शरीर से प्रेम उत्पन्न होने के कारण वे शरीर त्यागने के लिए तैयार नहीं हुए। तब भगवान शंकर ने त्रिशूल का प्रहार कर वह वराह-शरीर नष्ट कर दिया। तब भगवान विष्णु अपने मूल रूप में प्रगट हुए।

तात्पर्य, यह शरीर रहनेवाला नहीं है। उसे अमरत्व नहीं है। उसका क्षरण होता जाता है। जीवन भर तेज प्रकाश देते-देते तेल समाप्त हो जाता है। वैसे ही शरीर समाप्त हो जाता है। इसके लिए पर्याय नहीं है, परंतु महाराज जी नहीं रहे, इसलिए कार्य बंद कर देना चाहिए क्या? अपने यहाँ की परंपरा तो सातत्य से कार्य करने की है।

मैं एक आश्रम देखने गया था। वहाँ मैंने पूछा– 'आपके बाद यह काम कौन करेगा?' उन्होंने उत्तर दिया - 'तब यहाँ पर कुत्ते रहेंगे।' और सचमुच वही हुआ। योग शिक्षा के स्थान पर कचरे के ढेर बन गए। मुझसे किसी ने कहा – 'आप यह कार्य और स्थान ग्रहण करें तो अच्छा होगा।' मैंने कहा–'मेरे बाद ऐसा ही होनेवाला हो, तो क्यों लूँ?'

महाराज ने भगवान श्रीकृष्ण की सेवा की, जो ईश्वर-कृपा से अखंड चल रही है। घर का वातावरण गो-सेवा व्रत से भरा है। यह कार्य

नष्ट होगा– इसकी मन में शंका भी नहीं आती। घर के सब लोग और महाराज के मित्र यह कार्य करते रहेंगे। आप सब लोग विचार करें। यह अपना ऋण है। संपूर्ण देश से गो-हत्या का कलंक मिटाकर गो-हत्या बंद करने का प्रयत्न करना चाहिए। समाज में सर्वत्र इस भावना का प्रसार करें। धर्म-भक्ति, राष्ट्र-भक्ति और इनमें से कर्म-शक्ति जागृत करें। यह कार्य करने के लिए अपना सहयोग दें।

४३. न्यायरत्न श्री धुंडिराज विनोद

यह आग्रहपूर्वक कहा गया है कि मैं न्यायरत्न विनोद के विषय में कुछ लिखूँ। मैं असमंजस में पड़ गया, क्योंकि मेरे जैसा अति साधारण व्यक्ति असाधारण महर्षि पद प्राप्त किए हुए व्यक्ति के बारे में क्या लिखे और कैसे लिखे।

भाषण तथा लेखन की शैली

वे केवल न्यायरत्न नहीं थे, केवल विद्वान ही नहीं थे, अपितु साक्षात् पारस्पर्श किए हुए अधिकारी पुरुष थे। समय-समय पर प्रकाशित होनेवाले उनके लेखों से यह ज्ञात होता है कि वे इहलोक से दूर किसी रहस्यमयी सूक्ष्म सृष्टि में विचरण करते हों। उस लोक के विचार जनसाधारण को अवगत करने के लिए शब्द-सृष्टि की सामर्थ्य बहुत ही सीमित होती है। अतः केवल निर्देशमात्र कर, अनेक सूक्ष्म अंतःसंवेदनाओं को जागृत कर, उस जागृति में से संवेदनक्षम शुद्ध अंतःकरणवाले व्यक्ति को अति भव्य, उदात्त तथा सुखमय अनुभव प्राप्ति के आभास में से महर्षि के पारस्पर्शी ज्ञान का अल्प सा क्यों न हो आकलन होता है तथा महर्षि के तपःसामर्थ्य का ज्ञान होने लगता है।

कुछ वर्ष पूर्व पुणे के स्वयंसेवक बंधुओं ने अनेक सम्माननीय नागरिकों के समवेत मेरा सत्कार किया था। मेरे लिए यह अवसर बहुत ही संकोच पैदा करनेवाला था। योग्यता का अभाव ही मेरी योग्यता है– यह मैं जानता हूँ। उस समय भी जानता था, परंतु इस निमित्त से अनेक महापुरुषों का परिचय तथा आशीर्वाद प्राप्त होने के मोह के कारण उस कार्यक्रम को मैंने अस्वीकार नहीं किया। उस समय हुए प्रकट कार्यक्रम में महर्षि जी ने आशीर्वादयुक्त भाषण किया था। उनका मुझ पर तथा संघ पर

बड़ा ही अनुग्रह था। उस समय उनकी एक अफ्रीकी शिष्या भी उपस्थित थी। उसका भी आशीर्वादपरक भाषण हुआ था। उन्होंने भाषण का अंत पवित्र गायत्री मंत्र के विशिष्ट उच्चारण के साथ किया था। उस समय महर्षि का भाषण श्रवण करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। एक-एक शब्द, एक-एक वाक्यांश नाप-तौल कर बोलना, उसका श्रोताओं पर गंभीर परिणाम हो- इस उद्देश्य से किंचित रुकना तथा गंभीर गंगौघ के समान अर्थगर्भ विचार रखना। ये सारी बातें अत्यंत मुग्ध करनेवाली थीं।

उनका अनुग्रह

उसी वास्तव्य में उनका मुझपर एक अनुग्रह हुआ। पिछले कई वर्षों से ठीक निद्रा नहीं आ रही थी। उस कालखंड में अनेक दिन और रात्रि बिल्कुल निद्राहीन स्थिति में बितानी पड़ी थी। निरंतर जागरण का दुष्परिणाम हो रहा था। जब महर्षि को यह विदित हुआ, तब उन्होंने तांबे के तार की विशिष्ट आकार की एक वस्तु मंत्रसिद्ध कर मुझे दी और उसे नित्य देह पर धारणा करने को कहा।

उस अवसर पर उनके मंत्रशास्त्र ज्ञान तथा मंत्रसिद्धि के सामर्थ्य का मुझे स्पष्ट भान हुआ। केवल इच्छा से, वृष्टि से, कभी अल्प स्पर्श से, लोगों को आधि-व्याधि-मुक्त कर मनःशांति प्राप्त करा देने, विशेष अधिकारी पुरुषों का उच्च आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त करा देने की योग्यता उनमें थी। प्रतिवर्ष व्यास पूर्णिमा के पावन पर्व पर बहुतों ने उनके सहवास में इस प्रकार के अनुभव प्राप्त किए हैं।

रस और अनुभूतिपूर्ण भाषा

एक बार उनकी 'अभंगसंहिता' पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसमें उनकी आध्यात्मिक अनुभूति, उसमें से प्रकट हुआ सर्वात्मभाव, जाति विशिष्ट उच्च-नीच भाव-निषेध, दीन-दुखियों को अपना आराध्य मानने का दिव्य सद्भाव आदि बहुत ही सहज और रसपूर्ण भाषा में व्यक्त हुआ है। केवल उक्त 'अभंगसंहिता' पढ़ने से ही महर्षि की महत्ता का बोध हो सकता है।

उस श्रेष्ठ विभूति के विषय में मैं क्या लिख सकता हूँ। वे आज इस पृथ्वीतल पर शरीरधारी रूप में विद्यमान नहीं हैं, परंतु उनकी मंत्रशक्ति, योगशक्ति अध्यात्मज्ञान की शक्ति, पूर्ण तेज से अपने हितार्थ चारों ओर विचरण कर रही है, इस विश्वास से उनकी स्मृति को नम्रतापूर्वक शतशः प्रणाम तथा टूटे-फूटे शब्द उनके चरणों में अर्पित करता हूँ।

४४. योगव्रती श्री जनार्दन स्वामी

(श्रद्धेय जनार्दन स्वामी के चरित्र 'योगमूर्ति' में प्रकाशित लेख)

अतिपरिचयाद् आदर वृद्धि

परमश्रद्धेय परिव्राजकाचार्य श्री जनार्दन स्वामी से मेरा अनेक वर्षों से निकट का परिचय है। 'अतिपरिचयादवज्ञा' इस सुभाषित को बहुत कम अपवाद मिलते हैं। श्री जनार्दन स्वामी उस अपवाद की गणना में से एक हैं। अतिपरिचय के कारण ही मेरे मन में उनके प्रति आदरभाव निर्माण हुआ है।

स्वभावदर्शन और योगव्रत

जिनका स्वामी जी से अधिक परिचय नहीं हैं, उनको स्वामी जी के दर्शन मात्र से सहज ज्ञान हो जाता है कि वे योगप्रचार का व्रत लिए हुए एक नैष्ठिक संन्यासी कार्यकर्ता हैं। उनके मितभाषी और हितभाषी स्वभाव के कारण प्रत्यक्ष भेंट के समय दीर्घकाल तक बातचीत होने पर भी अनावश्यक विषय के बारे में वे एक अक्षर भी नहीं बोलते थे। अपने अभ्यास के विषय का, जो मालूम है व जो मालूम नहीं, ऐसा तथाकथित ज्ञान तुरंत प्रकाशित करने का मोह अच्छे-अच्छे लोग संवरण नहीं कर पाते। इसीलिए मौन ज्ञान का अनुबंधी गुण माना जाता है। किसी विषय में थोड़ी-बहुत विशेषज्ञता प्राप्त हुई कि संधि प्राप्त होते ही वह लोगों को सुनाने की तीव्र इच्छा होती है। सुनने वालों की इच्छा हो या न हो, प्रतिपादित विषय उनकी समझ में आए या न आए, सर्वसामान्य विशेषज्ञ पुरुष अपना उपरि-उपरि ज्ञान प्रकट करता जाता है व नवपरिचित व्यक्ति को अपना पांडित्य दिखाता है।

प. पू. स्वामी जी ने योगप्रचार का व्रत अंगीकृत किया, इसके कारण उस विषय के जिज्ञासु लोग उनसे निरंतर मिलते रहते हैं व योग-विषयक नानाविध प्रश्न पूछते रहते हैं। उन सब के समझ में आने लायक सुगम पद्धति से वे 'योग' विषय का प्रतिपादन करते हैं। ऐसा करते समय शास्त्रवचनों के अर्थ की अनावश्यक चिकित्सा करना वे टालते हैं। यह अनुभव में आता है कि योगविद्या का प्रचार करनेवाले सभी श्रेष्ठ भारतीय कार्यकर्ता स्वामी जी के योगज्ञान के बारे में नितांत आदर का भाव रखते हैं। उनका योगविषयक ज्ञान, विज्ञान सहित है– यह संशयातीत है,

परंतु उनके ज्ञान का क्षेत्र केवल योग तक सीमित नहीं है। स्वामी जी दशग्रंथी वैदिक हैं यह वस्तुस्थिति उनके मितभाषित्व व सीमितभाषित्व के कारण निकट परिचितों को भी ज्ञात नहीं है।

दशग्रंथी वैदिक

पुरानी पीढ़ी के प्रत्येक ब्राह्मण को थोड़ा-बहुत वेद और वैदिक कर्मकांड का परिचय था। स्वामी जी भी पुरानी पीढ़ी के होने के कारण उनको सर्वसामान्य ब्राह्मण का वेदविषयक ज्ञान रहने से किसी को विशेष लगता नहीं होगा। परंतु वस्तुस्थिति वैसी नही हैं। मेरे परिचय के अतिश्रेष्ठ वैदिक पंडितों के मुख से स्वामी जी के वेदविशारदत्व की प्रशंसा सुनने को मिली है, परंतु स्वामी जी इस संबंध में कभी एक अक्षर भी बोलते नहीं। यह इनके व्यक्तित्व की विशेषता मुझे विशेष रूप से अनुभव में आई।

योगविद्या-प्रचार का व्रत लेने के कारण स्वतः के वेदज्ञान के विषय में उन्होंने एक प्रकार की मौनमुद्रा धारण की है। कभी-कभी लगता है कि उन्होंने योगप्रचार के बदले वेद-प्रचार (आज की प्रतिकूल स्थिति में इस कार्य की अतीव आवश्यकता है) का व्रत लिया होता, तब स्वतः के योगज्ञान के विषय में ऐसा ही मौन धारण किया होता और ये दशग्रंथी घनांत वैदिक योगशास्त्र और योगविद्या में भी पारंगत है– ऐसा कहना पड़ता।

आयुर्वेद तथा ज्योतिष

मेरी जानकारी के अनुसार स्वामी जी को आयुर्वेद और ज्योतिष-शास्त्र का भी असाधारण ज्ञान है। योगप्रचार के लिए उनकी तरफ आनेवाले कुछ खास लोगों को उनके आयुर्वेद ज्ञान की अस्फुट कल्पना होना संभव है, परंतु ज्योतिष विषयक गहन ज्ञान रहते हुए भी उस शास्त्र के संबंध में वे कुछ नहीं बोलते। ज्योतिष विषयक मौन का कारण यह है कि ज्योतिष एक लोकप्रिय विषय होने के कारण भविष्य-कथन करनेवाले को बहुत लोग घेर लेते हैं। ऐसा न हो इसलिए उन्होंने ज्योतिष के विषय में मौन धारण किया है।

यह कितना विलक्षण है। लोगों की भीड़ अपने इर्द-गिर्द इकट्ठा हो और उस भीड़ के कारण स्वतः को थोड़ा भी अवकाश न मिले इसकी मनुष्य को कितनी आकांक्षा रहती है। इस जगत् में आज बड़े-बड़े नामवंत लोग इस प्रकार के लोकसंग्रह के लिए क्या-क्या नुस्खे चलाते हैं– यह

की आवश्यकता नहीं। परंतु इस प्रकार के लोकसंग्रह की आकांक्षा अज्ञता का लक्षण है। इस जगत् में ज्ञानी के रूप में जाने गए बड़े-बड़े लोगों में भी 'ज्ञान' का सच्चा गीतोक्त लक्षण दिखता नहीं।

देवदुर्लभ निरहंकारिता

अपूर्ण ज्ञान के साथ स्वभावतः अंकुरित होने वाला और एक दोष है अहंकार। 'अहंभाव' अपूर्ण ज्ञान का या ज्ञान के हजम न होने का लक्षण है। जिसको ज्ञान हजम हो जाता है, उसका अहं भाव विलीन हो जाता है। समर्थ रामदास स्वामी ज्ञान व अहं भाव के संबंध में कहते हैं– 'अहं भाव ज्या मानसीचा गळेना। तया ज्ञान हे अन्न पोटी जिरेना।' (जिसके मन का अहंभाव गलित नहीं होता, उसे ज्ञानरूपी अन्न पचता नहीं)। अमित ज्ञान व सीमित अहंकारयुक्त व्यक्तित्त्व इतिहास या पुराणों में ढूँढना परिश्रम का विषय है। अपने प. पू. श्रीजनार्दन स्वामी इस प्रकार के व्यक्तिमत्व के मूर्तिमंत आदर्श हैं।

इस जगत् में सीमित ज्ञान व अमित अहंकार के उदाहरण प्रचुरता से सर्वत्र मिलते हैं। वेद व शास्त्रों का अध्ययन पूर्ण कर अंगीकृत किया हुआ वीतरागी संन्यस्त जीवन स्वामी जी का ज्ञानाभरण है, उससे भी अधिक बड़ा आभरण उनका देवदुर्लभ निरहंकारित्व है।

वेदशास्त्रादिकों का अध्ययन कर सर्वसंगपरित्यागपूर्वक संन्यास ग्रहण करने के बाद भी केवल ज्ञान का ही नहीं तो संन्यासी जीवन का शोचनीय अहंकार रखनेवाले लोग मैंने देखे हैं, परंतु हमारे स्वामी जी को किसी भी प्रकार का अहंकार नहीं। उनको किसी ने कहीं भी बुलाया तो किसी भी प्रकार आगा-पीछा न करते अथवा वाहन की अपेक्षा न करते हुए जैसे भी संभव होता है, निश्चित स्थान पर पहुँचते हैं। उच्च आसन की अभिलाषा न रखते हुए जो स्थान मिलता है वहाँ बैठते हैं। वहाँ के व्याख्यानादि कार्यक्रम में मनःपूर्वक सहभागी होते हैं। किसी भी सार्वजनिक समारोह में उनका आगमन व निर्गमन सहज स्वाभाविक व आडंबररहित होता है। अपने कारण उनको कोई असुविधा हुई तो उन्हें दुःख होगा या क्रोध आएगा, ऐसा उनको जाननेवाले किसी के भी अनुभव में नहीं आता। कारण क्षुद्र मानापमान की लौकिक कल्पना हृदय में रखनेवाला अहंभाव उनके परिणत ज्ञान की अग्नि में उसी प्रकार जल गया है, जैसे भगवान शंकर की नेत्राग्नि में मदन जल गया था।

'विद्या विनयेन शोभते' यह सुभाषित अनेकों के परिचय का होने के कारण अपनी विद्या की शोभा बढ़ाने के लिए अनेक ज्ञानी लोग जनता के सम्मुख विनयी होने का उत्कृष्ट अभिनय करते हैं। जब कोई भी अभिनय उत्कृष्ट होता है, तब सच या झूठ पहचानना बहुत कठिन होता है। सच्चे विनयी मनुष्य की अपेक्षा नकली विनयी मनुष्य समाज में अधिक आदरणीय हो सकता है, परंतु अहंकार के बारे में वैसा नहीं है। निरहंकारिता का अभिनय उत्तम सधने पर उस अभिनय के अहंकार से भी हृदय व्याप्त हो जाता है।

इस प्रकार गहन विद्वत्ता, स्वाभाविक विनय, नितांत निरहंकारिता, अखंड कार्यमग्नता, योगविद्या के सार्वत्रिक प्रसार के लिए क्षणशः कणशः जीवन का हविर्दान जैसे लोकोत्तर गुणों का अधिष्ठान धारण करनेवाले स्वामी जी का व्यक्तित्व देखकर मस्तक अपने आप झुक जाता है।

४५. राष्ट्रपति डा. राधाकृष्णन

(राष्ट्रपति डा.राधाकृष्णन जी को श्री गुरुजी की श्रद्धांजलि)

जो व्यक्ति उम्र से बढ़ता है और प्रबुद्ध होता है वह हमारे लिए आदरणीय होता है। उत्स्फूर्त और प्रगाढ़ आदर निर्माण होने के लिए जो महत्त्वपूर्ण गुण आवश्यक होते हैं, उसमें परिपक्व ज्ञान का समावेश होता है। भारत के स्वर्गीय राष्ट्रपति डा. राधाकृष्णन इस प्रकार के आदरणीय व्यक्तित्व के धनी थे, जिनके प्रति पूरे विश्व को आदरभाव व्यक्त करना चाहिए। उनकी ज्ञान की अविरत साधना ने, जो केवल ऐहिक जीवन की ही नहीं, अपितु तत्त्वज्ञान सखोल सत्य की भी है, उनके मन को इतनी ऊँचाई पर उठाया, जो शायद ही किसी के लिए संभव है। उनके इस गुण ने परिस्थिति और घटनाओं का यथार्थ मूल्यांकन करने की क्षमता उनको दी। विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र– भारत के राज्यप्रमुख के नाते अपनी कठिन जिम्मेदारियों का वहन करते समय उनके इस मानसिक संतुलन और परिस्थिति को यथार्थ रीति से समझने की शक्ति के गुणों की कई बार परीक्षा हुई और उसमें वे सफल भी हुए।

ताशकंद-संधि का छोटा, किंतु अत्यंत स्पष्ट किया हुआ उनका विश्लेषण मुझे याद आता है, जब उन्होंने स्वर्गीय प्रधानमंत्री लालबहादुर

शास्त्री को श्रद्धांजलि अर्पित की थी। दिवंगत नेता को श्रद्धांजलि अर्पण करने हेतु दिल्ली में आयोजित उस सभा में कोसिजिन सहित अनेक नेताओं के भाषण हुए। किंतु उसमें सबसे उत्कृष्ट भाषण हुआ था हमारे राष्ट्रपति महोदय का। उनके भाषण में दुःख तो भरा हुआ था ही, किंतु जिसके बाद शास्त्रीजी का देहांत हुआ, उस ताशकंद-संधि का 'धर्मांतरण का केवल एक प्रयास' इन शब्दों में यथार्थ विश्लेषण भी किया। उनके बाद किसी ने भी उस संधि का ऐसी रीति से न तो विश्लेषण किया और न ही विश्लेषण करने का साहस दिखाया।

मुझे उनके भाषण सुनने का कई बार सौभाग्य प्राप्त हुआ और मुझे आश्चर्य हुआ की अस्खलित भाषण करते समय योग्य शब्द उनकी सेवा में कैसे हाजिर होते हैं?

वेद और विज्ञान में पारंगत हुए बगैर कोई भी व्यक्ति प्रशासन में स्थान लेने के लिए या मंत्री बनने के लिए पात्र नहीं होता, ऐसी हमारी परंपरा है। आधुनिक काल में राष्ट्रपति डा. राधाकृष्णन् ने ऐसा किया। अन्य कोई भी वह पात्रता पूरी नहीं करता।

चीनी और पाकिस्तीनी आक्रमणों के कारण आज हम कठिन समय से मार्गक्रमण कर रहे हैं। उनका सामना करने के लिए वे हमें धैर्य और निर्धार प्रदान करें और भगवद्‌गीता में जिस प्रकार कहा है- 'युद्धाय कृतनिश्चयः।' वैसे ही इस राष्ट्र को गौरव प्राप्त कराने के लिए श्री प्रभु शक्ति दें, ऐसी प्रार्थना हम करें।

४६. प्रज्ञाचक्षु श्रीगुलाबराव महाराज

(नागपुर के श्री कृष्ण माधव घटाटे जब श्रीगुलाबराव महाराज के संबंध में शोध प्रबंध लिख रहे थे, तब श्री गुरुजी ने उनका मार्गदर्शन किया। अस्वस्थ होने पर भी मार्च-अप्रैल १९७३ में प्रबंध के सारे प्रकरण स्वयं पढ़े। उस समय श्री महाराज के संबंध में गुरुजी ने जो विवेचन किया, उसके कुछ अंश 'श्री गुलाबराव महाराजांची विचारसंपदा' के 'ऋणानुबंध' ग्रंथ से उद्‌धृत)

मैं विद्यार्थी दशा से बालांध संत श्री गुलाबराव महाराज के समूचे साहित्य से परिचित हूँ। उनके शिष्योत्तम तथा उत्तराधिकारी बाबाजी महाराज से भी संबंधित हूँ। गुलाबराज महाराज के बचपन के एक मित्र तथा शिष्य वासुदेवराव जी मुले, जो नागपुर में नीलसिटी स्कूल के मुख्याध्यापक थे, के यहाँ मैं विद्यार्थीकाल में रहता था। उस समय वृद्धावस्था के कारण उनको कम दिखाई देता था। इसी कारण महाराज के लिखित सारे ग्रंथ मैं उनको पढ़कर सुनाता था। वह सारा स्मरण आता है। माताश्री ताईजी को श्रीबाबाजी से शिव की पार्थिव पूजा तथा मंत्रदीक्षा भी मिली थी।

महाराज पर शोध प्रबंध लिखते समय बहुत सावधानी रखनी चाहिए। उन्होंने पत्रों में तथा ग्रंथों में दूसरों का कुछ खंडन-मंडन भी किया है और बाद में उनके कुछ अंशों का समन्वय भी किया है– वह सारा अद्भुत है। खंडन करते समय उनके मन में द्वेष नहीं था, इसी कारण आगे चलकर उन्होंने उसका समन्वय भी करके दिखाया। आधुनिक पी. एच.डी. के संशोधक तथा विद्वान स्वयं के विचार संतों पर लाद देते हैं और नवीन संशोधन का आभास निर्माण करते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए।

महाराज एक तरफ खंडन करते हैं तो दूसरी जगह समन्वय करते हैं तथा स्तुति भी करते हैं। उनके मन में किसी व्यक्तिविशेष के बारे में कटुता नहीं थी यह स्पष्ट रूप से दृगोचर होता है। उनको, धर्मदृष्टि से, वेदांत दृष्टि से या तो भक्तिदृष्टि से, जो गलत लगा उसका उन्होंने सहजभाव से, युक्ति से और प्रमाणों से खंडन किया और उसी व्यक्ति के विचार में स्थित उचित धारणाओं को स्वीकार भी किया।

उन्होंने भिन्न-भिन्न संप्रदायों के तथा धर्मों के तत्त्व विचारों को अद्वैत सिद्धांत पर परखकर कठोर युक्तियों से परास्त किया, किंतु भारतीय समाज के भिन्न-भिन्न घटकों में परस्पर विद्वेष उत्पन्न न हो, इसलिए समन्वय भी कर दिखाया और बाद में अंतिम वेदांत सिद्धांतों का तौलनिक तथा समतोल रीति से प्रतिपादन किया।

स्वयं खेतिहर पाटील कुल में जन्म लेते हुए भी, स्वजाति बांधवों की अन्य समाज के प्रति द्वेषमूलक वृत्ति की कठोर चिकित्सा की। दोनों परस्पर विरोधी मतवादों को सुचारु रूप से युक्तिपूर्ण तथा प्रमाणों के आधार देकर आमने-सामने रखा और अपने समाज में वर्ण कहो या जाति कहो, उनमें भेद न होकर व्यवस्था है, ऐसा रागद्वेषरहित प्रतिपादन किया तथा परस्पर

द्वेष-भावनाओं को तिलांजलि देने का आग्रह किया।

सामाजिक बंधुभाव का तात्त्विक अधिष्ठान

भारतीय समाज के भिन्न-भिन्न घटक या संप्रदाय परस्पर द्वेष या झगड़ा न करें– इसलिए बहुत महत्त्वपूर्ण ऐसा समन्वय-विचार सामने रखा। यह अपने संपूर्ण देश के बंधुभाव को तथा राष्ट्रीय एकात्मता को श्रीगुलाबराव महाराज जी का दिया हुआ तात्त्विक अधिष्ठान है। इस समन्वय-विचार से बहुत दूरगामी परिणाम हो सकते हैं। इस्लाम, ईसाई, पारसी, बौद्ध इत्यादि उपासना पद्धतियों के प्रमुख तत्त्व ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन हिंदू संस्कृति में याने आर्य संस्कृति में थे, यह महाराज ने सिद्ध किया है। इस विचार की दिशा बहुत ही मूलगामी है।

इसके अनुसार प्रबोधन हुआ तो भिन्न-भिन्न दिखाई देनेवाले भारतीय समाज ही एकात्मता का अनुभव तो करेंगे ही, साथ ही विश्व के सर्व धर्मों के समाज परस्पर सामंजस्य से रह सकेंगे। महाराज का समन्वय-विचार प्रभावी है। इस महत्त्वपूर्ण विषय का विस्तार व सूक्ष्मता से अध्ययन होकर विश्व के सामने अच्छी तरह से प्रस्तुत होना चाहिए।

आर्य-संस्कृति का विश्व-संचार

वेदों के संदर्भों के अनुसार लोकमान्य तिलक जी ने प्रतिपादन किया कि आर्यों का मूल निवास आज के उत्तरीय ध्रुव पर था। कतिपय विद्वानों ने उत्तर ध्रुव उत्कल बिहार में होने का अनुमान किया। उसीका संदर्भ लेकर मैंने भी उत्कल-बिहार की संकल्पना की थी। किंतु श्रीगुलाबराव महाराज का आर्य संस्कृति का विश्लेषण तथा सिद्धांत इन दोनों से अधिक व्यापक है और वह सत्य के समीप है।

उत्तरीय ध्रुव पर जब आर्य थे, उस काल में सारे विश्व में आर्य संस्कृति थी, यह आर्यों की विश्व व्यापक संस्कृति नहीं है क्या? वैसे भी आर्य नाम का वंश है, इस कल्पना को पाश्चात्य संशोधकों ने भी गलत सिद्ध किया है। इन सब बातों से हम एक ही निर्णय पर पहुँचते हैं कि श्रीगुलाबराव महाराज के अनुसार विचार किया जाए तो आर्यों के उत्तर ध्रुवीय निवास का अनुमान पूरा गलत नहीं है, किंतु वह सत्य का एक अंश है ऐसा ही प्रमाणित होता है। इस विषय पर नया संशोधन बहुत हो चुका है, उन सबसे आवश्यक संदर्भ लेकर, महाराज के इस ऐतिह्य सिद्धांत की पुष्टि ही होगी।

इतिहास का अध्ययन कैसे करें, इसकी सही दिशा महाराज ने दर्शित की है। इसमें लिखने लायक तथा करने लायक बहुत कुछ है। अतिरेक न करते हुए सत्य की खोज व्यवस्थित रूप से सामने रखी जाए तो लोगों का विरोध सहज भाव से कम होता जाएगा। लोगों को ज्यादा न दुखाते हुए अपने उचित विचार लोगों के सामने रखने होंगे।

यह बात अति स्पष्ट है कि हमारे राष्ट्रीय अस्तित्व का आधार राजकीय सत्ता कभी नहीं रहा, अन्यथा हमारा भी भाग्य उन राष्ट्रों से अच्छा नहीं होता जो आज अजायबघर की दर्शनीय वस्तु मात्र रह गए हैं। राजकीय सत्ताधारी हमारे समाज के आदर्श कभी नहीं थे। वे हमारे राष्ट्रजीवन के आधार के रूप में कभी स्वीकृत नहीं हुए। संपत्ति एवं सत्ता के ऐहिक प्रलोभनों से ऊपर उठे हुए और सुखी, श्रेष्ठ गुणों से संपन्न एवं एकात्मता से युक्त समाज की स्थापना के लिए अपने को समग्रभावेन समर्पित करने वाले संत–महात्मा ही इसके पथ–प्रदर्शक रहे हैं। वे धर्मसत्ता का प्रतिनिधित्व करते थे। राजा तो उस उच्चतर नैतिक सत्ता का एक उत्कृष्ट अनुगामी मात्र था। अनेक बार विपरीत परिस्थितियों में एवं आक्रामक शक्तियों के कारण अनेक राज्य सत्ताओं ने धूल चाटी। किंतु धर्मसत्ता समाज को छिन्न–विच्छिन्न होने से सदैव बचाती रही।

– श्रीगुरुजी

श्री गुरुजी जीवन-पट

अपने कुलपुरुष धर्मसिंधुकार वेद-शास्त्रसंपन्न श्री बाबासाहब पाध्ये की धर्मनिष्ठा, माताश्री की पार्थिव पूजा की उपासना, श्री रामकृष्ण परमहंस की परंपरा के स्वामी अखंडानंद से दीक्षित संघ के द्वितीय सरसंघचालक श्री माधवराव सदाशिव गोलवलकर (गुरुजी) के हिंदू राष्ट्र रूपी विराट ईश्वर की आराधना में समर्पित निष्कलंक व सत्त्वसंपन्न जीवन का संक्षिप्त जीवन-पट

सन् १३६३	विजयनगर साम्राज्य से पाध्ये वंश का कोंकण (महाराष्ट्र) के गोळवली ग्राम में आगमन।
४.१०.१७२५	कान्होजी आंग्रे द्वारा वेदमूर्ति काशीनाथ पाध्ये को गोळवली ग्राम दान में प्राप्त हुआ।
१७६१	श्री गुरुजी के परदादा श्री सखारामपंत का नागपुर आगमन।
१८८५	श्री गुरुजी के पिताजी सदाशिवराव (भाऊजी) का सौ. लक्ष्मीबाई रायकर (ताई जी) से विवाह।
१९.२.१९०६	माघ वद्य विजया एकादशी, सोमवार, प्रातः ४.३४ पर नागपुर में मामा रायकर के घर श्री गुरुजी का जन्म।
१९१५	चौथी कक्षा की परीक्षा में नर्मदा विभाग में प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण कर छात्रवृत्ति प्राप्त की। इसी समय खंडवा में व्रतबंध संस्कार संपन्न हुआ। उसी दिन से नित्य संध्या व सूर्यनमस्कार की अखंड उपासना।
१९१७	वक्तृत्व स्पर्धा में प्रथम क्रमांक।
१९२२	चंद्रपुर जुबली हाईस्कूल से मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण।
१९२२	पं. सांवळाराम से बाँसुरी वादन सीखा।

१९२४	नागपुर के हिस्लाप महाविद्यालय से प्राणिशास्त्र विषय लेकर इंटर किया।
१९२४	स्नातक अध्ययन हेतु काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्रवेश।
१९२६	प्राणिशास्त्र में स्नातक उपाधि प्राप्त की।
१९२८	प्राणिशास्त्र में स्नातकोत्तर-उपाधि प्रथम श्रेणी में।
१९२९	चेन्नै के मत्स्यालय में संशोधन विद्यार्थी के नाते प्रवेश।
अगस्त १९३१	काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्राणिशास्त्र विषय के अध्यापन का कार्य शुरू किया।
१९३१	वाराणसी में भैयाजी दाणी के माध्यम से संघ प्रवेश, तदुपरांत संघचालक का दायित्व स्वीकार किया।
१९३१	नागपुर में रामकृष्ण आश्रम से संबंध।
१९३३	विधि (लॉ) की पढ़ाई प्रारंभ की।
१९३४	नागपुर केंद्र शाखा के कार्यवाह का दायित्व स्वीकार किया। कुछ समय के लिए मुंबई में प्रचारक रहे। अकोला संघ शिक्षा वर्ग के सर्वाधिकारी।
१९३५	विधि की उपाधि प्राप्त कर अभिभाषक का व्यवसाय शुरू किया।
१९३६	सारगाछी, बंगाल में रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी अखंडानंद की सेवा में।
१३.१.१९३७	दीक्षा ग्रहण।
२४.१.१९३७	स्वामी अखंडानंद जी ने शक्तिपात द्वारा अपनी दैवी शक्तियाँ व अमोघ आशीर्वाद दिया।
७.२.१९३७	स्वामी अखंडानंद जी का निर्वाण।
मार्च १९३७	सारगाछी आश्रम से लौटने के पश्चात् डाक्टर हेडगेवार जी के सान्निध्य में।
फरवरी १९३८	स्वामी विवेकानंद जी के शिकागो भाषण का अनुवाद।
मई १९३८	नागपुर में संघ शिक्षा वर्ग के सर्वाधिकारी।
१७.६.१९३८	पूजनीय डाक्टर जी के साथ कोल्हापुर में 'भगवा झेंडा' चित्रपट के उद्घाटन समारोह में गए।
१९३९	श्री बाबाराव सावरकर द्वारा लिखित १०९ पृष्ठीय पुस्तक 'राष्ट्र मीमांसा' का अनुवाद एक रात्रि में किया व उसकी प्रस्तावना भी लिखी।

२४.२.१९३९	सिंदी (महाराष्ट्र) में संपन्न दस दिवसीय चिंतन बैठक में सक्रिय सहभाग।
२२.३.१९३९	कोलकाता में प्रचारक के रूप में कार्य करने हेतु प्रस्थान।
१९३९	नागपुर संघ शिक्षा वर्ग के सर्वाधिकारी।
अगस्त १९३९	नागपुर के रक्षाबंधन उत्सव में डाक्टर जी ने सरकार्यवाह के पद पर नियुक्ति की।
२.६.१९४०	'शिवाजी महाराज के मिर्जा राजा जयसिंह को लिखे पत्र' विषय पर पूजनीय डाक्टर जी की उपस्थिति में बौद्धिक दिया।
२०.५.१९४०	श्री श्यामाप्रसाद मुखर्जी से भेंट।
२०.६.१९४०	नागपुर में नेताजी सुभाषचंद्र बोस से भेंट।
२०.६.१९४०	डाक्टर जी ने अपनी शल्यक्रिया के पूर्व श्री बाबासाहब घटाटे, श्री यादवराव जोशी, श्री कृष्णराव मोहरीर की उपस्थिति में श्री गुरुजी से संघ की धुरा सँभालने को कहा।
२१.६.१९४०	पूजनीय डाक्टर जी का स्वर्गारोहण।
३.७.१९४०	स्वर्गीय डाक्टर जी के अनन्य सहयोगी प्रान्त संघचालक श्री बाबासाहब पाध्ये ने श्री गुरुजी के सरसंघचालक होने की विधिवत घोषणा की।
२१.७.१९४०	पूजनीय डाक्टर जी के मासिक श्राद्ध दिन पर देश भर के कार्यकर्ताओं को मार्गदर्शन।
१९४१	सरसंघचालक के रूप में देशभ्रमण की शुरुआत।
१९४१	नागोबा गली में निवास के लिए आए।
१९४१	देश-बाँधवों की पीड़ा देखकर रात्रि के भोजन का त्याग।
१९४२	संघ-शाखा के जन्मस्थान मोहिते बाड़े को क्रय कर संघ के केंद्रीय कार्यालय 'डा.हेडगेवार भवन' का निर्माण।
अगस्त १९४७	विभाजन की छाया में जल रहे पंजाब का प्रवास।
जुलाई १९४७	गुरुद्वारा मस्तवाना साहब (पंजाब) में सम्मान।
अगस्त १९४७	कराची व हैदराबाद (सिंध) में विशाल सार्वजनिक सभा।
१२.९.१९४७	दिल्ली में महात्मा गाँधी व सरदार पटेल से भेंट।
१७.१०.१९४७	कश्मीर के भारत में विलय के विषय पर सरदार पटेल के आग्रह पर जम्मू-कश्मीर के महाराजा हरिसिंह से चर्चा करने श्रीनगर गए।

१६.१०.१६४७ कश्मीर विलय के बारे में प्रधानमंत्री श्री जवाहर लाल नेहरू से चर्चा।

३०.१.१६४८ महात्मा गाँधी की हत्या का समाचार सुन, अपना प्रवास स्थगित कर अगले दिन चेन्नै से विमान द्वारा नागपुर आए।

१.२.१६४८ महात्मा गाँधी की हत्या के आरोप में रात्रि १२ बजे नागपुर में गिरफ्तार।

४.२.१६४८ शासन द्वारा संघ पर प्रतिबंध।

५.२.१६४८ श्री गुरुजी द्वारा संघ को विसर्जित करने की घोषणा।

अगस्त १६४८ संघ पर लगे प्रतिबंध को हटाने के बारे में प्रधानमंत्री नेहरू व सरदार पटेल के साथ पत्र व्यवहार।

६.१०.१६४८ नागपुर जेल से रिहाई।

१७.१०.१६४८ प्रधानमंत्री व गृहमंत्री से चर्चा हेतु दिल्ली पहुँचे।

१७ तथा २३ सरदार पटेल से भेंट।

१३.११.१६४८ दिल्ली में गिरफ्तार कर विमान से नागपुर लाया गया और स्थानीय जेल में रखा गया। फिर मध्यप्रदेश की सिवनी जेल में स्थानांतरित किया गया।

६.१२.१६४८ चर्चाओं की विफलता के पश्चात् सत्याग्रह प्रारंभ करने की घोषणा की।

१२.१.१६४६ 'केसरी' के संपादक श्री ग.वि.केतकर, सरदार पटेल के निर्देश पर सिवनी जेल में मिलने आए।

१३.२.१६४६ श्री वेंकटराम शास्त्री व श्री खापर्डे से सिवनी जेल में संघ के संविधान के प्रारूप पर चर्चा की।

१०.३.१६४६ श्री वेंकटराम शास्त्री द्वारा संघ के संविधान को दिए अंतिम प्रारूप को स्वीकृति दी।

७.६.१६४६ सिवनी जेल से बैतूल जेल में स्थानांतरित किया गया।

१०.७.१६४६ प्रतिबंध हटाने के लिए कांग्रेसी नेता श्री मौलिचंद्र शर्मा के माध्यम से सरकार को पत्र भेजा।

१३.७.१६४६ प्रतिबंध हटने की घोषणा के पश्चात् बैतूल जेल से रिहाई व नागपुर आगमन।

१६.७.१६४६ देशव्यापी संपर्क परिक्रमा का प्रारंभ।

अगस्त १६४६ दिल्ली के रामलीला मैदान में श्री गुरुजी का भव्य स्वागत

व सार्वजनिक सभा।

२३.९.१९४९ प्रधानमंत्री श्री नेहरू से दिल्ली में भेंट।

१५.१२.१९५० सरदार पटेल के अंतिम दर्शन हेतु मुंबई प्रस्थान।

१४.१.१९५१ योगमूर्ति श्री जनार्दन स्वामी से प्रथम भेंट।

१९५१ नागपुर में श्री श्यामाप्रसाद मुखर्जी से चर्चा कर राजनीतिक दल 'भारतीय जनसंघ' की स्थापना का निश्चय।

२५.१२.१९५१ विश्रांति हेतु सिंहगढ़ किले पर लोकमान्य तिलक के आवास पर २५ दिन निवास।

९.५.१९५२ स्वातंत्र्यवीर सावरकर की क्रांतिकारी संस्था 'अभिनव भारत' के समापन समारोह में पुणे में, प्रमुख अतिथि के रूप में उपस्थित।

१५.१०.१९५२ गोहत्या बंदी के लिए सभी राजनीतिक दल व सामाजिक संगठनों के प्रमुखों को पत्र लिखे।

सितंबर १९५२ सार्वभौम साधु सम्मेलन में सहभाग।

७.१२.१९५२ गोहत्या बंदी के समर्थन में दिल्ली के रामलीला मैदान में विशाल सभा में भाषण।

८.१२.१९५२ दिल्ली के महापौर लाला हंसराज गुप्ता के साथ राष्ट्रपति डा. राजेंद्रप्रसाद से भेंट कर गोरक्षा आंदोलन की जानकारी दी।

९.३.१९५४ सिंदी (महाराष्ट्र) में अखिल भारतीय कायकर्ताओं के आठ दिवसीय चिंतन शिविर में सहभाग।

२३.५.१९५४ 'भाषावार प्रांत रचना विरोधी मंच' के अध्यक्ष के रूप में मुंबई की सार्वजनिक सभा में भाषण।

२१.७.१९५४ पिता श्री सदाशिवराव गोलवलकर का स्वर्गवास।

१९५६ श्री गुरुजी के ५१वें जन्म-दिवस पर देशभर में श्रद्धानिधि-संग्रह व अभिनंदन कार्यक्रम।

२१.११.१९५८ भारतीय सेना के प्रथम थलसेनाध्यक्ष जनरल करिअप्पा से उनके निवास पर भेंट।

५.३.१९६० इंदौर (मध्यप्रदेश) में संघ की सात दिवसीय अखिल भारतीय चिंतन बैठक में सहभाग।

२८.९.१९६० श्री अटलबिहारी वाजपेयी की पहली अमरीका यात्रा के समय उनके माध्यम से अमरीकावासियों के नाम संदेश भेजा।

५.४.१९६२ वर्ष प्रतिपदा के दिन रेशमबाग में पूजनीय डाक्टर जी की समाधि पर नवनिर्मित स्मृतिमंदिर के उद्‌घाटन समारोह में।

२०.७.१९६२ बर्मा की 'वर्ल्ड फेलोशिप ऑफ बुद्धिस्ट' के अध्यक्ष न्यायमूर्ति उ-थांट की श्री गुरुजी से भेंट।

१२.८.१९६२ माताजी 'ताईजी' का स्वर्गवास।

२६.१०.१९६२ अलवर व चित्तौड़ में स्वयंसेवकों को संबोधित करते हुए चीन द्वारा आक्रमण किए जाने की चेतावनी दी व सन्नद्ध रहने का आह्वान किया।

३.२.१९६३ स्वामी विवेकानंद जन्म-शताब्दी समारोह के अंतर्गत कोलकता में सार्वजनिक कार्यक्रम में भाषण।

१९६३ रामनवमी पर वनवासी कल्याण आश्रम, जशपुर में आयोजित धर्मजागरण सम्मेलन की अध्यक्षता की।

२३.३.१९६४ नियमित प्रवासक्रम में हजारीबाग, बिहार (संप्रति झारखंड) जाना हुआ। परंतु वहाँ जारी सांप्रदायिक दंगे के कारण राज्य-सरकार ने श्री गुरुजी के राज्य प्रवेश पर रोक लगा दी। इसलिए हजारीबाग पहुँचने पर गिरफ्तार किया।

२.४.१९६४ पवनार आश्रम में विनोबा भावे से प्रदीर्घ चर्चा।

१४.४.१९६४ स्वामी विवेकानंद जी द्वारा अल्मोड़ा में स्थापित अद्वैत आश्रम में जाना हुआ।

११.८.१९६४ केंद्रीय शिक्षा मंत्री श्री मोहम्मद करीम छागला से भेंट।

२८.८.१९६४ स्वामी चिन्मयानंद आश्रम, पवई 'मुंबई' में प्रमुख संत-महंतों की उपस्थिति में कृष्ण जन्माष्टमी के दिन विश्व हिंदू परिषद् की स्थापना के समय उपस्थित।

६.९.१९६४ सांगली में प्रांत संघचालक श्री काशीनाथ पंत लिमये के सम्मान समारोह में उपस्थित।

३०.१०.१९६४ दिल्ली में लालकिले में आयोजित सरदार पटेल जयंती समारोह में राष्ट्रपति डा.राधाकृष्णन, प्रसिद्ध समाजवादी नेता डा.राममनोहर लोहिया की उपस्थिति में भाषण।

२४.११.१९६४ त्रिनिदाद के संसद सदस्य श्री शंभुनाथ कपिलदेव ने बेलगाँव में श्री गुरुजी से भेंट कर विदेशस्थ हिंदुओं के लिए संस्कार व्यवस्था करने की प्रार्थना की।

६.९.१९६५ पाकिस्तान युद्ध के प्रसंग पर प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर

शास्त्री द्वारा बुलाई गई सर्वदलीय बैठक में सम्मिलित हुए।

१५.१०.१९६५ अंबाला छावनी में सैनिकों के सम्मुख 'भारत-पाक युद्ध' विषय पर भाषण।

१२.१.१९६६ स्वर्गीय प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री को श्रद्धांजलि अर्पित करने उनके निवास पर गए।

६.१०.१९६६ पारडी (गुजरात) में संस्कृत के विद्वान श्री श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी का अभीष्ट चिंतन किया।

जनवरी १९६६ कुंभ मेले के अवसर पर प्रयाग में विश्व हिंदू परिषद् के प्रथम जागतिक सम्मेलन में उपस्थित।

१.११.१९६६ मुंगेर (बिहार) में योग सम्मेलन का उद्घाटन तथा गोरक्षा अभियान के अंतर्गत जनसभा में भाषण।

२०.११.१९६६ पंढरपुर के संत पूज्य धुंडा महाराज देगलूरकर के सत्कार समारोह में संबोधन।

३०.१.१९६७ प्रसिद्ध क्रांतिकारी डा. खानखोजे के निधन पर आयोजित शोकसभा में भाषण।

६.४.१९६७ पूजनीय डाक्टर जी के अनन्य सहयोगी वर्धा के माननीय अप्पाजी जोशी के सत्कार समारोह में उपस्थित।

१४.४.१९६८ दिल्ली में पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के अभिनंदन समारोह में उपस्थित।

१७.५.१९६८ मुंबई में स्वर्गीय पं. दीनदयाल उपाध्याय की पुस्तक 'पालिटिकल डायरी' के विमोचन कार्यक्रम में भाषण।

१८.६.१९६८ श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी के साथ बद्रीनारायण धाम की यात्रा। ब्रह्मकपाल पर स्वयं का श्राद्ध किया।

१५.४.१९६९ नागपुर महानगरपालिका में जनसंघ के नवनिर्वाचित पार्षदों का मार्गदर्शन।

२.१०.१९६९ सांगली (महाराष्ट्र) में महात्मा गाँधी जन्म शताब्दी समारोह सभा में भाषण।

१९६९ उडुपी में आयोजित विश्व हिंदू परिषद् के सम्मेलन में भारत की सामाजिक व्यवस्था को दिशा देने वाले युगांतरकारी प्रस्ताव को सारे धर्माचार्यों की सहमति दिलवाई।

१९७० असम में विश्व हिंदू परिषद् का सम्मेलन। महारानी गाइडिन्ल्यू से भेंट।

१८.५.१९७० कर्करोग (कैन्सर) होने की जानकारी होने के बाद भी संघ शिक्षा वर्ग का प्रवास यथावत किया।

१.७.१९७० मुंबई के टाटा मेमोरिएल चिकित्सालय में डा. प्रफुल्ल देसाई द्वारा कर्करोग पर शल्यक्रिया।

४.८.१९७० शल्यक्रिया के पश्चात् नागपुर में संघचालक बाबासाहब घटाटे के निवासस्थान पर विश्राम हेतु आगमन।

१३.८.१९७० अस्वस्थता के बावजूद रक्षाबंधन उत्सव में स्वयंसेवकों को संबोधित किया।

४.१०.१९७१ कोल्हापुर में कुलदेवी अंबा देवी के दर्शन कर घर से प्राप्त अलंकार व स्वर्ण का समर्पण।

२.११.१९७१ कर्णावती में भगवान ऋषभदेव समारोह में उपस्थिति।

४.१२.१९७१ बाँग्लादेश मुक्ति संग्राम में सहयोग करने हेतु राष्ट्र को आह्वान।

दिसंबर १९७१ काशी में माघ वद्य (कृष्ण) एकादशी को रुद्रयाग की समाप्ति के अवसर पर उपस्थित होकर संत प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी व पं.राजेश्वर शास्त्री द्रविड़ से आशीर्वाद की प्राप्ति।

५.१.१९७२ श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी आश्रम में उनके द्वारा रचित श्रीमद्भागवत ग्रंथ का विमोचन।

२.२.१९७२ कन्याकुमारी में देवी के श्रीविग्रह के दर्शन किए व विवेकानंद शिलास्मारक को देखा।

११.३.१९७२ पांडिचेरी में योगीराज अरविंद घोष की समाधि के दर्शन व श्री माँ से भेंट।

२१.३.१९७२ स्वयं का जन्मदिवस चेन्नै स्थित रामकृष्ण आश्रम में ध्यान धारणा में व्यतीत किया।

२०.८.१९७२ दिल्ली में 'दीनदयाल शोध संस्थान' का उद्घाटन किया।

२८.१०.१९७२ ठाणे (महाराष्ट्र) में दस दिवसीय अखिल भारतीय चिंतन बैठक में प्रतिदिन मार्गदर्शन।

१९.१२.१९७२ क्रांतिवीर डाक्टर मुंजे जन्मशताब्दी समारोह के अंतर्गत नागपुर में उनकी प्रतिमा अनावरण समारोह में उपस्थित।

४.२.१९७३ बंगलौर में सार्वजनिक कार्यक्रम में संबोधन। (यह उनका अंतिम सार्वजनिक कार्यक्रम रहा)।

१२.३.१९७३ अखिल भारतीय प्रवास-क्रम को विराम।

१४.३.१९७३ मुंबई से नागपुर का अंतिम विमान प्रवास।

२५.३.१९७३ संघ की अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा को भविष्यदर्शक संबोधन, जो लौकिक जीवन का अंतिम संबोधन रहा।

२६.३.१९७३ मोहिते संघस्थान पर प्रार्थना। इसके बाद संघस्थान पर उपस्थित होकर प्रार्थना करना संभव न हुआ।

२.४.१९७३ कांची कामकोटि पीठ के शंकराचार्य पूज्य जयेंद्र सरस्वती संघ कार्यालय में श्री गुरुजी से भेंट करने आए।

१९.४.१९७३ रामटेक स्थित अपना पैतृक मकान 'उत्कर्ष मंडल' को दान दिया।

२.४.१९७३ अंतिम तीन पत्रों का लेखन।

मई १९७३ तृतीय वर्ष के प्रशिक्षार्थी स्वयंसेवकों से गटशः परिचय व चर्चा।

५.६.१९७३ सायंकाल ६ बजे प्रार्थना की।
रात्रि ९.०५ पर जीवन का अवसान।

६.६.१९७३ रेशम बाग में डाक्टरजी की समाधि के सामने पार्थिव शरीर अग्निदेव को समर्पित।

शब्द संकेत : खंड १

खंड ७ : पत्राचार

संतवृंद, विदेशस्थ बंधु, नेतागण, अन्य मतानुयायी, माता, भगिनि, प्रबुद्ध जन तथा सामाजिक संस्थाओं के कार्यकर्ताओं को लिखे पत्र।

खंड ८ : पत्र-संवाद

स्वयंसेवकों व कार्यकर्ताओं को लिखे पत्र।

खंड ९ : भेंटवार्ता

प्रश्नोत्तर, वार्तालाप, प्रमुख लोगों से वार्तालाप। पत्रकारों के सम्मुख भाषण। महत्त्वपूर्ण भेंट तथा अनौपचारिक चर्चाएँ।

खंड १० : संघर्ष के प्रवाह में

प्रतिबंध के समय सरकार से हुआ पत्राचार। उस समय दिये गए वक्तव्य। आभार प्रदर्शन। बाद के अभिनंदन समारोह। भारत–चीन व भारत–पाकिस्तान युद्ध के समय की जनसभाएँ, बैठकें, शिविर, पत्रकार वार्ता तथा वक्तव्य।

खंड ११ : चिंतन-सुधा

संपादित विचार नवनीत

खंड १२ : स्मरणांजलि

श्री गुरुजी के बारे में महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों, संसद व विधानसभा तथा समाचार–पत्रों द्वारा श्रद्धांजलि।

डा. हेडगेवार स्मारक समिति, नागपुर